वक्तव्य

प्रसिद्ध दस उपनिषदों में माण्डूक्य सबसे छोटा है। इसमें केवल बारह मन्त्र हैं; परन्तु अपनी अपूर्व निरूपण-शैली और प्रसादगुणयुक्त स्पष्टता के कारण यह दूसरी उपनिषदों की अपेक्षा एक विशेष प्रकार की विलक्षणता लिये हुए है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आने वाली अवस्थायें-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनमें रहनेवाले एक अखण्ड चैतन्य के द्वारा ही तत्त्वकी सम्पूर्ण मीमांसा कर दी गयी है। क्या आप जागते हैं, स्वप्न देखते हैं और सोते हैं? फिर आप कौन हैं? तीनों में से कोई एक हैं, तीनों हैं या तीनों से न्यारे हैं? इसका उत्तर आप मूल ग्रन्थ में पढ़िये।

अच्छा, जिस समय आप स्वप्न देखते हैं उस समय आप ब्राह्मण, क्षत्रिय या वृद्ध-बालक बनकर जिस शरीर से गंगा-स्नान करते हैं आप केवल वही हैं अथवा उस समूची स्वप्नावस्था के द्रष्टा जो मीलों लम्बा देश, वर्षों लम्बा काल और पृथ्वी, आकाशादि सम्पूर्ण भूतों को प्रकाशित कर रहा है। निश्चय ही आप सम्पूर्ण स्वप्नावस्था के द्रष्टा हैं। क्या जाग्रत् अवस्था में ऐसा सम्भव नहीं है कि आप केवल एक मनुष्य शरीर में रहने वाली अवस्थाओं में बँधे न हों और समूची जाग्रत् अवस्था के द्रष्टा हों? अवश्य, मूल ग्रन्थ के द्वारा आप इस पहेली को बूझ सकेंगे।

जैसे किसी वस्तुका वर्गीकरण करने के लिए उसे अ-इ-म आदि विभागों में बाँट दिया जाता है उसी प्रकार इस उपनिषद् में कल्पना करके विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय को अ, उ, म एवं अमात्र के रूप में विभक्त कर दिया गया है। असल में 'ओम' की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। यह अमात्र की अनुभूति के लिए एक प्रक्रिया विशेष है।

दूसरी उपनिषदों में भी माण्डूक्योपनिषद् के सम्बन्ध में कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए यह एक ही पर्याप्त है। श्रीशंकराचार्य के परमगुरु श्रीगौड़पादाचार्य की इस पर कारिकायें हैं, श्रीशंकराचार्य का भाष्य है और वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में स्थान-स्थान पर कारिकाओं को उद्धृत किया। आगम प्रकरण की कारिकायें तो श्रीरामानुजाचार्य एवं श्रीमध्वाचार्य द्वारा भी मान्य की गयी हैं और वस्तुतः वे उपनिषद् के अभिप्राय को हृदयङ्गम कराती हैं।

यह माण्डूक्य-प्रवचन आपके हाथों में समर्पित करते हुए मुझे बहुत-बहुत हर्ष हो रहा है। कई वर्ष पूर्व पूज्यपाद महाराजश्री ने बम्बई के प्रेमकुटीर में और अहमदाबाद के संन्यास-आश्रम में महीनों तक प्रवचन किया था। वह उसी समय टेपरिकार्ड कर लिया गया था। लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया। फिर शार्टहैंड से वह लिखा गया, टाइप हुआ। भाई श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने बहुत मनोयोग और परिश्रम से उसे छपने योग्य बनाया। अब यह जैसा बन पड़ा है, आपके सामने है। इतनी प्रक्रियाओं में गुजरते समय इस पर खर्च बहुत पड़ गया। यदि एक-एक प्रति की कीमत दस-दस रुपये रखी जाय तब कहीं लागत निकलती है; परन्तु सर्व साधारण को सुलभ करने के लिए इसे केवल पाँच-पाँच रुपये के न्यौछावर मात्र पर दिया जा रहा है। ऐसा सङ्कल्प किया गया है कि इन पुस्तकों के सम्बन्ध से जो रुपये आयेंगे वे दूसरी पुस्तकों के प्रकाशन में ही खर्च किये जायेंगे। उनका कोई दूसरा उपयोग नहीं किया जायगा।

इच्छा तो यह थी कि इस ग्रन्थ में महाराज श्री की लिखी हुई एक विस्तृत भूमिका भी हो जिसमें ग्रन्थ की बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग परीक्षा और प्रक्रिया सम्बन्धी रहस्य प्रकट किये जायँ; परन्तु इस बार यह इच्छा पूर्ण न हो सकी। आगे महाराजश्री के अनुग्रह पर है। यह ग्रन्थ इस वर्ष महाराजश्री के सन्यास ग्रहण की बीसवीं तिथि माघ शुद्ध एकादशी संवत् २०१७ पर आपके करकमलों में समर्पित करते हुए हम बहुत-बहुत हर्ष का अनुभव करते हैं।

ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'

अनुक्रमणिका

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

"जो दक्षिणमूर्ति शङ्करस्वरूप श्रीगुरुदेव इस सम्पूर्ण विश्वको दर्पणमें दृश्यमान नगरीके समान अपने अन्तर्गत एवं स्वप्नदृष्टिकी भाँति मायासे बाहर उत्पन्न-सा देखते हुए, ज्ञानदृष्टिसे अपने आत्माको ही अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म अनुभव करते रहते हैं उनको हमारा यह बार-बार नमस्कार है ।"

माण्डूक्योपनिषद्

गौड़पादीयकारिका, आगमप्रकरण एवं शाङ्करभाष्य

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

देवताओ! हम अपने हजार-हजार कानों से कल्याणकारी शब्द श्रवण करें। लोक-परलोकहितकारी, सर्वोपकारी यज्ञकर्म में समर्थ रहकर हजार-हजार आँखों से शुभ-ही-शुभ देखें। अपने स्थिर एवं दृढ़ अवयवों से तथा दीर्घजीवी शरीरों से स्तुति करते हुए जीवन पर्यन्त देवताओं का हित-ज्ञानीपुरुषों की सेवा करते रहें।

बाहर शान्ति! भीतर शान्ति!! सर्वत्र शान्ति!!!

महायशस्वी और विद्वान इन्द्र हमें विविक्त शुभकर्म करने की प्रेरणा देकर कल्याणभाजन बनायें। ज्ञानरश्मियों को बिखेरनेवाले सम्पन्न सूर्यदेवता हमारी आँखों को विविक्त शुभदर्शन में लगाये रखें। अप्रतिहत शक्तिसम्पन्न एवं विपत्तियों के लिये चक्रवर्जदा नाशक शब्दरूप गरुड़ हमारे कानों को शुभ श्रवण में प्रेरित करें और बृहतीपति वेदज्ञ वाक्पति बृहस्पति हमें कल्याणकारी वेदान्त प्रवचन से कल्याणकारी रीति से नियुक्त करें।

बाहर शान्ति! भीतर शान्ति!! सर्वत्र शान्ति!!!

अब भाष्यकार के मंगलाचरण का पाठ कीजिये—

ॐ

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपिधिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥

जो सर्वाधिष्ठान, सर्वोपादान तत्त्वतः निर्विकार अद्वितीय किन्तु विवर्त्तमान रूप से सर्व है उसको कहते हैं 'ब्रह्म'। इस ब्रह्म का स्वरूप है प्रज्ञान। प्रज्ञान का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान। ज्ञान में प्रकृष्टता क्या ?

एक ज्ञान वह होता है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद होता है। जैसे हम इस माला को देखते हैं। माला ज्ञेय है। त्वचा अथवा नेत्र इसके ज्ञान के करण-साधन हैं और आँखवाला मैं इसका ज्ञाता-जानने वाला हूँ। इस ज्ञान में ज्ञेयरूप माला और ज्ञातारूप अहम् ये दोनों भेद बने रहेंगे। जब-जब माला का ज्ञान होगा, तब-तब माला होगी ज्ञेय और इसका ज्ञाता मैं बना रहूँगा। यह जो ज्ञान होगा, वह द्वैत से युक्त होगा। इस ज्ञान में ज्ञेयरूप माला और ज्ञातारूप अहम् पृथक्-पृथक् बने रहेंगे। इस प्रकार यहाँ ज्ञान खण्डित, टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसका एक भाग ज्ञेय और दूसरा भाग ज्ञाता बन गया। इसी प्रकार माला के स्थान पर सन्तरा हो तो ? तब ज्ञेय सन्तरा हो जायेगा। यहाँ ज्ञेय में माला, सन्तरा मौसम्बी आदि भेद होते चले जाएंगे। यह है भेद-ज्ञान। यह ज्ञान का उत्तम रूप नहीं हुआ।

ज्ञान का श्रेष्ठ रूप वहाँ है, जहां ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित केवल ज्ञान ही ज्ञान है। जहां अलग से कोई जड़ ज्ञेय नहीं, जहां उस ज्ञेय को जानने वाला (ज्ञाता) अहम् अलग नहीं, जहां केवल ज्ञान-शुद्ध ज्ञान है, चेतन ही चेतन है, उसको कहते हैं प्रज्ञान या श्रेष्ठ ज्ञान।

इस प्रज्ञान में अंशु क्या है ? वास्तव में उसमें अंशु नहीं हो सकता। अंशु का अर्थ है किरण। जैसे सूर्य की किरणें होती हैं और सूर्य अपनी किरणों का विस्तार करता है, इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप जो प्रज्ञान है, इसमें सूर्य के समान कोई किरणें नहीं। सूर्य एक स्थान में रहता है और दूसरे स्थानों में अपनी किरणें फैलाता है। सूर्य कभी एक दिशा में और कभी दूसरी दिशा में, कभी ऊपर, कभी नीचे प्रतीत होता है। कभी दीखता है कभी नहीं भी दीखता। सूर्य का विरोधी अन्धकार

भी है ही । ऐसी अवस्था में सूर्य या चन्द्रमा की किरणों के समान प्रज्ञान की किरणें नहीं हो सकतीं । तब यहां अंशु का अर्थ है चिदाभास ।

चिदाभास का अभिप्राय है मन की स्फुरणाएँ-मनरूपी किरणें। संज्ञान, विज्ञान, आज्ञान आदि जितने हैं, सब प्रज्ञान के ही नामधेय हैं । भिन्न-भिन्न शब्दों से जो भिन्न-भिन्न चेतना ज्ञात हो रही है, इस चेतना के भीतर वही जो प्रज्ञान की किरणों के समान किरणें हैं, उनका वितान तना हुआ है । जितने भी स्थिर और चर पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं, इन सब में यही व्याप्त है ।

व्यापकता को भी समझना चाहिये। एक व्यापकता होती है लोहे के गोले में अग्नि के समान। लोहे के गोले को अग्नि में डाल दें और वह लाल हो जाय। अब कहेंगे कि लोहे के गोले में अग्नि व्याप्त हो गयी । इसमें अग्नि अन्य और लोहे का गोला अन्य है । यहां अन्य में अन्य व्यापक हुआ । साधारण जन जब व्यापकता को समझता है, तब यह जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, संसार की वस्तुओं में व्याप्त है, का ऐसा अर्थ समझता है कि जैसे संसार लोहे का गोला और परमात्मा अग्नि के समान है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एक व्यापकता यह है। इसे मूर्तसंयोगित्वरूप व्यापकता कहते हैं । अर्थात् स्थूल वस्तु में कोई सूक्ष्म वस्तु व्याप्त हो रही है । लेकिन इस अर्थ में वेदान्त में व्यापक शब्द प्रयोग नहीं होता । वेदान्त में व्यापक शब्द का उपयोग इस अर्थ में होता है, जैसे कार्य में उपादान व्यापक होता है । कार्य है घड़ा और मिट्टी है उपादान । घड़े में मिट्टी व्याप्त है अर्थात् घड़ा मिट्टीरूप ही है । मिट्टी में केवल कुछ आकार बन गए हैं घड़ा, सकोरा आदि । व्याप्य और व्यापक अलग-अलग वस्तु नहीं हैं । यहाँ कारण ही जब कार्य में अनुस्यूत है, तब उसे व्यापक कहते हैं ।

लेकिन यह व्यापकता भी शांकरवेदान्त में मुख्यरूप से स्वीकार नहीं की जाती । शांकरवेदान्त जो व्यापकता मानता है, वह दूसरी ही है । कैसी है यह व्यापकता ? जैसे प्रतीयमान सर्प में रज्जु व्याप्त होती है । इसको प्रारम्भ से लो । मिट्टी का दृष्टान्त देते हैं तो कहते हैं-जैसे घड़े में मृत्तिका व्याप्त है । जल का दृष्टान्त देते हैं तब कहते हैं-जैसे तरंगों में जल व्यापक है। अग्नि के दृष्टान्त में कहते हैं-जैसे ज्वाला अथवा चिनगारी में अग्नि व्याप्त है। वायु के दृष्टान्त में कहते हैं-जैसे प्राणवायु में वायु व्याप्त है। आकाश के दृष्टान्त में कहते हैं-जैसे घटाकाश में महाकाश व्याप्त है। यह पंचमहाभूतों की बात हुई । इसके आगे चलो तो स्वप्न के दृश्य में मन व्याप्त है, यह मन की व्यापकता हुई जाग्रत् और स्वप्न में जितने भी नाम-रूप दिखायी पड़ते हैं, वह सब के सब बीज रूप से सुषुप्ति में होते हैं। अतः सुषुप्ति हुई बीजात्मिका, संस्कारात्मिका। सुषुप्ति है स्थिति अतः अपने

में संस्कार रूप से स्थित जाग्रत् एवं स्वप्न के सम्पूर्ण पदार्थों में वह व्याप्त है। यह स्थिति का दृष्टान्त हुआ। इसके आगे भ्रान्ति का दृष्टान्त है। जैसे रज्जु में सर्प प्रतीत होता है। जैसे आकाश में नीलिमा प्रतीत होती है। यह प्रतीयमान सर्प अथवा प्रतीयमान नीलिमा में उस भ्रम का जो अधिष्ठान है रज्जु अथवा आकाश, वह जैसे व्याप्त है, इसी प्रकार चराचर सृष्टि जो दिखलायी पड़ रही है, इस सम्पूर्ण सृष्टि में एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। तेजोबिन्दूपनिषद् में इसीलिए व्याप्य-व्यापकता के भाव को मिथ्या बताया गया है–'व्याप्य-व्यापकता मिथ्या' यह उस उपनिषद् की श्रुति है।

एक भिन्न वस्तु में कोई दूसरी भिन्न वस्तु व्याप्त हो रही है, ब्रह्म और विश्व की ऐसी व्यापकता नहीं है। ब्रह्म ही विश्व रूप में प्रतीत हो रहा है। यही कार्य–कारण भी बन रहा है। यही प्रतीयमान कार्य में प्रतीयमान कारण के रूप में व्यापक-ज्ञात हो रहा है। वास्तव में ब्रह्म में व्याप्य–व्यापकता नहीं है।

अब उसे समझाने के लिये कहते हैं–' स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य ' जाग्रत्–लोक, स्वप्नरूपलोक, सुषुप्तिरूपलोक ये सब अज्ञान में ही हैं। आत्मा के तीन निवास हैं और ये ही लोक हैं। उस परब्रह्म परमात्मा को आत्मा से अभिन्न रूपमें, प्रत्यक् चैतन्य के रूप में ही उसका स्मरण करते हैं। ऐसा न हो तो उसकी अपरोक्षता कभी नहीं होगी।

हमारे ज्ञान की प्रणाली यही है कि उस वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान होता है, जिसके साथ हम अभिन्न हो जाते हैं। जिससे हम एक नहीं होंगे, उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता। यहां तक कि जब हम घड़े को जानते हैं, तब घड़े से एक हो जाते हैं। अर्थात् प्रमातावच्छिन्न चैतन्य जब प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य से एक होता है प्रमाणवृत्तिरूप नलिका के द्वारा तब प्रमेय का ज्ञान होता है। जैसे एक स्थान से पानी नाली द्वारा खेत में गया और खेत की क्यारी में व्याप्त हो गया, इसी प्रकार हमारा चैतन्य वृत्त्यारूढ होकर, प्रमाणारूढ होकर, प्रमेय देश में जाकर प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य से जब एक हो जाता है तब ज्ञान होता है। प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य से एक हुए बिना प्रमेय का बोध नहीं हो सकता।

जिस किसी से हम एक नहीं हो जायगे, उसको समझ नहीं सकते। वह कोई न कोई अपनी बात छिपाकर रखेगा। इसी प्रकार हम जब तक ब्रह्म से एक नहीं हो जायगे, तब तक ब्रह्म का ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान नहीं होगा तो बन्ध की भ्रान्ति निवृत्त नहीं होगी। अविद्या की निवृत्ति नहीं होगी तो मोक्ष दूर है, यह सिद्ध है। अतः यदि परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना है तो अपने व्यक्तित्व को छोड़कर परमात्मा से एक होना पड़ेगा। यही प्रणाली है।

अब एकत्व का निरूपण करने के लिये तुरीय वस्तु के रूप में ही परमात्मा का निरूपण करते हैं। वेदान्त की यह प्रणाली है कि हमको जहां पहुँचना है, वहां से वर्णन

प्रारम्भ नहीं करते। हम जहाँ रह रहे हैं, वहा से वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जैसे हमें अहमदाबाद से बम्बई जाना है। बम्बई से वर्णन प्रारम्भ करें तो वह कल्पना ही कल्पना होगा, क्योंकि अभी बम्बई देखा नहीं है। अहमदाबाद से एक-एक पद बढ़ाते चलें तो हम मार्ग का अपरोक्ष भी कर लेंगे और ठीक बम्बई पहुंच भी जायगे। अत हम इस समय जहा बैठे हैं, वहा से वेदान्त का विचार प्रारम्भ करें।

हम जाग्रत् अवस्था में हैं। इस जाग्रत् अवस्था में ब्रह्म क्या कर रहा है? क्या स्वरूप है ब्रह्म का जाग्रत् अवस्था में?

'भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान्'

लेकिन इस व्याख्याको आगे बढ़ानेसे पूर्व थोड़ासा परिचय माण्डूक्योपनिषद् का दे दें। यह अथर्ववेद का उपनिषद् है और अत्यन्त पर्टिकुलेयर है। इसमें केवल बारह मन्त्रों में ओंकार का अभिधानप्रधान तथा अभिधेयप्रधान-दो प्रकारका निर्देश किया है। एक तो प्रणव को प्रतीक-आलम्बन-उपास्य बनाकर। जैसे विचार के लिये अ, ब, स, कल्पना में बना लेते हैं, इसी प्रकार अकार, उकार, मकार तथा अमात्र ये चार भेद ओंकार के करके परमात्मा के स्वरूप का इसमें वर्णन है। ओंकार में यह अकार, उकार आदि तथा परमात्मा में विश्व, तैजस आदि भेद करके इस उपनिषद् ने वर्णन किया है।

इस उपनिषद् का नाम माण्डूक्योपनिषद् है। इसका यह तात्पर्य है कि इस उपनिषद् के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं माण्डूक्य। यह मण्डूक ऋषि के वंश या गोत्र में हुए हैं, इस से माण्डूक्य कहे जाते हैं। मण्डूक कहते हैं मेंढक को। मेंढक चलता नहीं, उछलता-कूदता है और उछलकर अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार मनुष्य शरीर में बैठा जीवात्मा उछलकर एकबार में परमात्मा के पास पहुँच जाय-इसे कहते हैं मण्डूकप्लुति-न्याय। चींटी की भाँति एक-एक पद रखकर चलने की आवश्यकता इसमें नहीं है। मेंढक के उछलने में एक विशेषता होती है। वह पहले अपने पिछले भाग से उठता है, फिर थोड़ा ऊपर उठकर अपने लक्ष्य पर जा गिरता है। अब देखिये कि हम परमात्मा की प्राप्ति के लिये किधर जाना है? आगे नहीं जाना है। आगे तो बस्ती है-संसार है-उसे छोड़ कर पीछे जाना है। हृदय को छोड़ कर नेत्र में आजाओ। नेत्र को छोड़ कर कंठ में आओ। कंठ को छोड़ कर हृदय में आओ और हृदय को छोड़कर अपनी पूर्णता में प्रतिष्ठित हो जाओ। आंख जाग्रत् अवस्था कण्ठ स्वप्नावस्था, हृदय सुषुप्तावस्था का प्रतीक है और उसे छोड़ कर पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में स्थित हो जाय, यह उछलने की रीति है।

यह रीति सामने बढ़ने की प्रवृत्ति की नहीं है। यह निवृत्त होने की रीति है। इसी से इसे मण्डूकन्याय कहते हैं। इसमें बहुत देर लगती होगी, यह नहीं समझना। वर्णन ऐसा है कि घोड़े के रिकाब में पाव रखा और घोड़े पर चढ़े, इतनी देर अथवा फूल की पखुड़ी

को हाथ में लेकर मसल दिया, इतनी देर भी नहीं। आँख की पलक को गिराना और उठाना भी कुछ श्रम से होता है, किन्तु परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करना उतना कठिन भी नहीं है। कठिनाई वहां होती है– जहां दूसरे को पाना है। जहां अपने को ही पाना है। यहां खोये हुए को तो पाना नहीं, मिले हुए को ही पाना है। हम मिले हुए ही को खोया हुआ मानते रहे हैं। यह केवल भ्रम से–अविद्या से मान रहे हैं। अतः आओ हम इस परमात्मा को ढूंढें।

इस ढूंढने की माण्डूक्योपनिषद् की जो शैली है, उसपर भी ध्यान दें। यह माण्डू-क्योपनिषद् शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि सभी सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत है। सब को मान्य है। यहां तक कि इसके आगम–प्रकरण की कारिकाओं को भी सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। ये कारिकायें माण्डूक्योपनिषद् पर श्री गौड़पादाचार्य जी की हैं। कारि-काओं में 'इति वेदान्त निश्चयः' ऐसा बार–बार आया है। इसके अतिरिक्त अनेक कारिकाओं में भिन्न-भिन्न श्रुतियों के प्रतीक ग्रहण करके उनकी विशद व्याख्या की गयी है। उदाहरणार्थ :– "सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते" इत्यादि। इससे सिद्ध है कि यह वेदान्त का ही ग्रन्थ है। हमारे बौद्ध भाई जो यह कहते हैं कि यह ग्रन्थ हमारे सम्प्रदाय के अनुसार है, वह बात सर्वथा ही असंगत है।

हम जाग्रत् अवस्था में हैं। यहां से विचार प्रारंभ करो। जाग्रत् अवस्था के सम्बन्ध में लोग ठीक–ठीक विचार नहीं करते। एक शरीर में जो जागना, स्वप्न देखना और सुषुप्ति होती है, यह तो जीवाभास की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति हैं। जाग्रत् अवस्था का विवेक भी हम स्वप्न में देखते हैं। स्वप्न में विशाल पृथ्वी, उमड़ते समुद्र, सूर्य–चन्द्र–वायु–आकाश सभी कुछ होता है। जो न्यायशास्त्र का विद्वान् है, उसे स्वप्न में उस स्वप्नजगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है और वह यह भी समझता है कि यह जगत् ईश्वर ने परमा-णुओं से बनाया है। सांख्यशास्त्र के विद्वान् को स्वप्न में स्वप्न का संसार प्रकृति पुरुष का विलास दीखता है और पूर्वमीमांसा का जिसने अध्ययन किया है उसे स्वप्न में भी सब कर्म का विस्तार जान पड़ता है। लेकिन भाई! यह स्वप्न पूरे का पूरा हमारे ही चित्त की एक अवस्था है।

स्वप्न में हम गंगा–स्नान करने जा रहे हैं। कोई सेठ जी हमें मार्ग में मिलते हैं। उनकी सब सुख–सम्पत्ति हमें उनके पूर्व जन्म के कर्मों का फल प्रतीत होती है। वह कहते हैं कि आगे परलोक बनाने के लिए दान–पुण्य करते हैं। यहां हमारा गंगास्नान, सेठ जी का मिलना, उनके पूर्व जन्म के कर्म की भावना, इस जन्म का दान-पुण्य और परलोक की चिन्ता यह सब स्वप्नावस्था का विलास है या नहीं! स्वप्न में हमने जो अपने को गंगा स्नान के लिए जाते देखा, वह हमारा अपना भी शरीर स्वप्न का

विलास है या नहीं ? उस शरीर में भी खाना होता है, सोना होता है, चलना-फिरना होता है, धर्म-अधर्म होता है, यह सब उस समय सत्य प्रतीत होता है या नहीं ?

इसी प्रकार जो जाग्रत् अवस्था दिखाई पड़ती है, उसके विषय में विचार करो। हमारा यह जो शरीर यहां बैठा है और सुन रहा है, यह जाग्रत् अवस्था का विलास है। यह पूरी पृथ्वी, समुद्र, नदियाँ, यह बड़े-बड़े नगर, सूर्य-चन्द्र, अग्नि-वायु-आकाश और इसमें यह हमारा न्यायशास्त्र, सांख्य, मीमांसा आदि शास्त्र एवं पूर्वजन्म, उत्तरजन्मादि—सब का सब पूरा संसार ही जाग्रत् अवस्था का विलास है।

अब आप इस माण्डूक्योपनिषद् में वर्णित जो जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था है, उसके साथ इसका मिलान कीजिये। माण्डूक्योपनिषद् एकजीववाद का ग्रन्थ है। 'विचार-सागर' और 'पञ्चदशी' में जो अनेकजीववाद की, सृष्टि-दृष्टिवाद की प्रक्रिया है, वह इसमें नहीं है। इसमें दृष्टि-सृष्टिवाद की प्रक्रिया है। अतः इस बात को समझना पड़ेगा कि यहां द्रष्टा एक है, इसलिये सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्था इस द्रष्टा की एक अवस्था-दृष्टिमात्र है। सम्पूर्ण स्वप्नावस्था भी इसकी दृष्टिमात्र है। सम्पूर्ण सुषुप्तावस्था भी इसकी दृष्टिमात्र है। अब आप जाग्रत् को पार करके स्वप्नावस्था में और उसको पार करके सुषुप्तावस्था में आ जाइये। सुषुप्तावस्था को भी छोड़िये और अपने तुरीय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाइये। इस प्रकार यह माण्डूक्योपनिषद् आप को तत्काल परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कराने एवं तद्विषयक अविद्या को नष्ट कराने के लिए प्रकट हुआ है।

> 'भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्।
> पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
> मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म.................।'

हम इस स्थूल शरीर में रहकर स्थूल भोगों को भोगते हैं। भोगों को भोगने के करण इन्द्रिय हैं। इनमें यह बहिरिन्द्रिय और यह अन्तरिन्द्रिय-यह सब केवल मानना है; क्योंकि जब तुम अपने शरीर को मानोगे तब केवल चमड़े को सीमा बनाकर ही कह सकोगे कि यह बाहरी इन्द्रिय और यह भीतरी इन्द्रिय। लेकिन यदि तुम सम्पूर्ण आकाश को ही अपना शरीर मानो तो इस शरीर का न बाहर है, न भीतर है। इसमें बाहर-भीतर माननामात्र है। इस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषद् का सार भाष्यकारने दो श्लोकों में दे दिया है।

अब इसी प्रसग में आप विवेक करते जाइये। यह हाथ है। इस हाथ में पाँचों कोष हैं। कैसे ? यह हड्डी, मांस, चमड़ा इसका अन्नमय कोष है। लकवा हो जाने पर हाथ उठाये नहीं उठता। उस अवस्था में जो हाथ नहीं उठता वह अन्नमय कोष है। जो हाथ उठाने की शक्ति उस समय हाथ से चली गई, वह शक्ति हाथ का प्राणमय कोष

है। क्रिया शक्ति का नाम प्राणमय कोष है। लेकिन हाथ उठाने की शक्ति भी अपने आप कार्य नहीं करती। जब हाथ उठाने की इच्छा होती है तब हाथ उठता है। इस इच्छा का नाम मनोमय कोष है। तुम हाथ हो, हाथ उठाने की शक्ति हो या इच्छा हो? इच्छा तो सैकड़ों होती हैं। कभी हाथ उठाने की इच्छा कभी गिराने की इच्छा, कभी हाथ हिलाने या समेटने की इच्छा। तुम सैकड़ों तो हो नहीं सकते, तब तुम इच्छा भी नहीं हो। अब जो हाथ उठानेवाला-हाथ उठाने की इच्छा का कर्ता है, उसका नाम विज्ञानमय कोष है। अब देखो कि यह कर्त्ता सुषुप्ति में कहां चला जाता है। उस समय तो 'अहं' भाव भी नहीं रहता। इच्छा, हाथ उठाने-गिराने, समेटने-हिलाने में जो सुख मिलता है, वह तुम हो? वह सुख आनन्दमय कोष है। लेकिन यह सुख भी सदा नहीं रहता। हाथ उठाने-गिराने आदि में सदा सुख नहीं मिलता। इस प्रकार इस शरीर में हड्डी-मांस, चर्म आदि के रूप में जो अन्नमय कोष है, वह तुम नहीं हो। शरीर में क्रिया करने की जो शक्ति है वह तुम प्राणमय कोष नहीं हो। क्रिया करने की जो इच्छा होती है, मनोमय कोष तुम नहीं हो। जिसमें इच्छा होती है, वह इच्छाओं का कर्ता विज्ञानमय कोष तुम नहीं हो और शरीर की क्रिया में जो सुख मिलता है वह सुख-आनन्दमय कोष भी तुम नहीं हो, तब तो तुम केवल उपलब्धिमात्र हो। इतनी बात कही जा सकती है कि जिसको सब मालूम पड़ता है वह तुम हो। यह जो वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं, वह तुम नहीं हो।

अब देखो कि यह सब बातें जाग्रत् अवस्था की हैं, अतः जाग्रत् अवस्था कितनी बड़ी है! जाग्रत् अवस्था में पाँचों कोष काम करते हैं। स्वप्नावस्था में अन्नमय कोष क्रियाशील नहीं रहता। अतः उस समय अन्नमय कोष के जो इन्द्रियगोलक हैं, यह नेत्र की पुतली, कान की झिल्ली, त्वचा आदि काम नहीं करते। उस समय प्राणमय कोष अपना काम करता रहता है। क्योंकि यदि प्राणमय कोष काम न करे तो अन्न का पाचन नहीं होगा। बाल नहीं बढ़ेंगे। रक्तसंचार नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वप्नावस्था में प्राणमय और मनोमय कोष भी काम करते रहते हैं। विज्ञानमय कोष भी क्रियाशील रहता है एवं आनन्दमय कोष भी। केवल अन्नमय कोष काम नहीं करता।

सुषुप्ति अवस्था में मनोमय कोष भी सो जाता है। लेकिन प्राणमय कोष अपने स्थान पर काम करता रहता है और आनन्दमय कोष अपने स्थान पर बैठा रहता है। क्योंकि 'मैं सुख से सोया था' यह स्मृति है। इस स्मृति से सिद्ध होता है कि कोई न कोई विश्राम वहां रहता है और अविद्यावृत्ति से उसका ग्रहण भी होता है। इसे आगे चलकर 'आनन्दभुक्' कह कर समझायेंगे।

अब दूसरे क्रम से इसे घटित करलो। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर यह तीन शरीर हैं। जाग्रत् अवस्था में इनमें से तीनों शरीर क्रियाशील रहते हैं। स्वप्ना

वस्था में केवल सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर काम करते हैं। सुषुप्ति में केवल कारण शरीर रहता है, क्योंकि यहां बीजरूप से सब कुछ रहता है ? जागने पर सबकी स्मृति होती है।

इस प्रकार हमें अपने आत्मदेह का विवेक करने के लिए कहीं दूर नहीं जाना है। जो लोग सोचते हैं कि हम पता लगायेंगे कि सृष्टि का प्रारम्भ कैसे हुआ, वे कैसे पता लगायेंगे ? तुम्हारी बुद्धि अनादिभूत के साथ कैसे संयोग करेगी ? अनादिभूत का अर्थ यह है कि उसका कभी प्रारम्भ नहीं। उससे पूर्व, उससे पूर्व, की परम्परा अखण्ड रहती है। अतः इस अनादिभूत के साथ बुद्धि का संयोग नहीं हो सकता। जो भी कहेगा कि सृष्टि ऐसे हुई—प्रकृति से, परमाणु से, कर्म से गणेश से, सूर्य से, देवी से, विष्णु से—किसी भी प्रकार से कहेगा, वह आंख बन्द करके कल्पना करेगा। अपनी मान्यता को प्रकट करेगा, क्योंकि अनादि भूत के साथ बुद्धि का संयोग कभी सम्भव नहीं।

अच्छा, यह कहो कि प्रलय होकर सृष्टि किस में लीन होगी ? प्रकृति में ? तो प्रकृति में सृष्टि को लीन होते तुम देखोगे ? कभी लीन होते देखकर आये हो ? जहां बुद्धि नहीं रहती, लीन हो जाती है, उस अवस्था का कोई वर्णन आज बुद्धि के द्वारा करे तो वह कल्पना ही होगी। जिस बात को ब्रह्मा की बुद्धि ने हिरण्यगर्भ की बुद्धि ने नहीं देखा, क्योंकि बुद्धि कार्य है जो प्रलयावस्था में रहती नहीं, तब उसका वर्णन कोई कैसे करेगा ? जो कोई उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन करेगा, वह कल्पना के अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं कर सकता।

जिसको कोई देख नहीं सकता, वह अज्ञात ही रहेगा। यही हम कहते हैं कि सृष्टि अज्ञान में से निकली है और अज्ञान में ही उसका लय होगा। जितनी भी प्रक्रिया है वह सबकी सब कल्पित है। लेकिन इसके अपरोक्ष साक्षात्कार करने की एक प्रणाली है। तुम भूत और भविष्य का विचार करके सृष्टि की प्रक्रिया को नहीं समझ सकते, किन्तु वर्तमान में यह सृष्टि कैसे भास रही है, इससे इसका साक्षात्कार हो सकता है।

अब इस प्रकार विचार करें। बाहर के पदार्थ नेत्र से दीख पड़ते हैं। नेत्र मन के द्वारा ज्ञात होता है। मन बुद्धि से जाना जाता है। बुद्धि का साक्षी मैं हूँ। इस प्रकार सृष्टि का विश्लेषण करो। सृष्टि का वर्तमान यदि तुम्हें ज्ञात हो जायगा तो तुम उसका भूत-भविष्य भी जान जाओगे। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—जिसका हमें प्रतिदिन अनुभव होता है उसका विचार करो तो तुम्हें सृष्टि का समूचा रहस्य ज्ञात हो जायगा।

‘धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्’

यह परमात्मा अपनी बुद्धि से प्रकाशित कामजन्य विषयों को स्वप्न में देखता है। यह स्वप्नावस्था का वर्णन है। ‘भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान्’ यहाँ तक जाग्रत् अवस्था का वर्णन

है। 'पुनरपि' में 'पुनः' शब्द का अर्थ है—जाग्रत् के हेतुभूत जो धर्माधर्म के संस्कार हैं, वे जब लुप्त हो जाते हैं । 'अपि' शब्द का अर्थ है—स्वप्न के विषयों को दिखानेवाले जो धर्माधर्म के संस्कार हैं, वे जब जाग्रत् हो जाते हैं तब।

'धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्'

यहाँ 'काम' शब्द में अविद्या और कर्म दोनों को ग्रहण कर लेना चाहिये । हम को संसार में जो पदार्थ मालूम पड़ते हैं, ये पदार्थ जो अपने से पृथक् ज्ञात होते हैं—देखनेवाले से दीखनेवाले पदार्थ पृथक् सत्य प्रतीत होते हैं, यह अपने स्वरूप के अज्ञान से ज्ञात होता है। भेद जितना है, वह अपने स्वरूप के अज्ञान से है। उस भेद में यह हेय—यह उपादेय, यह छोड़ो—यह पकड़ो ऐसा आग्रह है। जब 'छोड़ो' कहोगे तो उसमें द्वेष हो जायगा और जब 'पकड़ो' कहोगे तो उससे राग हो जायगा ।

पहली भूल तो यह है कि हम किसी वस्तु को अपने से पृथक् मान बैठते हैं । इस भेद-बुद्धि से यह अच्छा है, यह बुरा है, इससे राग करो, इससे द्वेष करो—यह हो गया काम। अब जो बुरा है उसे छोड़ने के लिए प्रयत्न करो। यह हो गया कर्म ।

इस संसार में जितने भी प्राणी फँस रहे हैं, वे इन्हीं अविद्या, कामना और कर्म से फँस रहे हैं। अब हमें जाग्रत् में उन्हीं पदार्थों को त्यागने या पाने की इच्छा होती है।

'धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्'

स्वप्नावस्था में केवल वासनामय भोग है जब कामजन्य विषय हमारे सामने प्रकट होते हैं। उसके बाद सुषुप्ति आती है—

'पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो'

सम्पूर्ण विषयों के भेदों को पीकर सुषुप्ति में सो जाता है और वहाँ केवल आनन्द का उपभोग करता है और वही हम सब जीवात्माओं—मनुष्यों को भी उपभोग कराता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषद् का इसमें सार संग्रह है। उपनिषद् के बारह मन्त्रों में जो बात कही गयी है, वह पूरी की पूरी बात मंगलाचरण के इन दो श्लोकों में आ गयी है। विधि-निषेध के भाव से अथवा 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वम्' पदार्थ के निरूपण से सारी बातें इनमें कही गयी हैं।

'मायया भोजयन्नो'

माया से ही वह हम लोगों को भोक्ता बना देता है।

'मायासंख्यातुरीयं'

अवस्था और अभिमानियों के भेद की गणना की अपेक्षा से ही जो कि मायामात्र है आत्मा-ब्रह्म को तुरीय अर्थात् चतुर्थ कहा गया है, वस्तुतः तो वह अद्वितीय ही है। ऐसा जो अमृत, अज, ब्रह्म है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ। उसके प्रति नत होता हूँ माने उससे अभिन्न होता हूँ।

जाग्रत् अवस्था में विश्व रूप में, स्वप्नावस्था में तैजस रूप में, सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ रूप में होने पर भी और इन सबसे विलक्षण होने पर भी जो इन सब अवस्थाओं का विवर्ती अधिष्ठान है, इन अवस्थाओं का स्वयंप्रकाश सर्वावभासक साक्षी है और जिसमें किसी प्रकार की संख्या नहीं है, वह ब्रह्म है।

यह जो संख्या है एक, दो, तीन; विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय; यह सब की सब संख्या माया से है।

'परममृतमजं ब्रह्म यत्तत्तोऽस्मि।'

परम, ऋत, अज और पर अमृत, अज—इस प्रकार द्विविध पदच्छेद इसका करना चाहिये। परमम् ऋतम्, अजम् और परम्, अमृतम्, अजम्—ऐसा जो परम, अमृत, अजन्मा ब्रह्म है, उसके प्रति हम नमस्कार करते हैं।

अब यहां 'परम्, अमृतम्, अजम्' के अर्थ में थोड़ा भेद करना पड़ेगा। क्योंकि ऋतम् का अर्थ है सत्यम् और अमृतम् का अर्थ है मृत्युवर्जितम्।

'मायासंख्यातुरीयम्' में जो संख्या है, वह माया की है। संख्या का स्वभाव है कि जब एक संख्या से दूसरी संख्या मिलती है तो पहली संख्या को बढ़ा देती है और स्वयं बढ़ जाती है। एक और एक दो हो गया, यह वृद्धि हो गयी। दो में से एक निकाल दें तो एक रह गया, यह ह्रास हुआ। लेकिन परब्रह्म का स्वभाव ऐसा है कि न वह बढ़ता है, न घटता। अब यदि ब्रह्म को संख्या में लें और कहें कि ब्रह्म एक है तो उसमें एक और मिलने पर दो हो जायगा, किन्तु ब्रह्म अद्वैत है। अतः जैसे शून्य और शून्य (०+०) मिलकर कुछ नहीं बढ़ता और शून्य में से शून्य निकालने पर (०—०) कुछ नहीं घटता, उसी प्रकार अनन्त में से अनन्त निकालने पर भी अनन्त ही शेष रहता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

इस प्रकार ब्रह्म में कोई संख्या नहीं। यह संख्या की व्यवस्था तो हमारे समझने के लिये है। जैसे हमें मालूम पड़ता है कि हम इस समय जाग्रत् हैं और इन्द्रियों से विषयों को देख रहे हैं। कौन देख रहा है? मैं ही देख रहा हूँ। यहां इन्द्रियों की बाह्य उपाधि को स्वीकार करके मेरी ही संज्ञा विश्व हो गयी। बाह्य इन्द्रियों को छोड़कर स्वप्न में ही

देखता हूँ। वहा मुझ द्रष्टा की सज्ञा तैजस हो गयी। क्योंकि पदार्थ न होने पर भी तैजस के अपने तेज से वहा के सारे विषय प्रकाशित हो रहे हैं। उसके बाद सुषुप्ति आती है, जहा न बाह्य इन्द्रियाँ रहती हैं और न अन्तरिन्द्रियाँ। उस सुषुप्ति को भी हम देखते हैं। हमको जाग्रत् और स्वप्न से विलक्षण एक अवस्था का ज्ञान ही न होता यदि उस सुषुप्ति अवस्था को हम न देखते होते। यह तीनों अवस्थायें ऐसी हुई जैसे कोई एक व्यक्ति सफेद, लाल तथा काले कपड़े पहिने और उतार दे। कपड़े तीन, किन्तु उनका पहिनने वाला एक। इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं के द्रष्टा हम इन तीनो अवस्थाओं से विलक्षण हैं। आत्मस्वरूप इन अवस्थाओं से पृथक् है यह, निश्चित हुआ।

अब जाग्रत् और स्वप्न के विस्तार को देखें। पृथ्वी, जल वायु, आकाशादि पूरी सृष्टि जाग्रत् अवस्था में मैं देखता हूँ। स्वप्नावस्था में इनकी स्मृति तक नहीं आती। उस समय विश्व तैजस में सर्वथा लीन हो गया, इसीसे उसकी स्मृति नहीं होती। सुषुप्ति मे न जाग्रत् की स्मृति होती, न स्वप्न की। दूसरा अर्थ हुआ कि बहिःकरण की उपाधि से जो जाग्रत् का द्रष्टा बना हुआ है और अन्तःकरण की उपाधि से स्वप्न का द्रष्टा बना हुआ है, वह बहिःकरण एव अन्तःकरण दोनों के सो जाने के कारण सुषुप्ति मे किसी भी विषय को नहीं देखता। परन्तु जब जागता है तो उन्हीं करणों से तादात्म्य करके कहता है 'उस समय मैं नहीं देखता था और अब देखता हूँ।' सच यह है कि द्रष्टा कभी सोता नहीं। 'मैं सो रहा हूँ' ऐसा अनुभव किसी को कभी नहीं होता। क्या कि यदि 'सो रहा हूँ' यह अनुभव तुम्हें हो रहा है तो तुम जाग रहे हो। यदि ऐसा अनुभव नहीं होता तो 'मैं सोया था' यह केवल कल्पना से ही कहा जाता है। स्पष्ट तात्पर्य यह है कि बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सो गयी थीं और जब वे जागीं तब उन के साथ तादात्म्य करके अपने ऊपर सोने का आरोप कर लिया। सोया कोई और, और अपने को कहने लगे-'मैं सोया था'।

अब देखो कि तीन बातें हमसे सर्वथा पृथक् हो जाती हैं। जाग्रत् अवस्था के जितने अनुभव हैं, उनसे मैं अलग हूँ, क्योंकि उन अनुभवों के न रहने पर भी मैं रहता हूँ। इसी प्रकार स्वप्नावस्था के अनुभवों से भी पृथक् हूँ। सुषुप्ति में दो ही अनुभव होते हैं--अज्ञान का अनुभव और सुख का अनुभव।

'सुखमहमस्वाप्सम्'

'मैं सुख से सोया था। मुझे किसी बातका पता नहीं।' मैं इस अनुभव से भी विलक्षण हूँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मे जितने भी अनुभव हैं, विषय हैं। वे अनुभूयमान-प्रतीयमान पदार्थ हैं। वह सब न 'मेरा' है, न 'मैं' हूँ। क्योंकि उसे यथास्थान छोड़कर मैं उठ जाता हूँ।

जब 'मैं' और 'मेरा' संसार का कोई पदार्थ नहीं है तो उनके संयोग और वियोग में जो सुखी और दुःखीपने का अभिमान है, वह एकदम झूठा है। उसमें जो कर्तापन का अभिमान है—"मैने यह बनाया और यह बिगाड़ा" यह भी झूठा है, क्योंकि साक्षी में न कर्तापन है न भोक्तापन।

जाग्रत् अवस्था का विस्तार हमारे मन ने किया है। स्वप्नावस्था का विस्तार भी मन ने ही किया और सुषुप्ति भी मन की ही एक अवस्था है यह तीन लोक, चौदहों भुवन, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का अनुभव जो किसी को कभी हुआ, अब हो रहा है या आगे होगा, सबका सब हमारे मन की कल्पना है।

अब विचार करना है कि अपने में जो तुरीयता—चतुर्थपना है, वह कैसे है? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की यह जो माया है, इस माया की दृष्टि से ही तुरीयता है। यदि ये तीन न हों तो अपने में चतुर्थता भी न हो। इन तीनों से अपने को पृथक् करने के लिये इनकी अपेक्षा से ही अपने में तुरीयता कल्पित करनी पड़ती है। लेकिन लोगों को भ्रम होगया है कि जैसे समाधि एक अवस्था है, वैसे ही तुरीय भी एक अवस्था है। लोग समझते हैं कि हम जैसे जागते, स्वप्न देखते या सो जाते हैं, वैसे ही समाधि नाम की अवस्था प्राप्त करने पर तुरीय होते हैं। लेकिन वेदान्तसिद्धान्त ऐसा नहीं है।

तुरीयं त्रिषु सन्ततम्।

जाग्रत् में भी हम तुरीय हैं, स्वप्न में भी और सुषुप्ति में भी। अपने तुरीयपने में कभी अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में रहते हुए भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न कभी था, न है और न आगे होगा। उनके बदल जाने पर भी मैं नहीं बदलता। जाग्रत् में स्वप्न और सुषुप्ति नहीं रहती। स्वप्न में जाग्रत् और सुषुप्ति नहीं और सुषुप्ति में स्वप्न तथा जाग्रत् नहीं रहते, अतः ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं।

मिथ्या-असत्य-झूठ किसे कहते हैं? जो एकरूप न रहे-अपने को बदलता रहे। जैसे कोई अपने अनेक नाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बताये या 'कहाँ से आये हो?' पूछने पर किसीको कुछ और किसीको कुछ उत्तर दे, वह झूठा। हमने एक वस्तु के सम्बन्ध में निश्चय किया कि वह काली है, किन्तु वह थोड़ी देर में श्वेत और फिर लाल हो गयी तो उसके रंग झूठे। गिरगिट (कृकलास) के शरीर के रंग झूठे ही तो हैं। हमारे झूठ का अभिप्राय है—'अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व' जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अत्यन्ताभाव हो उसीमें उस वस्तु का भासना मिथ्या है। जैसे रस्सी में साँप है नहीं, फिर भी रस्सी में साँप दीख रहा है। तो इस दीखते हुए साँप को मिथ्या कहेंगे।

अब यह जितने पृथक्-पृथक् पदार्थ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, यह संसार के पदार्थ भास रहे हैं, वहां भास रहे हैं? एक अनन्त में, एक अपरिच्छिन्न में। जो भी वस्तुएँ टुकड़े-टुकड़े होती हैं, उन्हें आधार के लिए एक बेटुकड़े-एकरस वस्तु की आवश्यकता होती

है। जैसे खिड़की से आती सूर्य की किरण में छोटे-छोटे कण उड़ते दीखते हैं। इन कणों को त्रसरेणु कहते हैं। ये कहां उड़ते हैं? आकाश में। अब जो अवकाशात्मा आकाश है, वह टुकड़े-टुकड़े है या एक है? वह एक है। तब वे त्रसरेणु जहां हैं वहां भी आकाश है ही। इस प्रकार जितनी भी छोटी वस्तुएँ हैं, उन्हें अपने एक बड़े आधार की आवश्यकता पड़ती है। जिस बड़े आधार में वे आ सकती हैं, उस आधार के साथ उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उसमें जहाँ वे दीख रही हैं, वहाँ भी वह आधार ही है। अतः उस भासमान वस्तु को मिथ्या कहेंगे।

इसी प्रकार अपने मन बुद्धि, इन्द्रिय के द्वारा जितने भी टुकड़े-टुकड़े पदार्थ प्रतीत होते हैं और ये जो मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ प्रतीत होती हैं, ये जिस अधिष्ठान में प्रतीत होती हैं और जिस प्रकाश में भासमान हैं, वह अधिष्ठान और प्रकाश तो एक है।

प्रकाश कहो, अधिष्ठान कहो, द्रष्टा कहो, ब्रह्म कहो—यह जो अधिष्ठान स्वयप्रकाश आत्मा है, वह एक है। अतः इसमें प्रतीत होनेवाले जितने भी पृथक्-पृथक् परिच्छिन्न पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या हैं। अतः अधिष्ठान और प्रकाश का भेद किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये यह तुरीयपना है यह माया की सख्या जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति से है। यह मायामात्र है।

मायामात्र का क्या अभिप्राय है? माया कहते हैं लोकभाषा में इन्द्रजाल को। लोक में जो पद जिस अर्थ का वाचक है, वेद में भी वह शब्द उसी अर्थ का वाचक होता है। यदि लौकिक अर्थ से उसकी सिद्धि हो जाती हो तो अलौकिक अर्थ की कल्पना करना अनावश्यक है। माया का लौकिक अर्थ है इन्द्रजाल-बाज़ीगरी। एक बाज़ीगर ने आकाश में सूत उड़ा दिया। उस पर वह चढ़कर अदृश्य हो गया। अब आकाश से शस्त्र चलने का शब्द आता है और हाथ, पैर आदि अग कट-कट कर गिर रहे हैं। थोड़ी देर में वह बाज़ीगर ज्यों का त्यों खड़ा हो जाता है आपके सामने। यह सब क्या है? यह माया है।

इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का जब तक विचार न करें, यह बड़ी ठोस प्रतीत होती हैं; किन्तु विचार करने पर इनमें कुछ ठोसपना नहीं मिलता। स्वप्न टूटने में, मारा जाने मे, दिवाला निकलने मे, दुर्घटना होकर अग टूटने में, ब्याह होने में, वियोग होने में कितनी देर लगती है? यह सब माया है। इस माया की दृष्टि से ही परमात्मा में तुरीयपना है। समझने के लिये व्यतिरेक करने के लिये उसे तुरीय कहना पड़ता है। तत्वदृष्टि से देखें तो उसके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं।

तीन शब्द उस परमात्मा के लिए और प्रयोग करते हैं परम्, अमृतम्, अजम्, ब्रह्म। इनमें 'पर' किसे कहते हैं? सामान्य हिन्दी प्रयोग में 'पर' का अर्थ है दूर। इससे 'परे' ऐसा बोलते हैं। लेकिन वेद में 'पर' शब्द 'आन्तर' का पर्याय है:—

इन्द्रियाणि पराण्याहुः
इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥—गीता

इन्द्रियों से परे अर्थात् उनकी अपेक्षा आन्तर मन है।

'मनसस्तु परा बुद्धिः'

इस प्रकार 'पर' शब्द का अर्थ है भीतर। इसे आप विचार करके देख लें। मन से परे बुद्धि है। जितने सङ्कल्प-विकल्प उठते हैं उन सबका समूह सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन ही है। जितने भी सङ्कल्प उठते हैं वे ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध में ही उठते हैं। अज्ञात के विषय में सङ्कल्प नहीं उठ सकता। सङ्कल्प के अनुसार इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियों के भीतर मन और मनके भीतर बुद्धि हुई। क्योंकि जब जानी हुई वस्तुके सम्बन्ध में ही सङ्कल्प उठता है, तब बिना बुद्धिके-बिना ज्ञानके मनकी कोई स्थिति नहीं रही।

श्रुतिमें लय का प्रसंग आता है। वाणी और मन दोनों का नियन्त्रण करना। नियन्त्रण करके उन्हें बुद्धि में-ज्ञानात्मामें ले जाना। ज्ञानात्मा में ले जाने का अर्थ है कि हम जो कुछ जानते हैं, उससे भिन्न मन और कुछ नहीं है। बुद्धि से मन के अपृथक्त्व का चिन्तन। यह किसी में किसी को प्रवेश कराने की बात नहीं है। चिन्तन यह है कि हमारे सङ्कल्प से भिन्न इन्द्रियों की कोई सत्ता नहीं, और हमारे ज्ञान से भिन्न सङ्कल्पात्मक मन कुछ चीज़ नहीं है, यह हुआ अन्तरंग।

'सा काष्ठा सा परा गतिः'

'परम्' शब्द का अर्थ है आन्तर-प्रत्यक् अर्थात् अन्तरात्मा जो नेत्रों से उल्टी दिशा में है। यह जो वस्तु सामने है, वह 'पराक्' है-बाहर है। नेत्र को सन्धि बनालो। नेत्र के बाहर की वस्तु पराक् और इन बाहरी वस्तुओं को जो नेत्र के भीतर बैठा प्रकाश देकर देख रहा है, जो नेत्र को रोशनी दे रहा है, वह प्रत्यक्।

परम् का अर्थ यह जो आत्मा ब्रह्म है, यह आँखके भीतर है, बाहर नहीं, प्रत्यक् है, पराक् नहीं। तुम्हें कभी परमात्मा को ढूँढ़ना हो तो उसे ढूँढ़ने बाहर नहीं जाना। जहाँ का तहाँ छोड़कर भीतर हो जाना। आँख की पुतली को स्थिर कर दो और भीतर लौट आओ। तुम आँख से देखे जानेवाले नहीं हो, तुम आँख को भी देखनेवाले हो। इस प्रकार आत्मस्वरूप की उपलब्धि की प्रक्रिया निवृत्ति है, प्रवृत्ति नहीं।

अब आगे अमृतम् अथवा ऋतम्, परमम् को देखें। परमम् का अर्थ होता है सर्वोत्कृष्ट और प्रत्यक्। अमृतम् का अर्थ होता है अविनाशी-जिसका कभी विनाश न हो। अजम् का अर्थ है जिसका जन्म नहीं होता। अमृतम् के बाद अजम् आया है। यहाँ एक शंका होती है कि वन्ध्यापुत्र भी तो अजन्मा है, उसका भी कभी जन्म नहीं

हुआ कभी उसकी मृत्यु भी नहीं होती। ब्रह्म भी अमृत और अज है। लेकिन ब्रह्म की विशिष्टता प्रतिपादित करने के लिये उसे 'परमम्'–प्रत्यक् कह दिया है।

यदि ईश्वर कहीं सातवें आसमान में हो तो पहले यह शंका होगी कि वह है भी या नहीं? उसे किसी ने देखा है या नहीं? यदि उसे किसी ने देख लिया तो घटपटादि विषयों के समान दृश्य होने से वह भी नाशवान् सिद्ध होगा। यदि कहें कि उसे कभी किसी ने नहीं देखा तो उसके होने में प्रमाण क्या? वेद-शास्त्रों में लिखा है कहो तो श्रद्धा की बात हो गयी। प्रश्न बना है कि अन्य रूप से ईश्वर का दर्शन कभी किसी को हुआ या नहीं? व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष के रूप में ईश्वर का दर्शन कभी किसी को होगा भी तो जो कभी उत्पन्न नहीं हुआ और कभी मरेगा नहीं, जो सर्वज्ञ है, पूर्ण है, सर्वशक्तिमान् है–उसका अपरोक्ष कैसे होगा? यह बात तो श्रद्धा से ही माननी पड़ेगी कि हमारा ईश्वर अज-मा एवं अविनाशी है। अतः जब तक ईश्वर का दर्शन अन्य रूप में होगा तब तक उसका अजत्व एवं अविनाशित्व सन्दिग्ध ही रहेगा। इस प्रकार अन्य रूप से होने वाला ईश्वर दर्शन सदा सन्दिग्ध रहेगा। श्रद्धा प्रमाण नहीं हुआ करती।

ईश्वर दर्शन की एक सर्वथा भिन्न प्रणाली है जो वेद-विद्या से और महापुरुषों के अनुभवों से जानी जाती है।

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्–
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥ कठोपनिषद्

ईश्वर का दर्शन अन्य रूप से नहीं होता। 'स्व' के रूप में अपने आपने रूप में होता है। अपना आपा है या नहीं, इसमें क्या किसी को कभी सन्देह हो सकता है? अपना अस्तित्व संशय-विपर्यय से सर्वथा असस्पृष्ट है।

नहि कश्चित् सन्दिग्धेऽहमस्मि वा न वेति।

अब इस समय तो अपना अस्तित्व है, किन्तु कभी पहले न रहा हो या कभी आगे न रहे? इस सम्बन्ध में सोचो। इस पहले-पीछे अर्थात् भूत-भविष्य का प्रकाशक कौन है? आगे-पीछे जो काल की कल्पना है, यह किसकी कल्पना है? कौन है जिसे इसका विचार होता है? 'मैं' को होता है। यहां मैं हूँ और वहां शायद न होऊँ यह यहां और वहां का विचार भी 'मैं' को होता है। यहां और वहां की कल्पना को देश कहते हैं।

यह पुस्तक है। यह जितना स्थान घेरती है, वह इसका देश है। देश का अर्थ है स्थान। यह पुस्तक पहले छपी नहीं थी। यह छपी, अनेक हाथों में होती हुई हमारे हाथ में आयी और आगे इसकी अमुक अवस्था होगी। इस प्रकार सोचने में तो क्रम का संवित् है, उसके साथ पहले-अभी-बाद जुड़ा है। इसी का नाम काल है। यह पुस्तक स्वयं वस्तु है। इस प्रकार जितना भी देश, काल, वस्तु है, वह सब 'मैं' के द्वारा प्रकाशित है।

सबका जन्म और सबकी मृत्यु 'म' के सम्मुख होती है। इसलिये सबकी उत्पत्ति का और नाश का साक्षी जो मैं हूँ—वह अमृत हूँ। इसीसे अमृत शब्द का अर्थ आनन्दरूप भी है।

'आनन्द रूपम् अमृतं'

यह श्रुति ब्रह्म के आनन्दस्वरूप का वर्णन करती है। आनन्दस्वरूप ही पुरुषार्थ है। आनन्दस्वरूप की उपलब्धि परम पुरुषार्थ की सिद्धि हुई। संसार के समस्त प्राणी आनन्द-सुख चाहते हैं। असन्दिग्ध रूपसे सबका पुरुषार्थ आनन्द है। आनन्द भी कैसा? जो आज हो, कल हो, सदा रहे—अविनाशी आनन्द। यहाँ भी हो, वहाँ भी हो, सर्वत्र हो—पूर्णानन्द। यह भी आनन्द हो, वह भी आनन्द हो—सर्वात्मक आनन्द। बिना किसी श्रम के, बिना किसी उद्योग के मिले—अनायास आनन्द। किसी के अधीन न होना पड़े—स्वतन्त्र आनन्द। प्रकाशरूप हो, अज्ञात नहीं—चेतन आनन्द। सुषुप्ति में, स्वप्न में, जागरण में और मरने के बाद भी—सर्वदा आनन्द रहे, ऐसा सब चाहते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम कहते हैं कि सबका परम पुरुषार्थ मोक्ष है अथवा परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति है तो यह नहीं कहते कि तुम्हें अपना पुरुषार्थ लक्ष्य, ब्रह्म की प्राप्ति बनाना चाहिये। हम कहते यह हैं कि तुम ब्रह्म को चाहते हो। तुम अविनाशी, सर्वात्मक, पूर्ण, अनायास आनन्द को चाहते हो। अतः हम कहते हैं कि तुम वास्तव में परमेश्वर को, परब्रह्म परमात्मा को चाहते हो। लेकिन इस बात को जानते नहीं हो। इसलिये अपने अभीष्ट के सम्बन्ध में विचार करो कि तुम्हारा लक्ष्य क्या है। तुम देखोगे कि जीवन का उद्देश्य अविनाशी, परिपूर्ण, सर्वात्मक, स्वतःसिद्ध वही आनन्द है—जिसको हम ब्रह्म कहते हैं।

अब जो तुम समझते हो कि तुम्हारा लक्ष्य पैसा है, यह गलत है। पैसा भी तुम आनन्द के लिये चाहते हो। इसी प्रकार कोई भोग जीवन का लक्ष्य नहीं है। भोग भी तुम उसी आनन्द के लिये चाहते हो। अच्छा! धर्म करना तुम्हारा लक्ष्य है? धर्म भी लक्ष्य नहीं है, क्योंकि निरन्तर नहीं किया जा सकता। सुषुप्ति में कोई कैसे धर्म करेगा, धर्मजन्य सुख ही यहाँ भी तुम्हारा लक्ष्य है।

वैशेषिक दर्शन की उपस्कर वृत्ति में सांसारिक सुखों के चार विभाग किये गये हैं। इन्हीं में संसार के सारे सुख अन्तर्भूत हैं। यथा—

१—विषयभोगजन्य सुख।
२—अभिमानजन्य सुख।
३—मनोरथजन्य सुख।
४—अभ्यासजन्य सुख।

इन चार प्रकार के सुखों में ही सात्त्विक, राजस, तामस सब सुखों का समावेश है। ये चारों ही सुख क्षणिक हैं विनाशी हैं और अन्त में दुःख देने वाले हैं। लेकिन

अपना आपा सर्वदेश में है। जहाँ आओगे, वहाँ रहेगा। सर्वकाल में है। जब तुम हो, वह है। सब विषयों का सुख तुम्हीं तो लोगे। अपने आपको पाने का आयास कैसा? वह तो तुम स्वयं हो। उसमें नेत्र की पलक खोलने की भी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हमारा सुख-हमारा संसार हमारे सदा साथ है। हमारे दिल में है।

हम अपनी दुनियाँ साथ लिए फिरते हैं।
हम अपने सपने साथ लिए फिरते हैं।

संसार में दुःखी ये लोग हैं, भटकते ये लोग हैं जिन्होंने अपना सुख अपने दिल से बाहर फेंक रखा है। अपने सुख को दिल से नेत्र में ले आये और किसी रंग-रूप में ले जाकर डाल दिया, अपना सुख वहां फेंक दिया और अब छटपटा रहे हैं-हाय सुख! हाय सुख!

इस प्रकार वेदान्त-विचार में कोई वस्तु प्राप्तव्य नहीं है। न कोई लक्ष्य बनाना है, न कोई साधना करना है। ये आत्मदेव साधन, साध्य नहीं हैं। यह तो अपनी आत्मा है। अपने को पाने के लिए साधन नहीं करना पड़ता। साधन करना है उन बुरी आदतों को निकालने के लिये जो हमने अपने जीवन में डाल ली हैं। सुख पाने के लिये कोई साधन नहीं करना है।

हमारे घर में शंकर जी की मूर्ति है। हमने पूजा छोड़ दी। कबूतर आने लगे और उनकी बीट तथा कूड़े से वह ढँक गयी। अब हाय-हाय करते हैं कि हमारे शंकर जी नहीं रहे। नर्मदा से लाकर प्रतिष्ठा करो। ऐसा कुछ नहीं करना है। शंकर जी तो दिल में बैठे हैं। यह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार-अविद्या का दोष है कि इसने उस आराध्य मूर्ति को ढँक दिया है। तुम्हें केवल अविद्या को निवृत्त करना है।

वेदान्त का अभिप्राय यह है कि केवल यथार्थ जानकारी से तुम्हारे सम्पूर्ण दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जायगी। कुछ करना नहीं, कुछ पाना नहीं। कुछ चाहना नहीं, कुछ नया बनाना नहीं। जो है, उसको जानो!

तुम्हारे पूर्वजों ने घर में धन गाड़ रखा है। उस पर पैर रखकर चलते हो, पर कंगाल बने हो-ऐसी अवस्था है। एक सज्जन ने रात्रि में एक बुढ़िया को बिजली के खम्भे के नीचे कुछ ढूँढते देखा। पूछने पर उसने बताया-सुई घर में खोयी; किन्तु घर में प्रकाश नहीं, अतः जहां प्रकाश है, वहीं ढूँढ रही है। इस बुढ़िया जैसी ही अवस्था आज है। हालांकि बुढ़िया वाला दृष्टान्त सुनकर या पढ़कर सुनने, पढ़ने वालों को बुढ़िया की नादानी पर हँसी आती है, परन्तु शोक है कि उनकी दृष्टि अपने ऊपर नहीं जाती। उनकी स्वयं की भी हालत यह है कि 'गोद में लड़का नगर में ढिंढोरा'। अरे भाई! जो वस्तु अपने में खोयी है बाहर 'यह' में उसकी खोज करोगे तो वह कैसे मिलेगी? उसके लिए तो 'यह' से नेत्र हटाकर भीतर आना पड़ेगा।

अमृत-परमानन्दस्वरूप अपनी आत्मा मृत्युरहित है, अजन्मा है। परम् अतएव अमृतम्। अपनी आत्मा है, अतः अमृत है। क्योंकि अपनी आत्मा की मृत्यु हो ही नहीं सकती। मृत्यु तो जिसकी भी होगी, दृश्य की ही होगी। आत्मा द्रष्टा है, अतः अमृत है। अमृत है, अतः अज है क्योंकि अविनाशी अजन्मा होता ही है।

'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है समस्त भेदों के अभाव से उपलक्षित, जिसमें देश का भेद नहीं, काल का भेद नहीं, वस्तु का भेद नहीं। सजातीय भेद नहीं, विजातीय भेद नहीं, स्वगत भेद नहीं। ऐसी जो वस्तु है, वह ब्रह्म है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

सत्य है, किन्तु जड़ नहीं है इससे 'ज्ञानम्' कहा। केवल ज्ञान तक रह जायँ तो क्षणिक विज्ञान हो सकता है, इससे 'सत्यम्' प्रथम कहा है। सत्य है क्षणिक नहीं और ज्ञान है, जड़ नहीं; किन्तु परिछिन्न हो सकता है, इस सन्देह को दूर करने के लिए 'अनन्तम्' कह दिया।

अनन्तता की प्राप्ति अन्यत्र भी सम्भव है। अनेक मतों में देशकालादि भी अनन्त हैं। लेकिन यहाँ समझने की बात यह है कि सत्यका अर्थ है अविनाशी अर्थात् काल से अपरिच्छिन्न और ज्ञान से तात्पर्य है ज्ञानमात्र-निर्विषयज्ञान, ज्ञेयरहित ज्ञान। सत्य कहने से कालका निषेध हुआ-कालपरिच्छिन्नता का निषेध हुआ। ज्ञानमात्र कहने से विषयपरिच्छिन्नता का निषेध हुआ। अनन्त कहने से देशपरिच्छिन्नता का निषेध हुआ। इस प्रकार देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न सत्य, ज्ञान, अनन्त जो ब्रह्म है-तन्नतोऽस्मि। मैं उसके प्रति नत हूँ।

नत हूँ का अभिप्राय है-उसकी सत्ता से हमारी सत्ता पृथक् नहीं है। उसके ज्ञान से हमारा ज्ञान भिन्न नहीं है। उसके आनन्द से हमारा आनन्द अलग नहीं है। उससे मैं भिन्न नहीं हूँ, उसकी सत्ता के-उसके स्वरूप के सामने हम अपने पृथक्त्व को-अपने भेद को शिथिल कर रहे हैं-मिटा रहे हैं। यही नमस्कार का अर्थ होता है। नतोऽस्मि-अर्थात् मैं वही हूँ।

★

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥

पहिले श्लोक में मंगलाचरण करते हुए भाष्यकारने 'प्रज्ञानांशुप्रतानैः' इत्यादि से ब्रह्म किस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, इसका प्रतिपादन किया। परब्रह्म परमात्मा से प्रारम्भ करके उसी परब्रह्म परमात्मा में परिसमाप्ति, यह प्रथम मंगलाचरण में है। मंगलाचरण के दूसरे श्लोक में हम जहाँ बैठे हैं, वहाँ से उठकर परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार में परिसमाप्ति वर्णित है।

विधिमुख से वर्णन पहिले मंगलाचरण में है और निषेधमुख से इस दूसरे मंगलाचरण में। पहिले में 'पीत्वा' है जो विधिप्रधान है और इस दूसरे में 'हित्वा' है जो निषेधप्रधान है।

परमात्मा की प्राप्ति की दो प्रक्रिया हैं। एक तो यह भी परमात्मा—यह भी परमात्मा, परमात्मा ऐसा है—ऐसा है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

दूसरी प्रकिया है, नेति-नेति यह नहीं—यह नहीं। अदृश्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, अशब्दम्, अस्पर्शम् आदि। जो परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है, उसका निषेध करते हुए जो अबाधित शेष बचता है, वह परब्रह्म परमात्मा है।

'यो विश्वात्मा' यहां से प्रारम्भ करते हैं। 'यः' का अर्थ यहां है स्वतःसिद्ध चिद्-धातु। एक परतःसिद्ध धातु होती है, जैसे-पृथ्वी। पृथ्वी स्वतन्त्र धातु है, इसका पता कैसे लगे? इसमें कोई गुण होना चाहिए। पृथ्वी का स्वतन्त्र गुण है गन्ध, जो नासिका इन्द्रिय से ग्रहण होता है। इसमें नासिका से सिद्ध गन्ध और गन्ध से सिद्ध पृथ्वी परतः सिद्ध धातु हुई। यदि चेतन न हो तो पृथ्वी नाम की कोई वस्तु है, यह बात कभी सिद्ध नहीं हो सकती; किन्तु जो अपना आपा है, वह किसी दूसरे से सिद्ध नहीं है। वह तो सर्वावभासक-सर्वप्रकाशक है। अपने को जानने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। यह स्वतःसिद्ध चिद्-धातु है।

उपासना मार्ग में उपासक जिस चेतन का अनुभव करता है, वह चेतन उपासक की वृत्ति के द्वारा जाना जाता है। उसका जो रूप है, वह भाव्यमान है। कहीं राम रूप, कहीं कृष्ण रूप, कहीं शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु आदि रूप। वहाँ धातु-रूप से नहीं, आकृति-रूप से चेतन का ग्रहण होता है।

निराकार भी एक प्रकार का आकार ही है क्योंकि यह भी सविशेष है। साकार की अपेक्षा वह विशेष है या नहीं ? अतः वह भी स्वत सिद्ध नहीं, क्योंकि उसका भी अनुभव करने वाला कोई न कोई होना चाहिये। और वह अनुभव भी साकार के अनुभव से विलक्षण आकार वाला होना चाहिये।

जो कहते हैं-ईश्वर केवल निराकार है, उन्हें सोचना है कि वह ईश्वर कभी किसी के अनुभव का विषय हुआ या नहीं ? ब्रह्मा, शंकर, वशिष्ठादि ऋषि में से किसी ने उसका अनुभव किया है ? यदि अनुभव किया है तो किसी न किसी विशेषता का ही तो अनुभव होगा।

अनुभव दो रूप में होता है 'इदम्' रूप से तथा अहम्' रूप से। यदि ईश्वर का अनुभव 'इदम्' रूप में हुआ तो वह ईश्वर सोलहों आने साकार हो गया। यदि 'अहम्' रूप से अनुभव हुआ तो वेदान्त-सिद्धान्त प्राप्त हो गया। 'इदम्' रूप में ईश्वरानुभव भक्ति मार्ग है और अहम्' रूप में अनुभव वेदान्त। ऐसा निराकार, जिसका न 'इदम्' रूप में अनुभव हो और न 'अहम्' रूप में, अनुभव का अविषय होगा और तब वह है, इसका ही क्या प्रमाण ?

'य.' से वर्णित यहा चिद्-धातु है, कोई भावी आकृति नहीं। सम्पूर्ण आकृतियों का यह अधिष्ठान है।

> निराकार साकार रूप धरि आयो कई एक बारा।
> सपने होय होय मिट गयो, रह्यो सार को सारा।

वह जो सार वस्तु है, वही यहाँ 'यः' पद से कही गयी है।

'यः विश्वात्मा विधिज विषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्'

विश्वात्मा का अर्थ है जाग्रत् अवस्था का अभिमानी। जाग्रत् पुरुष का अभिमानी होना एक बात है और जाग्रत्-अवस्था का अभिमानी होना दूसरी। जाग्रत् पुरुष का अभिमानी होना कोई साधन नहीं, किंतु जाग्रत् अवस्था का अभिमानी होना साधन है। यह तो परामर्श की ओर पहला कदम है। दोनों में भेद करो। जैसे स्वप्न में हम अपने को गंगास्नान करने जाते देखते हैं। इसमें एक तो वह स्वप्न पुरुष मैं हूँ जो गंगा-स्नान करने जा रहा है और दूसरा वह मैं हूँ जो पूरे स्वप्न को देख रहा हूँ। इसमें से स्वप्न में जो गंगास्नान करने जा रहा है, वह है स्वप्नपुरुष और जिसने पूरा स्वप्न देखा वह स्वप्नाभिमानी। वह सम्पूर्ण स्वप्नावस्थाका अभिमानी है। स्वप्न के एक शरीर का नहीं। इसी प्रकार अब जाग्रत् पुरुष तथा जाग्रत् अवस्था का अभिमानी, यह दो भेद कर लो। विश्वात्मा किसी एक देह के अभिमानी का नाम नहीं है। सम्पूर्ण विश्व जिसकी जाग्रत्अवस्था है, उसको विश्वात्मा कहते हैं। यह निरूपण एकजीववाद की दृष्टि से है।

भिन्न-भिन्न शरीरों में जीवाभास हैं। वस्तुतः एक ही जीव की अवस्था यह सम्पूर्ण जगत् है।

जब हम इस शरीर में बैठते हैं, तब जाग्रत् पुरुष के अभिमानी बन जाते हैं। फिर मेरा घर, मेरा कारखाना, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र-यह मेरा-तेरा, लड़ाई-झगड़ा, संयोग-वियोग, दुःख-सुख आदि सब का सब शरीर को 'मैं' मानने के कारण होता है। हमारा नाम, हमारे हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगों के नाम, हिन्दू-मुसलमान आदि जाति-धर्म भेद, भारतीय-योरोपीय प्रभृति जितने भेद हमने मान लिये हैं, अविचार से ही हमने यह सब स्वीकार कर लिया है। विचार करके देखो तो हम इस देह के अभिमानी नहीं, सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्था के अभिमानी हैं।

एक विद्वान् ने स्वप्न में देखा कि दूसरे विद्वान् से वह शास्त्रार्थ में पराजित हो गया। जागने पर बड़ा दुःखी हुआ। लेकिन सोचने पर समझ में आया कि मुझे किसी दूसरे ने पराजित नहीं किया। स्वप्न का वह दूसरा विद्वान् मेरी ही बुद्धिवृत्ति थी। मैं अपने से ही पराजित हुआ हूँ। इसी प्रकार हम जाग्रत् में जो समझते हैं कि अमुक से हम हार गये, हमारी सम्पत्ति दूसरे के पास चली गयी, वह मन का भ्रम है। हम अपने ही से हारते हैं। सम्पत्ति हमारी ही दूसरी दूकान में चली गयी है। हमारे एक शरीर से दूसरे के पास, एक हाथ से दूसरे हाथ में, वह चली गयी। इस प्रकार अपने को एक देह न समझ कर विश्वात्मा समझना-यहां से यह साधना प्रारम्भ होती है।

'विधिज विषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्'।

विधि का अर्थ है धर्म। स्थूल भोग कैसे हैं? विधिज अर्थात् धर्म जनित। एक शरीर में बैठकर-अभिमान करके पाप-पुण्य होता है; किन्तु विश्वात्मा होकर पाप पुण्य नहीं होता। अतः वहां तो सब कुछ धर्म से प्राप्त है।

जो जीवन्मुक्त महापुरुष हैं, उन्होंने देह को छोड़ दिया, इन्द्रियों को छोड़ दिया, मन-बुद्धि-अन्तःकरण को भी छोड़ दिया, वे व्यक्ति को (देह को) मैं नहीं समझते। व्यक्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति-कार्य रूप। जब बीज था, जिसमें से हाथ पैर आदि सब निकल आये। जब वह बीज पिता के रक्त में था, उसमें कहाँ हाथ पैर आदि थे। वह बीज माता के उदर में आया और वहां उसने अनुकूल पोषण ग्रहण किया। पौधे की भाँति उसमें सब *अंग प्रगट हो गये। अब यदि 'विधिज' व्यक्ति के लिये लेना हो तो* विधिज और अविधिज दो प्रकार का पदच्छेद करना होगा। विधिज धर्म और अविधिज अधर्म। धर्मजनित एवं अधर्मजनित जो स्थूल भोग हैं, अनुकूल प्रतिकूल, सुखप्रद-दुःखप्रद उन दोनों प्रकार के भोगों को जाग्रत् अवस्था में भोगता है।

'पश्चाच्चान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्'।

जितने भी भोग हैं, वे धर्मजनित अधर्मजनित तथा धर्माधर्मजनित हैं। केवल

सांख्ययोग की प्रक्रिया से देखा तो सोना, चाँदी आदि किसी के कर्म से उत्पन्न नहीं हैं। ये प्रकृति के विकार हैं। प्राकृत हैं। प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा। इन पञ्चतन्मात्राओं से महाभूत और महाभूतों से सब पदार्थ बने हैं।

अब यदि कहा कि धन हमारे कर्म से उत्पन्न हुआ, तो यह सत्य नहीं है। एक सोने की राशि पहले एक के पास थी। वह उसे अपनी मानकर सुखी हो रहा था। उसके पास से दूसरे के पास आयी और फिर तीसरे के पास पहुँच गयी। उस सोने को खान में खोदने, निकालने, साफ करने बेचने में सैकड़ों व्यक्ति सम्मिलित हैं। सैकड़ों के पास वह रहा और वे उससे सुखी रहे। आगे पता नहीं कितनों के पास वह जायगा। तब वह सोना किसी एक के कर्म से उत्पन्न कैसे हो सकता है?

उस स्वर्ण को पाकर जिसे सुख मिला—उसे पुण्य का फल मिला और उसे खोकर जिसे दुःख मिला, उसे पाप का फल मिला। यह सुख दुःख तुम्हारे पुण्य-पाप का फल है। वह वस्तु तुम्हारे पुण्य पाप का फल नहीं है। यह सांख्य की दृष्टि है।

न्याय और वैशेषिक की दृष्टि से सबके सब पदार्थ परमाणुजन्य-पाकज हैं। पदार्थ परमाणविक हैं, तुम्हारे कर्मजनित नहीं हैं। उनको अपना मानकर सुखी होना और उनसे बिछुड़ने के कारण दुःखी होना यह जो सुख-दुःख है, यह मनका खेल है।

अब पूर्वमीमांसा को ले लो। यह औरों से सर्वथा विलक्षण दर्शन है। इसमें प्रकृति, परमाणु आदि कोई स्वतन्त्र द्रव्य मान्य नहीं है। यह दर्शन तो सबकी सब सृष्टि कर्मजन्य ही मानता है। कर्म, प्रारब्ध, सञ्चित आदि के रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अब विचार करो कि सहस्रों व्यक्तियों को सुख-दुःख देनेवाले ये सोना-चाँदी किसके प्रारब्ध से उत्पन्न हुए? यहाँ दो प्रकार के प्रारब्ध की कल्पना करनी पड़ेगी समष्टि-प्रारब्ध और व्यष्टि-प्रारब्ध। स्वर्ण आदि द्रव्य समष्टि प्रारब्ध से उत्पन्न हुए। समष्टि का अर्थ मिला-जुला। संसार में जितने जीव हैं, उनके सम्मिलित प्रारब्ध से खेत, नदियाँ सोना-चाँदी तथा दूसरे सब पदार्थ बने। उन पदार्थों के मिलने बिछुड़ने में जो व्यक्ति को सुख दुःख होता है, यह उसको व्यष्टि प्रारब्ध से होता है।

इसलिए इस मत में जो सुखी हूँ-दुःखी हूँ, यह अभिमान है, यह प्रारब्धजन्य नहीं, यह भ्रान्तिजन्य है। प्रारब्ध से सुख-दुःख तो होता है—सुखाकार-दुःखाकार वृत्तियाँ होती हैं, किन्तु उत्तरकालीन जो 'अहम् दुःखी' यह अभिमान है, यह उस सुख-दुःख में भ्रान्ति से-तादात्म्य करने के कारण होता है।

पूर्वमीमांसा के मत में कर्त्ता-भोक्ता जीव है। अतएव कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व दोनों ही उसके स्वाभाविक हैं। अशुभ कर्म करने से दुःख होगा और, 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा होगा। शुभ कर्म करने से सुख तथा 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अभिमान होगा। अत्यन्त पुण्यों से स्वर्ग जाकर अत्यन्त सुखी तथा अत्यन्त पाप से नरक जाकर वह दुःखी होगा।

वेदान्त-उत्तरमीमांसा की दृष्टि से 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ,' यह अभिमान भ्रान्तिजन्य है। अतएव चाहे विश्व जल जाय या नष्ट हो जाय, जहाँ अभिमान निवृत्त होगया, वहाँ सुख-दुःख की भी निवृत्ति हो गयी। इसलिए भ्रान्ति की निवृत्ति से ही परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, यह वेदान्त-सिद्धान्त है।

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किंचन दह्यते।

मेरा नहीं है तो कुछ मेरा नहीं और है तो सब मेरा ही है।

सामान्य रूप में पूर्वमीमांसा का मत यही बताया जाता है कि स्वर्गादि लोकविशेष की प्राप्ति ही मोक्ष है। परन्तु मीमांसकों का उच्चकोटि का विचार है, उसमें इस प्रपञ्च को वे भी नाशवान् मानते हैं। इस शरीर के द्वारा जो भोग्य लोक है, वह परिवर्तनशील है प्रवाही है और स्वर्गलोक उनकी दृष्टि में नित्य है।

॥ अपाम सोमममृता अभूम ॥

इस लोक के सुख दुःख का सर्वथा परित्याग होकर पुण्यविशेष से जनित स्वर्गादिलोक की प्राप्ति- प्रपच-सम्बन्ध विलय अर्थात् लौकिक-प्रपंच के सम्बन्ध का सर्वथा टूट जाना मोक्ष है।

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।

ऐसे स्वर्गादिलोक की प्राप्ति में भी पुण्य शेष की अपेक्षा से कई स्तर माने जाते हैं। वेदान्तियों ने वैराग्य की पुष्टि के लिये वर्णन किया है कि यहां भी स्पर्धा-असूया होती है और सीमित कर्म से प्राप्त होने के कारण उसका नाश भी होता है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से वहाँ स्वर्गरूप सुख में दुःख-सम्भिन्नता है।

जिसको दुःख सम्भिन्न न करे वह लक्षण स्वर्ग में घटित नहीं होता। यह तो परमपुरुषार्थ रूप जो मोक्ष है-अपनी आत्मा है, उसी में मुख्य रूप से घटित होता है।

'न च ग्रस्तमनन्तरम्' पश्चात भी जो ग्रस्त न हो। जैसे धर्म किया, स्वर्ग गये, फिर वहां से लौटे तो दुःख हुआ। इस प्रकार जिसमें पीछे कभी दुःख की सम्भावना न हो।

'अभिलाषो पनितश्च' संकल्प से-कल्पना होते ही हो जाय। जो स्थूल पदार्थ होता है, वह संकल्प से नहीं बनता; किन्तु जहाँ सूक्ष्म पदार्थ होता है-वहाँ तो संकल्पमात्र से उसकी प्राप्ति हो जाती है। स्वर्ग स्थूल शरीर नहीं है। ऐसा मानते हैं कि एक बार धर्म करके जो स्वर्ग जायगा, वह पुण्य विशेष से फिर धर्मात्मा ही होगा। धर्मात्मा होगा तो फिर स्वर्ग जायगा। इस लिये उसकी परम्परा ही धर्मानुष्ठान और धर्म का फल भोगना होगा। पापियों के लिये :-

'अदत्तदानाच्च भवेद् दरिद्रो
दरिद्रभावाच्च करोति पापम्

इस प्रकार पाप और दरिद्रता का क्रम है। पाप पर पाप करता रहेगा। यदि

सत्संग की प्राप्ति हो जाय और धर्मानुष्ठान होवे तो वहां से निकल सकते हैं।

यह विश्वात्मा क्या है? हम लोग कभी धातु की दृष्टि से विचार नहीं करते, अभिमान की दृष्टि से विचार करते हैं। थाल में रोटी रखी है, तो कहते हैं-अन्न है और मुख के भीतर चली गई, तो कहने लग गये यह 'मैं' हूँ। यदि थाल में रोटी अन्न है, तो शरीर में पहुँच जाने पर भी वह अन्न है। यदि शरीर में पहुँची रोटी 'मैं' हूँ, तो विष्ठा के रूप में निकलने पर भी उसको 'मैं' रहना चाहिए। अतः या तो कहो कि थाल में रोटी अन्न है, विष्ठा के रूप में निकलने पर भी वह अन्न है, अत शरीर में भी वह अन्न ही है अथवा रोटी, विष्ठा तथा शरीर के भीतर सब कहीं वह 'मैं' है। सिद्धान्त यह स्थिर करो कि मिट्टी तथा मिट्टी के विकार से बने पदार्थ 'मैं' हैं या अन्य। यदि तुम इसे अन्य निश्चय करते हो तो तुम असंग द्रष्टा हो जाओगे और यदि इसे 'मैं' निश्चय करते हो तो सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा स्वरूप हो गया। शरीर के बाहर की मिट्टी, जल, अग्नि आदि अन्य के ये पदार्थ 'मैं'। श्वास शरीर में हो तो 'मैं' और नाक से बाहर आजाय तो अन्य। यह धारणा सर्वथा अविचारित चल रही है।

'पश्चाद्यान्यान्स्यमति विभयान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।

पश्चात् का अर्थ जागृत् अवस्था के निमित्त जो धर्म-अधर्म हैं उनकी समाप्ति होने पर तथा स्वप्नावस्था के निमित्त जो धर्म-अधर्म हैं, उनके उदय होने पर। क्योंकि स्वप्न भी सस्कारजन्य है। जिन धर्म-अधर्म में स्थूल वस्तुओंको सामने लाकर सुख-दुःख देनेकी योग्यता नहीं है, ऐसे रहने धर्म-अधर्म स्वप्न में अपने विषय को सूक्ष्म रूप में उपस्थित करके सुख-दुःख देते हैं।

जागरण से विलक्षण स्वप्नकालीन जो भोग हैं वे अपनी ही बुद्धि के विस्तार हैं। वे सूक्ष्म हैं तो उनका अनुभव कैसे होता है? 'ज्योतिषा स्वेन' अपने प्रकाश से। यह स्वप्न एक विज्ञान शाला है। एक डाक्टर अपनी दूकान में तो रोगी को देखकर दवा देता है और उसके पैसे लेता है। किन्तु अपनी विज्ञानशाला में अपने प्रयोगों के चमत्कार दिखलाता है। अनेक रसायन बनाता है। इसी प्रकार हम सृष्टि बनाने वाले हैं, यह बात जाग्रत में हमें भूल जाती है, क्योंकि हम एक देह के अभिमानी बन जाते हैं। स्वप्न में अनुभव करते हैं कि हम में नवीन विश्व बनाने की सामर्थ्य है। स्वप्न में हम मीलों लम्बा स्थान-देश और वर्षों लम्बा काल बना लेते हैं। स्वप्न के ईश्वर हम ही हैं, यह वहाँ स्पष्ट हो जाता है। वहाँ जो भी पृथ्वी-आकाश, सूर्य-चन्द्र-तारे, प्राणी-पदार्थ हैं, उन सबके निर्माता हम हैं। 'स्वेन ज्योतिषा' अपनी ज्योति से हमने यह सब प्रकाशित किया है। जैसे सिनेमा में प्रकाश डालकर पर्दे पर नये-नये दृश्य प्रकट करते हैं।

जाग्रत् अवस्था हमारा व्यापार भवन है, स्वप्नावस्था विज्ञान भवन और सुषुप्तावस्था विश्राम भवन-आनन्द भवन। तब हम इन तीनों स्थानों में बँधे हैं या नहीं? सुषुप्ति में

जाते हैं, तो स्वप्न में नहीं रहते। स्वप्न में जाते हैं तो सुषुप्ति में नहीं रहते और जाग्रत् में आते हैं तो स्वप्न में नहीं रहते। अतः हम इनमें कहीं आबद्ध नहीं हैं। इन अवस्थाओं के बिना हम नहीं रह सकते, यह हमारा विचार एकदम झूठा है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके बिना हम न रह सकते हों। जगत् के प्राणी पदार्थों में हमारा प्यार है। प्यार चाहे जितना प्रगाढ़ हो, झूठा है। पुत्र से, पत्नी से हमारा प्यार है, किन्तु उन्हें छोड़कर हम सुषुप्ति में जाते हैं या नहीं? यदि प्यार को हम छोड़ सकते होते तो सुषुप्ति में जा नहीं सकते थे। तात्पर्य यह है कि हमें यह भ्रम हो गया है कि संसार में हमारा राग या द्वेष है। अमुक को पाये बिना या अमुक को नष्ट किये बिना हम रह नहीं सकते। सुषुप्ति में अपने सुख के लिये हम सब कुछ छोड़ देते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन हम अपने त्याग, अपनी असंगता, अपने वैराग्य का अनुभव करते हैं।

हमारा प्रेम सबसे अधिक किससे है? अपने सुख से, अपनी आत्मा से। इसलिये सबको छोड़कर हम सुषुप्ति में चले जाते हैं। 'सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा।' सुषुप्ति में अपने आप में हम सबकी स्थापना इतने धीरे से कर लेते हैं कि पता भी नहीं चलता। सब मन छूट गये—कुछ पता नहीं।

स्वप्न और सुषुप्ति ये दोनों अवस्थाएँ न हों तो यह जाग्रत् अवस्था ही सत्य हो। इसको मिथ्या समझने का कोई उपाय नहीं रहेगा। सत्य का विचार करते समय हमारा निश्चय कितना पक्षपातपूर्ण है कि जाग्रत् के अनुभव को ही हम सत्य कहते हैं, किन्तु हमें प्रतिदिन जो स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव होते हैं, उनके प्रकाश में हम नहीं देखते कि जाग्रत् के ये सत्य कितने तुच्छ हैं।

स्वप्न के पदार्थों में स्थिरता नहीं होती। आज एक स्वप्न देखा, कल दूसरा। जाग्रत् के पदार्थों के रहते ही रहते रज्जु में सर्प के समान स्वप्न के पदार्थ बाधित हो जाते हैं इसलिये ये प्रातिभासिक हैं। अतः स्वप्न के पदार्थों से हमारा राग नहीं होता और जाग्रत् के पदार्थों से राग हो जाता है। यदि स्वप्न के पदार्थों में भी स्थिरता हो जाय तो उनमें भी जाग्रत् के पदार्थों के समान राग हो जायगा। किन्तु राग होने से ही जाग्रत् के पदार्थ सच्चे नहीं हैं। कभी-कभी स्वप्न में भी राग हो जाता है और वह स्वप्न जीवन भर स्मरण रहता है।

स्वप्न में ज्ञात होता है कि हमारी कल्पनाशक्ति कितनी प्रबल है और सुषुप्ति में ज्ञात होता है कि सबका अभाव मेरे रहते मुझमें हो जाता है। संसार प्रतीतिमात्र है, स्वप्न है। अपने स्वरूप में संसार नाम की कोई वस्तु नहीं है।

अपने स्वरूप को समझने के लिए ऐसा समझो कि ईश्वर ने जब जीव को संसार में भेजा तो इस आशंका से कि जीव अपने स्वरूप को, अपनी ब्रह्मता को भूल न जाय, इसके लिये उसके साथ तीन अवस्थाएँ जोड़ दीं। यह इसलिये कि जब जीव को विचार

का उदय होगा तो वह अन्वय व्यतिरेक से सोचेगा कि जो जाग्रत् म है, वह स्वप्न में नहीं और जो स्वप्न में है वह सुषुप्ति म नहीं, अत ये तीनों अवस्थाएँ मेरे कपड़े हैं। ये मेरा स्वरूप नहीं हैं।

'हित्वा सर्वान् विशेषान् विगत गुणगण ।' जाग्रत् अवस्था के गुण, स्वप्नावस्था के गुण, सुषुप्ति अवस्था के गुण—सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण–यहा गुण का अर्थ है विषय, सब गुणों को छोड़कर–'विगत गुणगण' अर्थात् निर्विषय।

हमारे दर्शन अनेक हैं। उनकी भूमिका अनेक हैं। किसी म किसी न किसी भाव की प्रधानता होती है। सत्त्व, रज और तम–यह जो तीन गुण कहे जाते हैं, इनकी प्रधानता साख्य और योग मे है। वेदान्त म गुण शब्द का अर्थ है विषय, द्रव्य । 'विगत-गुणगण' का अर्थ हुआ द्रव्यरहित होकर।

'पात्वमौ नस्तुरीय ।' यह द्रव्यरहित जो स्वरूपभूत तुरीय है, अविद्या निवृत्ति के द्वारा आत्मभूत होकर, हमसे एक होकर, सम्पूर्ण अनर्थों से रहित होकर हमारी रक्षा करे। रक्षा करे का अभिप्राय है कि अविद्या, कामादि दोष हमारे म न आये ।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'प्रज्ञानांशु प्रताने' इस मगलाचरण के प्रथम श्लोक में प्रतिपाद्य वस्तु परब्रह्म परमात्मा का वर्णन है और उस परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न जो गुरुदेव हैं, जिनकी कृपा से उस तत्त्वका साक्षात्कार होता है, उनके जीवन्मुक्त स्वरूपका वर्णन मगलाचरण के इस दूसरे श्लोक में है ।

'पात्वसौ नस्तुरीय' हमारे तुरीय तत्त्व, हमारे परब्रह्म तो यह हमारे साक्षात् बैठे गुरुदेव ही हैं। क्योकि महापुरुष के चरित्र का नाम धर्म है और महापुरुष की वाणी का नाम शास्त्र है। महापुरुष के मनोराज्य का नाम वैकुठ, साकेत, शिवलोकादि है। ऐसे महापुरुष की सुषुप्ति का नाम समाधि है। महापुरुष जो स्वय है, वह साक्षात् ब्रह्म है। तो इस श्लोक में परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप म अपने गुरुदेव का ही वर्णन करते हुए आद्य शकराचार्यजी महाराज, लिखते हैं कि हमारे तुरीय साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तो यह गुरुदेव हैं जो जाग्रत् अवस्था म विश्वात्मा बनकर शरीर के द्वारा भोगों को भोग रहे हैं। फिर जब उनकी मौन होती है तो बाहर के भोगो को छोड़कर अपने मन से ही स्वर्ग में इन्द्र बनकर विहार करते हैं। यही वैकुठ में नारायण, कैलाश में शकर बने हैं। दत्तात्रेय, शुकादि अवधूतो के रूपमें यही विचरण कर रहे हैं। फिर जब ये सुषुप्तिस्थ होते हैं–सब प्रपञ्चों को अपने में लीन कर लेते हैं। यही तो उनकी समाधि है। वास्तव म ये सारी बातें उनमें नहीं हैं। वे 'विगतगुणगण' साक्षात् ब्रह्म हैं। वे हमारी रक्षा करें। ज्ञान–ध्यान के द्वारा हमारी अविद्या को निवृत्त कर दें–नष्ट कर द ।

उपोद्घात

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं वेदान्तसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते । अतएव न पृथक्सम्बन्धाभिधेय प्रयोजनानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वेदान्ते सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति । तथापि प्रकरण व्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि ।'

ॐ यह अक्षर ही यह सब है । उसका उपव्याख्यान करते हैं। यह 'प्रणव' नाम-से, आकृति से, अवस्था से, तत्त्व से जिस दृष्टि से भी विचार करो, सर्वात्मक है।

अब पहले आकृति में देखो-नासिका और भौंह यह प्रणव का प्रथम भाग अकारात्मक है। भौंह से ब्रह्मरन्ध्र तक जो धारा जाती है वह उकारात्मक है और उसके बाद अमात्र है। दोनों बाहु और धड़ अकारात्मक हैं, कण्ठ उकारात्मक है और अमात्र तो अतीत है ही। शरीर का तीसरा नीचे का भाग है। उसमें चरण और मूत्रेन्द्रिय अकारात्मक है; उसके ऊपर का भाग उकारात्मक है और फिर अमात्र है। संसार में जितनी भी आकृतियाँ बनती हैं, रेखाओं से बनती हैं। रेखा सीधी और घुमावदार तथा बिन्दु-बस इनसे सब आकृतियाँ बनेंगी और प्रणव इन तीनों का संयुक्त प्रतीक है।

जितने अक्षर हैं, अ, आ, इ, ऊ आदि, ये सब अकार मात्र हैं। एक 'अ' ही स्वर तथा उच्चारण के भेद से सब अक्षर बनता है। अ और इ में जो भेद है, वह अकार का भेद नहीं है। वह तो उच्चारण की प्रक्रिया का भेद है। इसी प्रकार अकार के बिना क, ख, ग, आदि कोई अक्षर नहीं हो सकते हैं। इसलिये जितने नाम हैं, सब अकार से ही-अकार के ही उच्चारण भेद से बने रूपों से बने हैं।

ॐ की आकृति में पहला भाग 'अ' का है। उसके पीछे जो पूँछ-सी लगी है, वह उकार है। उकार की मात्रा हम सब इसी प्रकार लगाते हैं । ऊपर जो चन्द्रबिन्दु है, वह अनुस्वार है-मकार है। इस प्रकार प्रणव की आकृति में तीन अक्षर अकार, उकार और मकार हैं।

इन तीन अक्षरों का विचार करें तो अर्थ की दृष्टि से प्रणव जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयावस्थात्मक है। इसके अर्थ का विचार करने पर विश्व, तैजस, प्राज्ञ और इनके जो विलास हैं, इनकी जो वृत्तियाँ हैं वे सबकी सब प्रणव में ही सन्निहित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रणव सर्वात्मक है। इस उपनिषद् में यह बात विस्तार से आयेगी, इसलिए यहाँ उसका वर्णन नहीं करना है।

उपव्याख्यान—ख्यान का अर्थ होता है ख्याति-प्रगट करना। जब इसमें 'आ' उपसर्ग जुड़ जाता है तो आख्यान का अर्थ होता है पूर्ण रूप से ख्यात करना। इसीमें जब 'वि' उपसर्ग लग जाता है तो व्याख्यान का अर्थ हो जाता है पूर्णरूप से विशिष्ट प्रक्रिया से प्रगट-प्रसिद्ध करना। 'उप' का अर्थ होता है समीप, अतः 'उप' लग जाने का अर्थ हुआ समीप से। ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। अतः जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान हो जाय, उस रीति से जो व्याख्या की जाती है उसे कहते हैं उपव्याख्यान। प्रणव की इस ढंग से व्याख्या प्रारम्भ करते हैं जिससे हमारे हृदय में ब्रह्मज्ञान का उदय हो, उससे अविद्या की निवृत्ति होकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाय। इसको उपव्याख्यान कहते हैं।

'वेदान्तसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याधारभ्यते।'

वेद का अर्थ है शब्दत्रयात्मक, अपौरुषेय, सम्प्रदायाविच्छेद से प्राप्त—अनादि-परम्परा प्राप्त वह शब्द राशि जिसकी आनुपूर्वी में कभी किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। जो ज्यों-की-त्यों रहती है। वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान नित्य है, वह बनाया नहीं जाता। उस ज्ञान-राशि को वेद कहते हैं। ईश्वर भी वेद का निर्माण नहीं करता, क्योंकि ईश्वर ने वेद बनाया हो तो उससे पूर्व उसमें वेद-ज्ञान नहीं होगा, इस प्रकार ईश्वर में अज्ञान कभी था, यह मानना होगा। वेद ईश्वर का श्वास-प्रश्वास—जीवन है। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् .... ' मनुष्य के जीवन का प्रतीक श्वास है। इसी प्रकार वेद ईश्वर के श्वास हैं। ईश्वर अनादि अनन्त है, इसलिये उसके श्वास-रूप वेद भी अनादि अनन्त हैं। ईश्वर स्वभाव से सर्वज्ञ एवं परम कारुणिक है, अतः उसके निःश्वास-रूप वेद भी समस्त प्राणियों के लिये हितकारी हैं।

ईश्वर की-विराट् पुरुष की श्वास यह वायु है। उसमें पंडित-मूर्ख, सदाचारी-अनाचारी सभी को श्वास लेने की पूरी सुविधा है। इसी प्रकार वेद भी सम्पूर्ण प्राणियों के लिए हितकारी हैं। जो जैसा अधिकारी है, उसके लिए वेद वैसे साधन का विधान करते हैं। देहाभिमानी के लिये कर्म का उपदेश, जिससे वह देहाभिमान को पार कर सके। सूक्ष्म-शरीराभिमानी के लिये उपासना या योग का उपदेश, जिससे वह सूक्ष्म शरीर से ऊपर उठ जाय और जो अज्ञान में-कारण शरीर में-अविद्या में आबद्ध हैं उनको मुक्त करने के लिए ज्ञान का उपदेश, इस प्रकार वेद काण्ड-त्रयात्मक है। कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड, ज्ञानकाण्ड ये तीन उसके काण्ड हैं। इस प्रकार देहासक्त-भोगासक्त के लिये धर्मानुष्ठान, सूक्ष्म शरीर, राग-द्वेष अथवा मनोराज्य में आसक्त के लिये उपासना एवम् योग तथा कारण-शरीर-निद्रा या समाधि में रस लेने वाले के लिये ज्ञान का उपदेश वेद करते हैं अधिकार भेद से साधन में।

ऐसे वेद का अन्त—परम तात्पर्य जो है, उसे वेदान्त कहते हैं। उपनिषद् के शिरो-भाग-वेद के शिरोभाग-अन्तिम तत्त्व को वेदान्त कहा जाता है। वेदान्त का सीधे-सीधे

अर्थ ज्ञानकाण्ड समझ लो जिसमें कर्म, उपासना तथा योग का भी उपयोग है—सबके द्वारा जितनी प्राप्ति होती है। जो कुछ भी किया जाता है, वह चाहे शरीर से हो या मन से, उसे करने के पश्चात् एक उपलब्धि—एक अनुभूति होती है। सब कुछ करने सब कुछ सोचने के बाद एक उपलब्धि है। उपलब्धि का फल कर्म एवं उपासना नहीं। हम कुछ पाने के बाद करें, ऐसा नहीं है, हम कुछ करने के बाद पाते हैं। उपलब्धि सदा ज्ञानात्मक होती है। हमको अमुक वस्तु मिल गयी, यह ज्ञान होता है। इसलिये कर्म-उपासना का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल कर्म या उपासना नहीं।

'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।' रामचरितमानस
'तस्य कार्यं न विद्यते।'
नैव तस्य कृतेनार्थो।' गीता

जहाँ अन्य का ज्ञान होता है वहाँ उसमें राग या द्वेष उत्पन्न होता है। हमने जान लिया कि अमुक भले आदमी हैं तो उनसे मिलो, उनके पास बैठो, उनसे मित्रता करो। और जान लिया कि अमुक बुरे लोग हैं तो उनका साथ छोड़ दो, यह कर्तव्य बनता है। अतः हेय एवं उपादेय का ज्ञान जो भेदज्ञान है, वह प्रवर्त्तक एवं निवर्त्तक होता है। अच्छे के ज्ञान से प्रवृत्ति और बुरे के ज्ञान से निवृत्ति होगी; किन्तु अपने स्वरूप का ही ज्ञान हो तो उसमें प्रवृत्ति होगी या निवृत्ति? अपने को पकड़ेंगे या छोड़ेंगे? अतः स्वरूपज्ञान प्रवर्त्तक या निवर्त्तक नहीं होता। उसमें विधि-निषेध नहीं है।

'अविद्यावद्विषयाणि' जितने विधि-निषेध हैं, सब अज्ञानी के लिये हैं। तत्त्वज्ञ के लिये नहीं हैं। वेदान्त सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य है। इसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ भी कर्तव्य, कुछ भी प्राप्तव्य, कुछ भी त्यक्तव्य, कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। जिसने वेदान्त के अभिप्राय को जान लिया, वह कृतार्थ हो गया।

वेदान्तार्थ क्या? वेदान्त में सात विषयों का प्रतिपादन होता है। १-अधिकारि निर्णय २-गुरूपसत्ति ३-तत्पदार्थ एवं त्वंपदार्थ का शोधन ४ दोनों की एकता ५-विरोध-परिहार—समन्वय ६-साधन ७-फल। इन सातों का वर्णन सम्पूर्ण वेदान्त में होता है। इसका नाम वेदान्तार्थ। इनमें से प्रत्येक पर अब थोड़ी बात कह दें।

अधिकारी निर्णय

अधिकारी—साधनचतुष्टयसम्पन्न। वेदान्तार्थ की उपलब्धि के लिए जाति-भेद या लिङ्ग-भेद की अपेक्षा नहीं है। वेद तथा उपनिषदों के स्वाध्याय में तो शास्त्र के अनुसार विधि-निषेध हैं; किन्तु अर्थज्ञान में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। क्योंकि महाभारत, पुराण तथा भाषा ग्रन्थों से भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है।

कर्म शरीर से होता है, अत यज्ञादि कर्म में शरीर की जाति लिंग आदि अधिकार देखा जाता है, किन्तु ज्ञान तो बुद्धि से होगा। अत शमादिसम्पन्न जिज्ञासु ही ज्ञानका अधिकारी है। वेदान्त के प्रसग में जहाँ ब्राह्मणादि जातिका वर्णन आया है, वहाँ शम-दमादि जो ब्राह्मण के अन्तःकरणनिष्ठ लक्षण हैं उन लक्षणों से युक्त व्यक्ति समझना चाहिये। अत वेदान्त में दैहिक अधिकार की बात नहीं है, बौद्धिक अधिकार की बात है और इसीसे शम दमादियुक्त पुरुष अपेक्षित है।

वेदान्त म श्रवण शब्द भी पारिभाषिक शब्द है। 'वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानत' षड्लिङ्गद्वारा विचार करने पर सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य म है, इस निर्णय का नाम श्रवण है। श्रवणशष्कुली—कान के छेदमें शब्द जाकर टकरायें इसका नाम श्रवण नहीं है। कान में महावाक्य जाने मात्र से ज्ञान नहीं हो जायगा, तत्पदार्थ तथा त्वम् पदार्थ का शोधन करके असि जो पदार्थ है वह दोनों के ऐक्य का बोधक है, इसलिये जो आत्मा है वही परमात्मा है, इस बुद्धिवृत्ति-निश्चय को वेदान्त में श्रवण कहते हैं। श्रवण से तात्पर्य है महावाक्य के अर्थ निश्चय से। ऐसा निश्चय महावाक्य सुनने से हो या महावाक्य के पर्यायवाची किसी शब्द से। जिस वाक्य का अर्थ महावाक्य वाला है, वह भी महावाक्य ही है। अत उसके अर्थ का निश्चय श्रवण है।

जहाँ वस्तु परोक्ष होती है, वहाँ श्रवणमात्र से ज्ञान नहीं होता, किन्तु जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है वहाँ श्रवणमात्र से ज्ञान हो जाता है। लेकिन प्रत्यक्ष वस्तु में भी श्रवणमात्र से ज्ञान कब होगा? जब भाषा का ज्ञान हो, जैसे 'यह पुस्तक है' इस वाक्य के श्रवण से तात्पर्य ज्ञान उसी को होगा जो 'यह' 'पुस्तक' और 'है' इन शब्दों का अर्थ पहले से जानता हो।

अच्छा, अब मानलो कि हमें नित्यानित्यवस्तु-विवेक करना है। एक नित्य है और अन्य अनित्य। ससार में हम इन्द्रियों या चित्तवृत्ति के द्वारा अनेक पदार्थों का अनुभव होता है। पदार्थ कभी अनुभव में आता है, कभी नहीं आता, किसी रूप म अनुभव में आता है, किसी रूप म नहीं आता। अत इस में जो अनुभाव्य विषय है वह अनित्य है और अनुभविता- अनुभव करनेवाला नित्य है।

'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते ।'

उद्योग करके हम मकान बनाते हैं या काम करके कुछ वस्तुएँ एकत्र करते हैं तो समय पाकर वे क्षीण हो जाती हैं। इसी प्रकार कर्म-धर्म करके हम लोक-परलोक के लिये जो पुण्य या वस्तुएँ इकट्ठी करते हैं, वे भी समय पर नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार लोक और परलोक की अनित्यता का जो विवेक है वह ज्ञान का पर्यायवाची नहीं है। 'विचिर् पृथक्भावे' से विवेक शब्द बना है। विवेचन को विवेक कहते हैं। विवेक भेद का होता है। जहाँ कई वस्तुएँ मिल गयी हैं वहाँ उन्हें पृथक्-पृथक् कर देना विवेक है। अनित्य का

विवेक करके अनित्य से जो राग-द्वेष है उसे छोड़ देना और नित्य में जो सहज प्रीति है उसे जगाना, यह नित्यानित्यवस्तु-विवेक का स्वाभाविक फल है।

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' कर्म से बताये जो लोक-परलोक हैं, उनकी परीक्षा करके विवेकी ब्राह्मण विरक्त हो जाय। यहाँ यह समझ लेना है कि जब विवेक करेंगे तो वैराग्य स्वभाव से होगा। यदि विवेकी होने पर भी वैराग्य न आवे तो समझना चाहिये कि विवेक में कहीं भूल है। वह विवेक नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु को नाशवान, अपवित्र, मूर्खतामयी एवं दुःखरूप समझने पर उससे प्रीति नहीं होती। उससे रागकी निवृत्ति हो जाती है। अतः विवेक का फल वैराग्य स्वाभाविक है।

अपने जीवन में वैराग्य आता है तो छः बात स्वभाव से आती हैं—उन्हीं को वेदान्त में शमादि षट्सम्पत्ति कहते हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोहादि की शान्ति। जब हम धन या व्यक्ति के विषय में सोचते हैं कि यह हमको अपने साथ न जँचे, तब वह हट जाय, चला जाय, नष्ट भी हो जाय तो हमें कोई कष्ट न होगा। जिसे हम छोड़ आये बुरा समझा, वह छूट गयी तो कोई हर्ज नहीं। इस प्रकार काम-क्रोध-लोभादि विकारों की अपने आप शान्ति हो जाती है। यह वैराग्य का फल नहीं, वैराग्य का विलास है।

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठ०

यह आवश्यक है। हमारे जीवन में यह जो अशान्ति है, काम-क्रोधादि के शान्त नहीं होने से ही है। कोई केवल बुद्धिमत्ता से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिये शम होना चाहिये। क्रोधादि से वैराग्य का नाम शम है।

काम क्रोधादि तो नहीं हैं, किन्तु धर्म के अनुसार-न्याय के अनुसार हमको बहुत सा धन मिल गया। हमारे पास स्त्री, कपड़े, भोजन, आदि सब हैं और उच्छृङ्खल भाव से उनका जितनी हमारी इच्छा हो-हम भोग करते हैं। सरकार कहती है-यह तुम्हारा है। कानून से तो तुम्हें मिला है, लेकिन धर्म से मिले इन भोगों को भी भोगो मत-दम करो। निषिद्ध कर्म से इन्द्रियों के दमन का नाम दम नहीं है। वह तो अधर्म होने के कारण त्याज्य है-दुश्चरित से विरत हुये बिना परमात्मा की प्राप्ति होगी नहीं। अब दम क्या है? जो कानून से, धर्मानुसार, न्यायप्राप्त हमारे पास भोग्यवस्तु है, उनमें भी अपनी इन्द्रियों का दमन करना। काम-क्रोध आदि से वैराग्य का नाम शम और इन्द्रियों का जो वैधभोग-विहित भोग है, उससे वैराग्य का नाम दम है।

इन्द्रियों का हम दमन करते हैं, किन्तु कर्म करने की तो छुट्टी है? नहीं, यह कर्माधिक्य भी तत्त्वज्ञान में बाधक है। श्रीमद्भागवत में इसका एक बहुत सुन्दर प्रसंग है। सनकादि ने जाकर ब्रह्माजी से पूछा कि महाराज, मन विषयों में और विषय मन में प्रविष्ट हो गये हैं। इनका विवेक-इनका पृथक्करण कैसे हो? वहाँ लिखा है-'नाभ्यपद्यत कर्मधी'

ब्रह्माजी की बुद्धि उस समय जीवों के कर्म-निर्णय में लग रही थी कि इसका ऐसा कर्म है, अतः इसे ऐसा शरीर दो, अतः उनको इस प्रश्न का उत्तर नहीं सूझा। क्यों नहीं सूझा? इसलिये कि उनकी बुद्धि कर्म में लगी थी। यह कर्म से वैराग्य-उपरति है।

अब आगे है तितिक्षा। यह वैराग्य का विलास है। देह से वैराग्य अर्थात् सर्दी-गर्मी एवं दूसरे सब प्रकार के कष्ट बिना चिन्ता, बिना विलाप सह लेना तितिक्षा है।

अभिमान से वैराग्य का नाम श्रद्धा है। मनुष्य को अपने उच्चकुल, धन, पद, विद्या, तपस्या आदि का अभिमान होता है। जब किसी पर श्रद्धा करते हैं तो उनके सामने यह सब अभिमान टूटता है। अभिमानरूपी रोग की निवृत्ति के लिये श्रद्धा महौषधि है। वेद की, शास्त्र की, गुरु की बात मानना श्रद्धा है। अपने अभिमान में हम अपने से बड़ा बुद्धिमान किसी को नहीं मानते। ऐसी अवस्था में जब तुम अपना हितैषी किसी को नहीं मानते, किसी पर श्रद्धा नहीं करते, तो तुम्हारा सहायता कोई कैसे करेगा? तुम्हारा कल्याण कैसे होगा? मनोराज्य की शान्ति का नाम समाधान है। यह भी सिद्धियों की इच्छा से रहित होना चाहिये-'नासमाहित'।

यह छहों वैराग्य के विलास हैं। अब देखो कि हमारे भीतर ये छः हैं या नहीं। ज्ञात होगा कि ये कभी न कभी धोखा दे जाते हैं। ये छः के छः निरन्तर नहीं रहते। इसका कारण है अन्तःकरण का स्वभाव। वह सदा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान को धारण करने में समर्थ नहीं।

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः'

यह श्रुति सबकी सम्मति में प्रमाण है। अब मुमुक्षा क्या? अन्तःकरण मानता नहीं, कोई न कोई दोष अपने भीतर प्रकट कर देता है। इसे समाधि से शान्त करें तो वहाँ से उत्थान होगा। इष्टदेव में लगाये तो वहाँ से भी हटता है। धर्मानुष्ठान में लगायें तो भी रजोगुण-तमोगुण में आता ही है। अतः ऐसी युक्ति होनी चाहिये कि अन्तःकरण का बन्धन सदा को छूट ही जाय। अन्तःकरण रहेगा तो संस्कार ग्रहण करेगा। प्रिय संस्कार लेगा तो सुखी होगा, अप्रिय लेगा तो दुःखी होगा। अतः इससे—व्यक्तित्व से-परिच्छिन्नत्व से छुटकारा होना चाहिये। जब तक हम परिच्छिन्न रहेंगे, तब तक करण की निवृत्ति नहीं होगी। करण रहेंगे तो कर्म होंगे, कर्म के संस्कार आयेंगे और कर्ता रहेंगे तो भोक्ता भी रहेंगे, भोग के संस्कार भी आयेंगे। अतः परिच्छिन्न रहेंगे तो संसारी होना पड़ेगा। इस संसारीपन के निवृत्त करने की जो तीव्र आकांक्षा है, उसे मुमुक्षा कहते हैं।

इस चतुष्टय-साधन से सम्पन्न पुरुष अधिकारी है। यह अधिकार तो बड़ा कठिन हो गया। इसका तो अर्थ हुआ कि संसार में कदाचित् ही कोई अधिकारी मिले। इस सम्बन्ध में कई भ्रम हैं और कई बाधाएँ हैं। उनकी थोड़ी चर्चा कर दें। सबके लिये आश्वासन की बात भी थोड़ी होनी ही चाहिये। कोई कैसा भी पापी है, उसके लिये डरने की आवश्यकता नहीं। बिल्कुल मत डरो!

'अपि चेदसि पापेभ्यो सर्वेभ्यः पापकृत्तम ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥'—गीता

भक्त लोग अपने मार्ग की सुगमता के विषय में घोषणा करते हैं—

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥' -गीता

अतः पापी भी भक्ति का अधिकारी है । कितना सुगम है । कितना उन्मुक्त द्वार है सबके लिये ।

वही गीता और वही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ज्ञान के विषय में भी कहते हैं-'अपि चेदसि पापेभ्यो...।'यदि तुम संसार में सब पापियों से बड़े पापी हो तो भी ज्ञान-नौका पर आरूढ़ होकर-केवल ज्ञान से अर्थात् कर्म, उपासना, योग आदि के किये बिना ही, सारे पाप-ताप से पार हो जाओगे । अतः अबमें पूर्व जो पाप हुए, उनकी चिन्ता छोड़ दो । अब रहा साधन-चतुष्टय एवं षट्-सम्पत्ति । तो तुम घर द्वार छोड़कर घंटे भर को यहा आये हो, कुछ परमार्थ चर्चा में सुख लगता है, कुछ विवेक है, कुछ वैराग्य है, तब तो आये हो । यहा न कोई इन्द्रिय-भोग है तुम्हारे सामने और न कोई काम-धन्धा है । यहाँ उपरामता कुछ तो है । यहाँ बिना गद्दे के, बिना सुख-सुविधा के बैठे हो । यह तितिक्षा भी है ही । श्रद्धा न होती तो यहाँ आते ही क्या? नीचे क्यों बैठते ? तुम्हारा मन यहाँ पर मनोराज्य भी नहीं करता है, यह समाधान है । वेदान्त की बात सुन रहे हो तो सोच भी रहे हो, कुछ मन में भी आ रही है, यह हुई मुमुक्षा । इस प्रकार इस समय तो तुम्हारे जीवन में षट्सम्पत्ति दीखती है ।

यह षट्सम्पत्ति जो इस समय तुममें दीखती है । क्षणिक है, स्थायी नहीं है । लेकिन शास्त्र में यह कहीं नहीं लिखा कि जब तुम श्रवण के लिये गुरु के समीप जाओ तो उससे कितने वर्ष, महीने, दिन या घंटे पहले से तुम्हारे भीतर षट्सम्पत्ति होनी चाहिये । जिस समय तुम वेदान्त-विचार करने बैठो, उस समय तुममें यह षट्सम्पत्ति होनी चाहिये-शास्त्र का यही तात्पर्य है । अब शंका यह होगी कि यह अवस्था आगे तो नहीं रहेगी-तो कल फिर आना। इसी प्रकार बार-बार प्रयत्न करते हुए किसी दिन श्रवण करते हुए तुमको बोध हो गया तो षट्सम्पत्ति की फिर आवश्यकता ही नहीं रहेगी । अतः सत्संग करते चलो, निश्चय ही अधिकारी बन जाओगे । अधिकारी के सम्बन्ध में यदि तुम्हारी यह भावना है कि पहले एक बार हमको सगुण साकार ईश्वर का दर्शन होगा, तब हम वेदान्त के अधिकारी होंगे, तो इष्ट में प्रीति-बन्धन हो जाने की सम्भावना है । तब तुम्हें मनपसन्द ईश्वर की प्राप्ति हो जायगी, लेकिन ईश्वर जैसा है, वैसा नहीं मिलेगा । तत्त्वज्ञान में इष्ट राग भी प्रतिबन्ध ही है ।

यदि सोचते हो कि पहले योग करें और समाधि लग जाय तब तत्त्वज्ञान के अधिकारी होंगे, तो भाई! समाधि में तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाधि में तो वृत्ति रहती नहीं है और अविद्या की निवृत्ति के लिये ब्रह्माकारवृत्ति की आवश्यकता है। अत समाधि अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा वृत्तिज्ञान में उपयोगी हो सकती है। *समाधि-संस्कारजन्य प्रज्ञा 'मैं' समाधिकाल में निर्विषय और निर्वृत्तिक था-इसलिये अब* भी वैसा ही हूँ, वेदान्त के लिये उपयोगी है। परन्तु 'मैं' ब्रह्म हूँ-यह ज्ञान समाधि में नहीं हो सकता। अत समाधि अज्ञान को निवृत्त नहीं कर सकती। अत समाधि के बिना तत्त्वज्ञान होगा ही नहीं, यह बात चित्त में बिल्कुल मत रखो। फिर समाधि केवल प्राणायाम से ही नहीं लगती। आसन से लगती है। तदाकार वृत्ति से लगती है। विचार से भी लगती है। जिस विषय में गाढ़ विचार करेंगे, उसमें समाधि लग जायगी। फिर समाधि का बाध भी हो जायगा। समाधि अन्तःकरण में लगती-टूटती है और अधिष्ठानज्ञान से अन्तःकरण का बाध हो जाता है। अत अपने अधिकार के सम्बन्ध में जो असम्भावना, विपरीत भावना, संशय विपर्यय हो, उसका निवारण कर देना चाहिये।

शुद्धान्तःकरण मुमुक्षु, वेदान्त का अधिकारी है। अब अन्तःकरण-शुद्धि के साधन पर विचार करते हैं। श्रुति कहती है कि इन्द्रियों के द्वारा पवित्र कर्मों का अनुष्ठान और पवित्र विषयों का संयम पूर्वक सेवन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धि ।

श्रीरामानुजाचार्य जी 'आहार' पद का अर्थ करते हैं भोजन। इस आहार में तीन प्रकार की शुद्धि होना आवश्यक है। प्रथम तो भोजन की वस्तु जाति से-स्वरूप से शुद्ध हो। मांसादि की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है, प्याज, लहसुन, पर्वाती छत्ता उच्छिष्टान्न आदि जाति से ही अशुद्ध हैं। दूसरे, निमित्त से अशुद्ध। जिस स्थान पर भोजन बना, जिन बर्तनों में बना, जिस बर्तन में रखा गया वे अशुद्ध थे अथवा भोजन में कौवे या कुत्ते ने मुख डाल दिया। किसी प्रकार कोई अशुद्ध वस्तु भोजन में मिल गयी तो वह निमित्त हुई और उस निमित्त के दोष से भोजन अशुद्ध हो गया। तीसरा दोष आश्रय दोष है। भोजन बनाने वाला अशुद्ध है अथवा वह रो रहा है। जो स्त्री रोते-रोते भोजन बना रही है, उस भोजन करने वालो को रोना पड़ेगा। एक प्रकार का आश्रय दोष और भी है। जिस धन से भोजन सामग्री आयी, वह ईमानदारी की कमाई का होना चाहिये। यह कमाई छल-कपट, चोरी, बेईमानी की हो तो आये पदार्थ को खाने वाले का मन शुद्ध होना असम्भव है। इस प्रकार जो लोग अन्न से मन की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मन में आहार का इस प्रकार शुद्ध होना आवश्यक है।

शौचानामपि सर्वेषामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि सशुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः ॥

दूसरा मत है कि कर्म के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है । जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार संस्कार बनते हैं । संस्कार के अनुसार ही वासना आती है । इस लिये यदि हमारी क्रिया शुद्ध होजाय-निषिद्ध कर्म का परित्याग होकर विहित कर्म ही हों तो चित्तशुद्धि हो जायगी । इन दोनों मतों का भेद समझ लो । अन्नमय कोष में जिनकी अवस्थिति होगी, उनका आहार-प्रधान अन्तःकरण शोधन होगा और प्राणमय कोष में जिनकी अवस्थिति होगी, उनका अन्तःकरण शोधन-क्रिया प्रधान होगा ।

'यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्

कर्म में भी वह कर्म करणीय है जिसे करते हुए ग्लानि न हो, अपने में तृप्ति तथा पवित्रता का अनुभव हो ।

तीसरा मत है कि अन्तःकरण की शुद्धि अशुद्धि वासना-संकल्प के अनुसार होती है अर्थात् हमारे चित्त की वृत्ति शुद्ध होनी चाहिये । अन्तःकरण] विज्ञानमय-वासनात्मक है । यह शुद्ध वासना के उदय से शुद्ध और अशुद्धवासनोदय से अशुद्ध होता है । अतः अन्तःकरण की शुद्धि उपासना से होती है । अपने मन में यह इच्छा आयी कि मैं श्रीराम कृष्ण, शिव या श्रीनारायण को प्राप्त करूँगा तो धर्म से पचास इच्छायें तो धर्म से विपरीत होने के कारण छूट गयीं और उनचास इच्छायें अपने इष्ट से भिन्न विषय की होने के कारण छूट गयीं । केवल इष्ट विषयक इच्छा मन में रहती है । इस प्रकार उपासना के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है ।

चौथा मत है कि सम्पूर्ण वासनाओं को अभिभूत करके समाधि प्राप्त करनी चाहिये; क्योंकि अन्तःकरण में वासना बनी रहेगी तो पता नहीं कब अच्छाई के स्थान पर बुराई आजाय । निर्विषयक, निर्विकल्प, निर्बीज, असम्प्रज्ञात, समाधिपर्यंत अन्तःकरण की शुद्धि ही तो है । यह योग मार्ग है । चित्त को सर्वथा निर्विषयक बना देना, न मन में विषय आयेगा, न अशुद्धि आयेगी । दोष तभी होते हैं, जब अन्तःकरण सविषय होता है । चित्त में पुरुष या कामिनी है तब काम है । जब धन है तब लोभ है । जब शत्रु का स्मरण है तब द्वेष है । यदि चित्त निर्विषय हो जाय तो न काम, न क्रोध, न लोभ, न मोह । काम सविषयक है, क्योंकि उसमें पुरुष या स्त्री की अपेक्षा है और ब्रह्मचर्य निर्विषयक है; क्योंकि उसमें कुछ अपेक्षा नहीं । इसी प्रकार सन्तोष, शान्ति, निर्मोह ये निर्विषयक हैं । वास्तव में अन्तःकरण की शुद्धि एक सद्गुण है-वह है अपने अन्तःकरण

को शान्त रखना। अन्तःकरण की इस शान्ति को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं, सन्तोष, निष्कामता, निर्मोहता आदि कहते हैं। अन्तःकरण की शान्ति से सम्पूर्ण दोषों की निवृत्ति हो जाती है। यह एक सद्गुण है और दोष सब के सब दुर्गुण हैं। सद्गुणों के अनेक नाम तो दोषों के व्यावर्तक भेद से कल्पित होते हैं—जैसे काम को नष्ट करने वाली शान्ति ब्रह्मचर्य, लोभ को नष्ट करनेवाली शान्ति सन्तोष कहलाती हैं।

पाँचवा मत है कि अन्तःकरण न अन्नजन्य है, न प्राणजन्य, न कर्मजन्य, न वासना-जन्य और न सत्तात्मक ही है।

न वाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः

मन की सत्ता ही नहीं है। न यह बाहर है, न भीतर। इसके लिये कोई प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं है।

यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते

विषय की प्रतीति को ही मन कहते हैं। जहाँ अन्यरूप से विषय की प्रतीति है, वहाँ चेतन को ही मन कहते हैं। जहाँ 'अन्यता' रहित विषय की प्रतीति है, वहाँ मन को ही चेतन कहते हैं। अतः मन में जो शुद्धि विषयक प्रतीति है उसीका नाम अन्तःकरण की शुद्धि है और अशुद्धि विषयक प्रतीति का नाम अन्तःकरण की अशुद्धि है। हम केवल शुद्ध का चिन्तन करें। शुद्ध माने—जिसमें दूसरी वस्तु मिली न हो। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म का चिन्तन ही अन्तःकरण की शुद्धि है। इसलिये अब आत्मब्रह्म जिज्ञासा प्रारम्भ करें।

तुम्हारा अन्तःकरण जन्मजात शुद्ध है। जितने समय तुम परमात्मा का चिन्तन करते हो, उतने समय तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध रहता है और जितने समय संसार का चिन्तन करते हो, अशुद्ध रहता है। बहुत दिनों के अभ्यास से अन्तःकरण को शुद्ध नहीं होना है। परमात्मा के चिन्तन में लगो, बस अन्तःकरण शुद्ध हो गया क्योंकि चिन्तन के अतिरिक्त अन्तःकरण और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार शुद्ध परमात्मा का चिन्तन प्रारम्भ करते ही तुम शुद्धान्तःकरण होने के कारण वेदान्तश्रवण के अधिकारी हो गये।

गुरूपसदन

गुरूपसदन—गुरु की शरण जाना है।

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।"

ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाना [illegible]
जाना चाहिये। मन में संसार को अपना सर्वस्व [illegible]
यह शरणागति नहीं है।

'यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।'

गुरु में पूरी भक्ति होनी चाहिये, अर्थात् गुरु, इष्ट, आत्मा और मन्त्र इन चारों में एकता होनी चाहिये । गुरु शरणागति में पहली बात है कि जो अविश्वासी है वह गुरु की शरण नहीं जाता। अविश्वास जिस हृदय में है, वह उसी हृदय को दुःख देगा। जिसके प्रति होगा, उसको दुःखी नहीं करेगा । यदि संसार में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके प्रति तुम्हारे चित्त में संशय तथा अविश्वास न हो तो तुम्हारे अन्तःकरण की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है ।

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।'

स्वयं समझना नहीं और किसी पर श्रद्धा नहीं तो उसका फल क्या होगा ? संशय और विनाश । अपने अन्तःकरण में संशय एवं अविश्वास नहीं हो तो यही अन्तःकरण की शुद्धि है ।

दूसरी बाधा है अभिमान । परमात्मा मापरहित है अर्थात् देश काल, वस्तुकृत अन्त उसमें नहीं है । वह परिपूर्ण है । हममें अभिमान कब होता है ? जब हम अपना माप बना लेते हैं कि हम ब्राह्मण हैं, विद्वान् हैं, हिन्दू हैं, धनी हैं, तपस्वी हैं आदि, यह साढ़े तीन हाथ का शरीर हमारा माप बन जाता है ।

'ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद ।'

श्रुति कहती है कि जो ब्रह्म को अपने से अलग मानेगा वह पराभूत होगा– उसे पराजय का सामना करना पड़ेगा । एक रबड़ के थैले में पहाड़ कैसे आसकता है ? इसी प्रकार अभिमान के घेरे में कोई ईश्वर को लाना चाहे तो कभी नहीं आ सकता । ईश्वर मिलेगा तो अभिमान की निवृत्ति से ही मिलेगा । अभिमान दम्भ है । इसकी निवृत्ति गुरु शरणागति से होगी । 'दम्भम् महदुपासया ।'

श्रीमद्भागवत में मनोरोगों में से प्रत्येक की औषधि बतलायी गयी है–

'असंकल्पात् जयेत् कामं क्रोधं काम विवर्जनात् ।'

'एतत् सर्वम् गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ।'

यदि अपने गुरुदेव में भक्ति हो तो मनुष्य सब दोषों पर बड़ी सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है । क्योंकि गुरु के सामने न दम्भ होगा, न मान । गुरु में संशय नहीं होगा । उनके सामने काम, क्रोधादि भी नहीं होंगे । इसीलिये गुरूपसत्ति–गुरुशरणागति आवश्यक है ।

वेदान्त में तो गुरु के बिना काम चल ही नहीं सकता । एक दृष्टान्त लो–मेरा एक व्यक्ति का मित्र है । हम दोनों वर्षों से मिले नहीं; किन्तु पत्र-व्यवहार चलता है । मैं उसके यहाँ गया; किन्तु उसने पहचाना नहीं । मैं नाम बताता नहीं और खुला

व्यवहार करता हूँ। वह हैरान होता है। इतने में किसी ने मेरा नाम ले दिया तो गले से आ लिपटा। अब देखो कि मैं उसके सामने अपरोक्ष था या नहीं! किन्तु नेत्रों के सामने होना एक बात है और पहचानना दूसरी वस्तु।

हमारी आत्मा जो ब्रह्म है, वह परोक्ष नहीं है। हमसे कहीं दूर नहीं है। सदा सोते-जागते, उठते-बैठते अपने साथ है। यह नित्य प्राप्त है। इसमें वियोग की सम्भावना ही नहीं। इस नित्य प्राप्त आत्मा को हम पहचान नहीं रहे हैं। यदि इसमें स्थित होने से इसकी पहचान होती तो सुषुप्ति में हो जाती, समाधि में हो जाती। पास रहते हम इसे नहीं पहचान रहे हैं तो बताने वाले की आवश्यकता है। जब तक कोई बतावेगा नहीं कि यह तो तू ही है तब तक इसका ज्ञान नहीं होगा।

उपासना से जो परोक्ष ईश्वर है उसकी प्राप्ति हो सकती है। उससे तादात्म्य-थोड़ी देर के लिए एक होकर बैठना हो सकता है। अभ्यास करने से समाधि लग सकती है। सङ्कल्प-सिद्धि होने से वस्तुओं की प्राप्ति तथा स्वर्ग जाना हो सकता है। लेकिन इनमें से किसी से आत्मा की उपलब्धि नहीं होगी। शास्त्रों के अभ्यास से भी यह नहीं होगा। यहाँ तो जो ढूँढ रहा है, वही है—'आपन खेल आप ही देखे।' अतः बिना बताने वाले के आत्मा का अपरोक्ष हो ही नहीं सकता। इसीसे स्पष्ट कहा है—

'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' जो गुरुप्राप्त पुरुष है, वही इसको जानता है।

'आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।'

आचार्य से जानी विद्या ही आत्मसाक्षात्कार करा सकती है।

"नैषा तर्केण मतिरापनेया।"

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

प्रवचन, मेधा से, अध्ययन से उसकी प्राप्ति नहीं होगी, इसके लिये गुरु चाहिये। इस प्रकार वेदान्त में गुरूपसदन अनिवार्य अंग है।

—पदार्थ-द्वय—

अब तीसरी बात है पदार्थ-द्वय, क्योंकि आपको किसी वाक्य का अर्थ समझना है तो उसके अलग-अलग पदों का अर्थ समझना पड़ेगा। इसलिए महावाक्य का अर्थ समझने के लिये उसके पदों का अर्थ समझना आवश्यक है।

'तत्त्वमसि' यह महावाक्य है। इसमें तीन पद हैं-'तत्', 'त्वम्', 'असि'। इन तीनों पदों का ठीक अर्थ समझे बिना महावाक्य का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। यदि तुम इतना जानते हो कि 'तत्' यह सर्वनाम है, किसी भी परोक्षवस्तु के लिये यह एक संकेत है तो इतने से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होगा। 'तत्' पद का ठीक अर्थ- उसका लक्ष्यार्थ, अर्थात् यह किसका संकेत है, यह जानने पर ही वाक्यार्थ का ज्ञान होगा।

वाक्यार्थ ज्ञान में समस्त दर्शनों का उपयोग है। 'तत्' पदार्थ का विवेक करने के लिये सम्पूर्ण दर्शनों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वाच्यार्थ का निर्णय करने के लिये उपाधि के विवेक की आवश्यकता होगी। क्योंकि प्रकृति से सृष्टि होती है, परमाणु से या कर्म से सृष्टि होती है, इन सब बातों का जब विचार करेंगे तब उपाधि का ज्ञान होगा कि आत्मा की उपाधि क्या है ? समष्टि-उपाधि क्या है ? व्यष्टि-उपाधि क्या है ?

अधिकारी-निर्णय और गुरूपसदन तो हो गया, किन्तु इस सृष्टि का स्वरूप क्या है ? व्यष्टि क्या है ? समष्टि क्या है ? कार्य क्या है ? कारण क्या है ? बहिःकरण क्या है ? अन्तःकरण क्या है ? इन सब बातों को समझना होगा, तब पदार्थद्वय का विवेक होगा।

प्रत्येक दर्शन का, यहाँ तक कि नास्तिक दर्शनों का भी एक उपयोग है। उससे हम लाभ उठा सकते हैं। जब जैन कहते हैं कि अष्टादश दूषण रहित होने पर ही तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है तो उसका अर्थ यह लगा लो कि अन्तःकरण की शुद्धि अत्यावश्यक है। जब बौद्ध जगत् को विज्ञानमात्र अथवा शून्यमात्र कहते हैं तो वह वैराग्य के लिये-जगत् के मिथ्यात्व के चिन्तन के लिये कितनी बड़ी प्रेरणा देते हैं। अन्तःकरण की शुद्धि के लिये जैनों का त्रिरत्न (सम्यक् संकल्प, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् समाधि) कितना उपयोगी है। तात्पर्य यह कि कोई भी दर्शन द्वेष करने योग्य नहीं। उनका कहीं न कहीं उत्तम उपयोग है।

न्याय और वैशेषिक के दार्शनिक भले न मानें; किन्तु उनके दर्शन के अनुसार हम एक-एक परमाणु का चिन्तन करें तो जगत् के कारण में हमारी बुद्धि प्रवेश करने लगती है; क्योंकि परमाणु निरवयव हैं, सावयव के कारणरूप में निरवयव का होना बड़ा विचित्र सा लगता है ? निरवयव परमाणु का तो चक्षु से प्रत्यक्ष होगा नहीं, मानस प्रत्यक्ष होगा और वहाँ भी वह खण्ड हो जायगा। तब वह सविशेषों का चरम् नहीं रहेगा। अब निरवयव से सावयव की उत्पत्ति मानकर इन दर्शनों ने कार्य-कारणभाव का ध्वंस ही किया है, स्थापना नहीं की है। हम जब परमाणु का ध्यान करते हैं तो वह ध्येय तो बनता नहीं और ध्येय नहीं बनता तो उससे सृष्टि हुई कैसे ? एक परमाणु में यदि अवयव नहीं हैं, तो दो के मिलने पर उनमें अवयव कहाँ से आ गये ? निरवयव निरवयव का संयोग ही कैसे होगा ? संयोग नहीं होगा तो अणु की उत्पत्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम विचार करें तो इन दर्शनों का उपयोग भी हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करके ब्रह्म तक पहुँचा देने में ही है।

अब सांख्य और योग की बात लें। इनके मत में प्रकृति अन्तिम कारण है और पंचभूत अन्तिम कार्य हैं। इन दोनों के मध्य में प्रकृति-विकृति हैं। पुरुष न कार्य है, न कारण। अच्छा, कार्य जब पंचभूत पर्यन्त ही हैं तो मनुष्यों के शरीर क्या हैं ? यह कार्य है या कारण ? कार्यरूप पंचभूत में यह कल्पित है, क्योंकि इसे कार्य मानकर पंचभूतों को कारण मानें तो अन्तिम कार्य शरीर हो गया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये अन्तिम कार्य हो गये तो ये शरीरों में प्रवेश नहीं करते।

'प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्'

यदि कहो–इस शरीर में मिट्टी ने प्रवेश किया है तो यह पहले से ही मिट्टी है। यदि कहो इसमें जल ने प्रवेश किया है तो यह पहिले से ही जल है। कहो कि इसमें तेज ने प्रवेश किया है तो यह पहले से तेज है। इसमें वायु ने प्रवेश किया है, यदि ऐसा कहो तो यह पहले से वायु है। इसी तरह इसमें आकाश ने प्रवेश नहीं किया है, यह पहले से आकाश है। इसका अर्थ है कि जैसे स्वर्ण में आभूषण का एक आकार बनता है वैसे ही पचभूत में पशु–पक्षी–मनुष्यादि के शरीर कल्पित हैं, आकार मात्र हैं।

योगी लोग कहते हैं कि समाधि में पद, पदार्थ एव इनका सम्बन्धज्ञान यह तीनों एक हो जाते हैं। जैसे जाग्रत् में घड़ी एक पदार्थ है जो अलग है। घड़ी पद (शब्द) मुख में है और घड़ी पदार्थ तथा घड़ी शब्द के सम्बन्ध का ज्ञान हृदय में है। समाधि में यदि ये तीनों एक हो जाते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि समाहित चित्त में भेद नहीं है। भेद विक्षिप्त चित्त में है।

अब पूर्वमीमासा की बात लें तो इस दर्शन के चित्तशुद्धि में तीन उपयोग हैं। अन्तःकरण की शुद्धि के लिये धर्मानुष्ठान करना चाहिये, यह एक उपयोग है। आत्मा शरीर नहीं है, कर्ता–भोक्ता है–ससारी है, अतः शरीर के पहले भी था, पीछे भी रहेगा। इस तरह आत्मा नित्य है। नित्यानित्यवस्तु–विवेक में यह दूसरा उपयोग हुआ। यह दृश्यमान संसार द्रव्य से उत्पन्न हुआ या कर्म और कर्मसंस्कार से? इसके उत्तर में पूर्वमीमासक कहेगा कि संसार उत्पन्न नहीं हुआ—

'न कदाचिदनीदृशं जगत्'

ऐसा कोई समय नहीं था जब ससार नहीं था। संसार की उत्पत्ति भी नहीं है और विनाश भी नहीं। यह अनादि परम्परा से कर्मसंस्कारजन्य है। अब देखो कि हमारा स्वप्न भी तो द्रव्यजन्य नहीं है। वह भी तो संस्कारजन्य है। अतः जैसा स्वप्न वैसा संसार। पृथ्वी, जल, आकाश, सूर्यादि समस्त संसार पूर्वमीमासा के मत से जीवों के समष्टि प्रारब्ध–जन्य है। इस प्रकार संस्कारजन्य होने के कारण प्रपञ्च के मिथ्यात्व–निर्णय में यह दर्शन उपयोगी हुआ। यह तीसरा उपयोग है।

पदार्थ–द्वय का विवेक तीन पद्धतियों से होता है। आभासवाद की रीति से, अवच्छेदवाद की रीति से और दृष्टि–सृष्टिवाद की रीति से। इनकी प्रक्रियाओं में विलक्षणता है। इसीसे महावाक्य का अर्थ भी तीन प्रकार से करना पड़ता है।

आभासवाद में जो एकता की प्रक्रिया है, वह माया और अन्तःकरण अर्थात् कारणोपाधि और कार्योपाधि में जो आभास है, उस आभास का बाध करके चेतनांश में एकता का प्रतिपादन है। एक रीति यह है।

अवच्छेदवाद की दूसरी रीति है। घटाकाश और महाकाश के रूप में कूटस्थ और ब्रह्म का ही इसमें निरूपण है। आभास के रूप में जीव एवं ईश्वर का निरूपण नहीं है। व्यष्टि और समष्टि की उपाधि से जो उपहित वस्तु है, उसमें यह ऐक्य बतलाता है। घटाकाश और महाकाश ये देशप्रधान-उपाधि हैं। उपाधि का बाध करके उपहित का ऐक्य इस रीति में है।

दृष्टिसृष्टिवाद तो एकजीववाद है। इसमें अज्ञात सत्ता है ही नहीं। अत इस प्रक्रिया में प्रारम्भ से जीव-ईश्वर का पृथक्-पृथक् विवेक करने की आवश्यकता नहीं है। अविद्याकाल में जिसे हम पृथक् समझते थे, विद्याकाल में वह तो अपना स्वरूप ही है। इस प्रकार कालप्राधान्य से दृष्टिसृष्टिवाद में एकता है। वस्तुप्राधान्य से आभासवाद में एकता है। पदार्थद्वय का विवेक करने के लिये देश, काल और वस्तु की उपाधि का पृथक्-पृथक् विवेक है। विषय की उपाधि का विवेक करने से पदार्थ-द्वय की सिद्धि होती है और उसका ऐक्य ही वेदान्त में सर्वसम्मत है।

परिणामवाद की चर्चा रह गयी है, किन्तु यह अपने अद्वैत-वेदान्त का मत नहीं है। परिणामवाद भी कई प्रकार का है। चित्त-परिणाम (विज्ञान-परिणाम) और शून्य-परिणाम, यह दो बौद्धों के, प्रकृति-परिणाम सांख्य का तथा ब्रह्म-परिणाम विशिष्टाद्वैतादि मानने वालों का।

जगत् के मूल में जो वस्तु है, वह जड़ है या चेतन ? यदि जड़ है, तब तो जगत् के रूप में उसका परिणाम हो सकता है, क्योंकि परिणाम सजातीय होता है। जहाँ कार्य विजातीय होता है, वहाँ परिणाम नहीं होता, विवर्त्त हो जाता है। यदि जगत् का मूल कारण चेतन है तो वह चेतन तभी होगा जब अपनी आत्मा होगा। वह अन्य भी है और चेतन भी है, यह असम्भव है। जो अन्य होगा, वह दृश्य होने से जड़ होगा और यदि दृश्य नहीं होगा तो अनुभव में कभी आवेगा ही नहीं। इसलिये उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। अत हमसे पृथक् चेतनरूप से शरीर में या संसार के मूल में कोई वस्तु न तो कहीं है, न हो सकती है।

अब यह जो प्रपञ्च दिखाई दे रहा है, इसका मूल कारण जड़ है या चेतन ? यदि चेतन है तो यह दृश्यमान सब की सब जड़ता विवर्त्तमात्र है। यदि जगत् का मूल कारण जड़ है तो हम स्वयं जड़ हो जायेंगे। जगत् का नियमन-प्रकाश नहीं बनेगा। पूरा जगत् अन्धा हो जायगा। अतः जगत् का मूल कारण चेतन है और वह आत्मा से अभिन्न है। यह जो दृश्य प्रपञ्च है, यह समूचा विवर्त्त है।

'वेदान्तार्थसारसंग्रहमूर्तमिदम् प्रकरणचतुष्टयम् ।'

वेदान्तसार-संग्रह के ये चार प्रकरण हैं। उनमें से अधिकारी-निर्णय का स्वरूप और गुरु शरणागति की आवश्यकता बताई जा चुकी है। यह पदार्थ द्वय-विवेक है। सम्पूर्ण उपनिषद् ही जीव-ईश्वर का स्वरूप वर्णन करने के लिए-पदार्थ-द्वय के विवेक के लिए है।

—ऐक्य—

एक प्रश्न है। जीव से ईश्वर होने में कितनी देर लगती है ? बस, एक हिन्दू को मनुष्य होने में जितनी देर लगती है। लेकिन हिन्दू तो मनुष्य ही है। जब तक उसके मन में हिन्दुत्व का अभिमान है, वह हिन्दू है। यह अभिमान छूट जाय तो वह मनुष्य है। इसी प्रकार जीवत्व का अभिमान छूट जाय तो जीव ईश्वर है ही। एक देह का अभिमानी बनकर जीव हो गया, एक देह का अभिमान छूट गया तो वह परमात्मा है ही।

यह देह-इन्द्रिय आदि उपाधि हैं। इसमें मैं-मेरा करके 'मैं' जीव हो गया। इनसे मैं मेरा छूट गया तो 'मैं' ईश्वर हो गया। विवेक यही करना है। पंचकोष का विवेक, पंचमहाभूत का विवेक, एक देह में होने वाली तीन अवस्थाओं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका विवेक, स्थूल-सूक्ष्म-कारण का विवेक, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर का विवेक, ब्रह्मा-विष्णु-महेश का विवेक, सत्त्व-रज-तम का विवेक। विवेक करके उपाधि को कर दिया पृथक् और उपाधिरहित वस्तु तो सर्वत्र एक है ही।

इस प्रकार दोनों पदार्थों का पृथक् पृथक् विवेक करके तब उनकी एकता को जानना है। एकता के ज्ञान से अनेकता की भ्रान्ति मिट जाती है। भेद हो और उसे मिटाया जाय, ऐसा नहीं है। एकता तो पहले से ही है। सिर्फ अनेकता की भ्रान्ति हो गयी है। उस भ्रान्ति को ही दूर कर देना है।

एक उदाहरण लो—बड़ी प्रसिद्ध बात है कि दृश्य से द्रष्टा भिन्न होता है; परन्तु यह भेद क्या वास्तविक है ? वास्तविक नहीं है। जब तक हम घड़े को देख रहे हैं, तब तक हम घड़े से पृथक् हैं; किन्तु जब हम अपने को देखेंगे तो घड़ा हमसे पृथक् नहीं रहेगा। कार्य से कारण भिन्न होता है; किन्तु कारण से कार्य किसी भी अवस्था में भिन्न नहीं होता। घड़ा मिट्टी से बना है। घड़े का कारण मिट्टी है। घड़े से मिट्टी तो भिन्न है, किन्तु किसी भी अवस्था में मिट्टी से रहित घड़े की कोई सत्ता ही नहीं है। अब द्रष्टा दृश्य को ले लो। द्रष्टा दृश्य को और दृश्य के अभाव को भी देखता है, अतः दृश्य से भिन्न द्रष्टा है; किन्तु द्रष्टा के अतिरिक्त दृश्य क्या है ? बिना द्रष्टा के दृश्य की सिद्धि क्या कभी हो सकती है ?

'भूतं प्रसिद्धञ्च परेण यद्यत्तदेव तत्स्यादिति'

जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है एवं जिससे प्रसिद्ध होती है, वह वस्तु उससे पृथक् नहीं होती, जैसे मिट्टी से बना घड़ा। मिट्टी से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इस जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमात्मा है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि।

अत उस परमात्मा—अनन्त वस्तु ब्रह्म से भिन्न जगत् नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार जिसके मत में जगत् मिथ्या होगा, उसके मत में व्यष्टि-अन्तःकरण भी मिथ्या होगा और समष्टि-अन्तःकरण भी। कार्य भी मिथ्या और कारण भी मिथ्या। अतः जीव-ईश्वर का भेद, इनकी लघुता एवं महत्ता का भेद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होगा।

सामान्यतः द्रष्टा दृश्य का भेद प्रसिद्ध है। परन्तु हम पूछते हैं कि द्रष्टा और दृश्य के बीच में क्या कोई सन्धि है? यहाँ तक द्रष्टा और इसके आगे दृश्य, क्या ऐसी कोई सीमा है? मध्य में कोई तीसरी वस्तु है, जिसके एक ओर द्रष्टा और दूसरी ओर दृश्य हो? मध्य में तीसरी वस्तु होगी तो वह या तो दृश्य होगी या द्रष्टा। अतः मध्य में तीसरी वस्तु हो नहीं सकती और मध्य में जब तीसरी वस्तु पार्थक्य नहीं करती तो कहना पड़ेगा कि द्रष्टा और दृश्य में भेद नहीं है। जहाँ सन्धि नहीं है, भेदक नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। केवल भेद (व्यवधान) की प्रतीति हो रही है। यह तो प्रमाता में जहाँ 'अहं' करके कहते हैं, वहाँ परिच्छिन्न द्रष्टा की बात कहते हैं। द्रष्टा जहाँ बुद्धि की उपाधि से युक्त है, वहा प्रमाता बना हुआ है। जहाँ बुद्धि की उपाधि को छोड़कर शुद्ध द्रष्टा का निरूपण करते हैं, वहा द्रष्टा एक ही है। भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में द्रष्टा भिन्न भिन्न नहीं हैं। इसे थोड़ा स्पष्ट करलें।

उपाधि अनेक हैं, यह प्रत्यक्ष है। पृथक्-पृथक् अन्तःकरण की उपाधि पृथक्-पृथक् हैं। इनमें द्रष्टा एक है या अनेक? यदि उपाधि-भेद से द्रष्टा का भेद मानें तो एक देश में एक उपाधि, दूसरे देश में दूसरी उपाधि, तीसरे देश में तीसरी उपाधि है। अतः प्रश्न उठा कि देश औपाधिक है या उपाधि देशिक है? अर्थात् देश में भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हैं या उपाधि में भिन्न-भिन्न देशों की प्रतीति हो रही है? यदि देश में भिन्न भिन्न उपाधियाँ हैं, तो उपाधि की निवृत्ति होने पर भी देश की निवृत्ति नहीं होगी, तो मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि देश में तो लम्बाई-चौड़ाई है और ब्रह्म में यह नहीं है। यदि कहें कि देश औपाधिक है तो भिन्न भिन्न देश उपाधि का आश्रय है, यह बात कहते नहीं बनेगी। अतः सम्पूर्ण विश्व को प्रतीत कराने वाली उपाधि एक है और इसीलिये उसका द्रष्टा भी एक है। शेष सबके सब जीवाभास हैं।

यह प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय का भेद देहाभिमान के कारण है। जब हम एक देह में प्रमाता बनकर बैठे हैं, तब प्रमाता और प्रमेय के बीच में नेत्रादि प्रमाणरूप सन्धि है। लेकिन जहाँ हम देहाभिमान को छोड़कर पूर्ण के साथ एक हो जाते हैं, वहाँ पूर्ण और प्रत्यक् के बीच में कोई सन्धि नहीं है। इसलिए अपने अत्यन्ताभाव में ही प्रमेय भास रहा है। प्रमेय की जितनी प्रतीति हो रही है, अप्रमेय में हो रही है।

चाहे भाव हो या अभाव हो, यदि वह प्रमेय होगा तो वह प्रमाण का विषय

होगा। घड़ा है और घड़ा नहीं है, ये दोनों प्रमेय हैं। जहाँ प्रमेय की प्रतीति है, वहीं चेतन की संज्ञा प्रमाता हो जाती है। अप्रमेय कौन है? 'अहम्' अप्रमेय है। जो प्रमाण के सामने है, वह प्रमेय और जो प्रमेय के पीछे होकर प्रमाण को भी प्रकाशित कर रहा है, वह है अप्रमेय।

अन्यत्वे नाप्रमयत्वं प्रमेयत्वे च दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती प्रत्यञ्चं न विमुञ्चति ॥

यदि परमात्मा अन्य हो तो अप्रमेय नहीं हो सकता। यदि परमात्मा को प्रमेय मानोगे तो वह दृश्य हो जायगा। यही कारण है कि श्रुति-वर्णित अप्रमेयता प्रत्यगात्मा से कभी पृथक् नहीं होती। अपनी आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु अप्रमेय नहीं है।

अब यह देखना है कि द्रष्टा और दृश्य के मध्य कोई वस्तु है या नहीं। यदि कोई वस्तु है तो वह दृश्य ही होगी। यदि वह प्रमाण ही है तो बुद्धिस्थ प्रमिति होगी और बुद्धिस्थ प्रमिति होने के कारण यह भी दृश्य होगी; क्योंकि प्रमिति सुषुप्ति में तो होती नहीं। अतः यह साक्षिभास्य हुई। साक्षी को हम द्रष्टा कह रहे हैं तो प्रमिति भी साक्षिभास्य और सुषुप्ति भी साक्षिभास्य ही हैं। सुषुप्ति में प्रमिति नहीं है और प्रमिति में सुषुप्ति नहीं है। जहाँ विषय की प्रमा है वहाँ सुषुप्ति नहीं और जहाँ सुषुप्ति है वहाँ विषय की प्रमा नहीं है। अतः इनका परस्पर व्यतिरेक है और द्रष्टा इनसे पृथक् है।

द्रष्टा जब प्रमा से पृथक् है, तब फिर प्रश्न उठा कि द्रष्टा दृश्य के मध्य क्या है? वास्तव में अज्ञान ही सन्धि है। अपने स्वरूप का अज्ञान ही दृश्य को भिन्न और द्रष्टा को भिन्न प्रतीत करा रहा है। अज्ञान की निवृत्ति होते ही द्रष्टा-दृश्य एक हो जायँगे। दोनों के एक होते ही दृश्य में दृश्यत्व नहीं रहेगा और द्रष्टा में द्रष्टापन नहीं रहेगा। केवल अपना स्वरूप रह जायगा।

वस्तुतः ऐक्य तो है ही। वह उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य, आप्य अथवा विनाश्य नहीं है किन्तु स्वतःसिद्ध है। अतः वह उपासना, धर्मानुष्ठान या समाधि से प्राप्त नहीं हो सकता प्रत्युत केवल तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्ति की निवृत्ति से प्राप्त होता है। धर्म, उपासना और योग अन्तःकरण शुद्धि के ही साधन हैं।

अब ऐक्य के बाद की बात करें। एक मिट्टी का ढला है और एक पर्वत है-दोनों में बहुत भेद प्रतीत होता है; किन्तु यह भेद तो नेत्र से देखने से दीखता है। बुद्धिस्थ जो मिट्टी है, उसमें कहाँ भेद है? आकार को छोड़ दो तो मिट्टी मिट्टी में भेद कहाँ है? किसी बन्दर को भगाना हो तो ढला उठा कर भगा सकते हैं, पहाड़ उठा कर नहीं भगा सकते; किन्तु विश्लेषण करना हो तो ढला भी मिट्टी और पर्वत भी मिट्टी। तत्त्व की दृष्टि से दोनों एक; किन्तु व्यवहार दोनों का भिन्न-भिन्न। अतः तत्त्व में व्यावहारिक भेद स्वीकार करने पर भी पारमार्थिक भेद नहीं है।

'पारमार्थिक' का क्या अर्थ है? प्रमा सदा प्रमाण से होती है। जब तक प्रमाण की उपाधि लगी है, तब तक घट और घटाभाव में भेद रहेगा। जब उपाधि निवृत्त हो जायगी तब घट और घटाभाव में भेद नहीं रहेगा। यह उपाधि अन्तःकरण की है। घट और घटाभाव दोनों अन्तःकरण की उपाधि से प्रतीत होते हैं। बिना उपाधि के भेद की प्रतीति नहीं होती। जैसे नेत्र देखते हैं—ये जब तक मन है, तब तक देखते हैं। मन ज्ञातता रहने तक देखता है। ज्ञातता तब तक रहती है, जब तक वह अज्ञातता में लीन न हो। अज्ञातता का अर्थ है अज्ञान। जिसका कारण अज्ञान है, वह अज्ञान की निवृत्ति के साथ ही निवृत्त हो जाता है।

यह चश्मा द्रव्य है। यह कहाँ है? इस देश में और इस काल में। अब हम इसे यहाँ से हटा लेते हैं। अब देश के साथ काल भी बदल गया। पहले वहाँ था, पीछे यहाँ आया, यह पहले पीछे काल हुआ। अब यदि काल के साथ चश्मे का सम्बन्ध होता तो उसी काल के साथ जुड़ा रहता। देश के साथ सम्बन्ध होता तो अन्यत्र न हटाया जा सकता। लेकिन यह देश काल दोनों में नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि जिस देश तथा काल में यह भास रहा है, वहाँ इसका अत्यन्ताभाव है। वहीं यह नहीं है। अपने अत्यन्ताभाव वाले देश में और अत्यन्ताभाव वाले काल में यह भास रहा है, तो यहाँ इस चश्मे का पहिले प्रागभाव था और पीछे प्रध्वंसाभाव है। जहाँ यह चश्मा है, वहीं आकाश भी है, अतः दोनों का वहाँ अन्योन्याभाव भी हुआ। जो चश्मा है, वह आकाश नहीं और जो आकाश है, वह चश्मा नहीं। इसी से आकाश में इसका पहले अत्यन्ताभाव था तथा बाद में भी अत्यन्ताभाव होगा। अब यह चश्मा जहाँ दीख रहा है, वहीं अभाव चतुष्टय से ग्रसित होकर दिखाई दे रहा है। अतः अपने अत्यन्ताभाव वाले अधिष्ठान में दिखाई पड़ने के कारण यह चश्मा मिथ्या है। जब चश्मा मिथ्या है तो इसका अभाव तो अपने आप मिथ्या है, क्योंकि अभाव प्रतियोगी सापेक्ष होता है। **'यस्याभाव स प्रतियोगी।'** अपने अभाव का प्रतियोगी हुआ चश्मा। जिस देश-काल में इसका अभाव होता है, उसी देश-काल में यह भास रहा है, इसलिये इसका अधिष्ठाननिष्ठ अत्यन्ताभाव है।

अब वस्तु को ले लो, यह चश्मा वस्तु क्या है? मिट्टी है। दस वर्ष पूर्व इसमें जो मिट्टी है, वह चश्मे के रूप में नहीं बनी थी। दस वर्ष बाद इसी वस्तु की मिट्टी में यह चश्मे का रूप नहीं रहेगा। अब यह जो चश्मे का रूप और नाम मिट्टी में आया, वह पहिले नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा। अतः यह अभी जिस रूपमें दीख रहा है, उसमें भी मिथ्या है।

अब दूसरे प्रकार से निरूपण करें। काल की अवधि बनानी पड़ेगी, क्योंकि काल में जो भेद है, वह क्रम की संवित् है। यह चश्मा जितने देश में है, उतने देश में इस

की जितनी आयु है, उतना काल इस चश्मे का काल है। यदि चश्मा न हो तो काल का पता नहीं लगेगा। अतः काल चश्मा-सापेक्ष और चश्मा काल-सापेक्ष हुआ। अतः स्वतन्त्र सत्ता न चश्मे के काल की है, न चश्मे की। विषय की अपेक्षा से काल और काल की अपेक्षा से विषय हैं और दोनों नेत्र की अपेक्षा से हैं। नेत्र की अपेक्षा का अर्थ यह है कि यहाँ, इस समय, यह चश्मा हमको दीख रहा है। वहाँ से आप को नहीं दीख रहा है; क्योंकि आप दूर बैठे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक अपेक्षा से ही चश्मा हमें दीख रहा है। चश्मा आँख से एक प्रकार का और खुर्दबीन से दूसरे प्रकार का दीखता है। भेदक प्रकाश में देखने पर इसके कण-कण पृथक्-पृथक् दीखेंगे। चश्मे का आकार नहीं दीखेगा। यदि किसी यन्त्र से दस लाख गुना बड़ा कर दिया जाय तो हमारे नेत्र से नहीं दीखेगा। सूक्ष्म कर देने पर भी नहीं दीखेगा। यह तो मध्यवर्ती अवस्था में ही दीख रहा है। अतः यह चश्मा तत्त्वत सत्य नहीं है। यह ऐन्द्रियक सत्य है, दैशिक सत्य है, कालिक सत्य है, वैषयिक सत्य है; मानस सत्य है, परन्तु तत्त्वतः सत्य नहीं है।

इस प्रकार जहाँ विषय के मिथ्यात्व का बोध हुआ, वहाँ 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं है। देह के भेद के बिना 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रह सकता। तारतम्य-भेद इन्द्रिय की अपेक्षा से, मन की अपेक्षा से, बुद्धि की अपेक्षा से ज्ञात हो रहे हैं। भेद प्रतीति ही है। तत्त्वतः भेद है नहीं। वेदान्त भ्रान्ति को निवृत्त करता है, मान को निवृत्त नहीं करता। जैसे बचपन में मैं समझता था कि आकाश में जो नीलिमा दीखती है, वह कोई वस्तु है। यदि ऊपर उड़ा जा सके तो कहीं वस्तु के रूप में यह मिलेगी। बड़े होने पर यह भ्रम तो मिट गया, किन्तु नीलिमा तो ज्यों-की-त्यों दिखायी ही पड़ती है। अतः भेद की भ्रान्ति मिट जाने पर भेद की प्रतीति भी मिट जाती होगी, यह धारणा मत बनाना।

— विरोध परिहार —

आगे का विषय है विरोधपरिहार, साधन और फल। परमार्थ क्या ? इसे समझ लें तो आगे का विषय समझने में सुविधा हो। हम कहते हैं परम तपस्वी, तो इसका अर्थ होता है कि उससे बड़ा कोई तपस्वी नहीं। वस्तु वही, किन्तु उसकी पराकाष्ठा को परम कहते हैं। इसी प्रकार जब परमार्थ या परमात्मा कहते हैं तो उसका अर्थ अर्थ से नितान्त भिन्न या आत्मा से नितान्त भिन्न कोई वस्तु नहीं होता है, प्रत्युत अर्थ की ही अवधि, अर्थका ही परम स्वरूप परमार्थ, आत्मा का ही परम स्वरूप अर्थात् उपाधि का निराकरण कर देने पर अध्यारोप का अपवाद कर देने पर जो शेष रहे, वह परमात्मा।

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।'

अध्यारोप का अर्थ है मान लेना-कल्पना कर लेना। जैसे गणित समझाने के लिये बच्चे को कहते हैं, मानलो कि तुम्हारे पास पाँच रुपये हैं'। यह मान लेना अध्यारोप

हुआ। अब बच्चे से कहा कि उन रुपयों में से पाँच व्यक्तियों को एक-एक रुपया दे दो तो तुम्हारे पास क्या बचा? कुछ नहीं। यह हुआ अध्यारोप का अपवाद। एक माया है और उसका है यह कार्य जगत्। परमात्मा के अनुभव से उस माया की निवृत्ति हुई। अरे! माया पहले भी नहीं थी, निवृत्त भी नहीं हुई; किन्तु अपनी अद्वितीयता समझाने के लिये पहिले माया की कल्पना की, उसका अध्यारोप किया और फिर उसकी निवृत्ति बतायी-उसका अपवाद किया। ऐसी परमार्थ वस्तु में शास्त्र और लोक से जो विरोध प्राप्त होता है, उसका परिहार होना चाहिये। शास्त्र से विरोध प्राप्त होता है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते'।

उपनिषद् का कहना है कि दो पक्षी हैं। पक्षी दो हैं तो एक जीव हुआ और एक ईश्वर। इस प्रकार अद्वैत के प्रतिपादन में यह शास्त्र वचन का विरोध हुआ। दूसरी ओर शास्त्र एक अद्वितीय तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' में ही मनु और सूर्य हुआ 'तदपश्यत् तद-भवत् तदासीत्'।

उसको जाना, वही हो गया क्योंकि वही था, यह श्रुति कहती है। अब एक श्रुति में 'द्वैत का प्रतिपादन हुआ-सा' मालूम पड़ता है और एक में अद्वैत का यह जो विरोध श्रुति में जान पड़ता है, इस विरोध का परिहार होना चाहिये।

अब विचार करना पड़ेगा कि जीव-ईश्वर दो हैं तो कैसे! वस्तुतः दो हैं? देशतः दो हैं? अथवा कालतः दो हैं? एक काल में ईश्वर और एक काल में जीव हों तो दोनों नाशवान् हो जायेंगे, क्योंकि अपनी स्थिति से भिन्न काल में न जीव रहेगा, न ईश्वर। 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव कभी किसी को हो नहीं सकता। अतः कालतः जीव-ईश्वर दो नहीं हैं। कालतः दो होने से तो सत्य तत्त्व काल सिद्ध होगा, क्योंकि काल उनके न रहने पर भी रहेगा। यदि देशतः जीव-ईश्वर को दो मानें कि एक अन्तर्देश में है, एक बहिर्देश में, तो यह अन्तः-बहिः की कल्पना किसमें है? बाहर-भीतर की यह कल्पना तो थोथी है, क्योंकि चर्मपरिवेष्टित देह के अहङ्कार को लेकर और चमड़े को सीमा बनाकर यह बाहर-यह भीतर की कल्पना होती है। जो पूर्ण तत्त्व है, उसमें बाहर-भीतर कहाँ होगा?

'अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं'।

श्रुति कहती है कि उससे पहिले कुछ नहा—पीछे कुछ नहीं, बाहर कुछ नहीं, भीतर कुछ नहीं। अच्छा! ये जीव-ईश्वर दो हैं तो रहते कैसे हैं? जीव में कुछ मिट्टी कम और ईश्वर में कुछ मिट्टी अधिक है? अभिप्राय यह है कि यदि दोनों को पृथक्-पृथक् तत्त्व मानना है तो बताना पड़ेगा कि पार्थक्य कैसा है?

वे दोनों तो सखा हैं—आलिंगन करके स्थित हैं, अर्थात् दोनों विजातीय नहीं हैं। विजातीय भेद की निवृत्ति के लिये ही यहाँ दोनों को सखा कहा है। 'समान वृक्षम् परिसष्वजाते' का तात्पर्य है कि इस शरीर में ही देहाभिमान के कारण एक का नाम जीव और एक का नाम ईश्वर पड़ गया है।

जहाँ भोक्तृत्व की भ्रान्ति है वहाँ जीवत्व है। जहाँ भोक्तृत्व की भ्रान्ति नहीं है वहाँ परमात्मा है। इसी अभिप्राय से श्रुति में यहाँ जीव-ईश्वर को दो कहा है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ श्रुतियों या युक्तियों से विरोध जान पड़ता है, वहाँ उस विरोध का परिहार करना श्रुतिविरोध का श्रुतियों से और युक्तिविरोध का युक्तियों से, यह एक विषय है।

— साधन और फल —

इसके बाद है साधन और फल। वेदान्त का साधन तथा फल अत्यन्त विलक्षण है। अब उपासना और ज्ञान के साधन की थोड़ी तुलना करलो। श्रद्धा से उपासना में प्रवृत्ति होती है। हमारा ईश्वर हमसे कहीं दूर है, उसके लिये श्रद्धा करो। वेदान्त में प्रवृत्ति खोजसे-अनुसन्धान से-प्रमाण से होती है, कि हम उसे ढूँढ निकालेंगे। ईश्वर मिले और उसका सुख हम लें, इस इच्छा से ईश्वर की प्राप्ति में प्रवृत्ति होती है और ईश्वर क्या है, यह ढूँढने के लिये वेदान्त में प्रवृत्ति होती है।

उपासना श्रद्धामूलक है और वेदान्त है प्रमाणमूलक। उपासना में आवृत्ति होती है। आराध्य के नाम को बार-बार दुहराते हैं। उसके रूप का बार-बार ध्यान करते हैं। आवृत्ति उपासना का साधन है। वेदान्त में नई-नई युक्ति नया-नया तर्क होता है। पचकोश, पचभूत, अवस्थात्रय का विवेक करके उस सत्य को नई-नई युक्ति से ढूँढो। श्रुति के अविरुद्ध नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि वेदान्त का साधन है।

अपने इष्ट-साध्यवस्तु का दर्शन, उपासना का फल है। तदाकार वृत्ति करते हुए तदाकार वस्तु का दर्शन हो गया-समानाकार वृत्ति हो गयी-जिसका हम ध्यान करते हैं, वह हमारे नेत्रों के सम्मुख आगया। अपना वाछित ईश्वर मिल गया। यह है उपासना का फल। जो-जो ध्यान करोगे, वह-वह सामने आ जायगा अर्थात् मन चाहे भगवान् की प्राप्ति, यह उपासना का फल है।

'साकं वाचं स्पृहणीया वदन्ति।'—श्रीमद्भागवत

वह सम्मुख आकर बात चीत करेगा, वरदान देगा। पर यह सब होता है सगुण-साकार उपासना में। निराकार का ध्यान करें तो निराकार नेत्र से तो देखा नहीं जा सकता, किन्तु अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होने से वह सगुण है, अतः उसका मानस-प्रत्यक्ष हो सकेगा। उसके ध्यान से वृत्ति सम्पूर्ण संसार से हटकर अन्तर्यामी के रूप में अपने इष्टदेव का निश्चय करेगी, अर्थात् उसका मानस-प्रत्यक्ष होगा और बुद्धि उसी की गोद में

कभी सोयेगी और कभी जाग कर क्रीड़ा करेगी। बच्चा जैसे माँ के प्रति समर्पित है उसी प्रकार यह बुद्धि भी अन्तर्यामी परमात्मदेव के प्रति समर्पित ही है। इस स्वतःसिद्ध समर्पण का बोध ही अन्तर्यामी सगुण निराकार का बोध है। यदि परमात्मा निर्गुण है तो उसका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। केवल भ्रान्ति अज्ञान की निवृत्ति मात्र ही होगी।

वेदान्त के ज्ञान में जो साधन हैं, वहाँ भावित वस्तु के प्रत्यक्ष का नाम दर्शन नहीं है; क्योंकि उसमें तो भावना का संस्कार मिला हुआ है। सम्पूर्ण भावना का, संस्कारों का निषेध करके- वृत्तिमात्र का निषेध करके अर्थात् फल-व्याप्ति का भी निषेध करके अपने स्वरूप का-परमात्मा जैसा है उसी रूपमें उसका साक्षात्कार अर्थात् तद्विषयक अविद्या की निवृत्ति। यह तद्विषयक अविद्या का निवर्तक जो तत्वज्ञान है, वह वृत्तिज्ञान है। यही वेदान्त में साक्षात् साधन है।

वृत्तिज्ञान फल नहीं है। अविद्या को निवृत्त करके वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है, इसलिए वृत्तिज्ञान में फलरूपता नहीं है। अविद्या की निवृत्ति होने से सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति होकर स्वतःसिद्ध परमानन्द स्वरूप नित्यप्राप्त अपने आत्मस्वरूप में स्वतःसिद्ध स्वाभाविक अवस्थिति-यह फल है।

जहाँ निवर्त्य-निवर्तक भाव सच्चा होता है, वहाँ तो कार्यवृत्ति के द्वारा कारणभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। जैसे घड़ा कार्य है, उसे फोड़ देने से उसके कारण मृत्तिका की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि यहां कार्य-कारणभाव वास्तविक था। लेकिन अविद्या के साथ जिसका भी कार्य-कारणभाव है, वह सब झूठा है। अविद्या किसी की माँ नहीं बनती। अविद्या से जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह वास्तव में उत्पन्न नहीं होती। वहाँ कार्य कारण भाव केवल भ्रम है। अतः वृत्तिज्ञान अविद्या के निवारण में समर्थ है, क्योंकि अविद्या के साथ प्रपंच का कार्य-कारणभाव कल्पित है। जहाँ कल्पित कार्य-कारणभाव होता है, वहाँ कार्य की निवृत्ति से कारणरूप अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार वृत्तिज्ञान ही साक्षात् साधन के रूप में वेदान्त में स्वीकृत है और अविद्या की निवृत्ति फल है। वास्तव में तो अपने स्वरूप में साधन और फलभाव दोनों ही नहीं हैं। तत्वतः वृत्ति आवरणभंग नहीं करती। उस पर आरूढ़ चेतन ही करता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति पर आरूढ़ चेतन अविद्या को निवृत्त करता है। वृत्ति भी बाधित हो जाती है। चेतन ही रहता है।

❋ अनुबन्ध–चतुष्टय ❋

मूल ग्रन्थ में अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध का निरूपण नहीं है, किन्तु भाष्यकार को तो इनका वर्णन करना ही चाहिये। अतः ग्रन्थारम्भ से पूर्व सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन का निरूपण करते हैं :—

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण–विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति। किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते, रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता।

पहले 'शास्त्र' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। शास्त्र शब्द की दो व्याख्यायें हैं। 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थात् जो आज्ञा दे कि 'यह करो, यह मत करो' वह शास्त्र है। पूर्वमीमांसा दर्शन इसी व्याख्या को मानता है। पूर्वमीमांसा के आचार्य जैमिनिजी ने तो कहा है कि 'सम्पूर्ण वेद कर्म के लिये हैं। अतः जो वचन कर्म का प्रतिपादन नहीं करता, वह निरर्थक है।' लेकिन उत्तरमीमांसा–वेदान्त कहता है कि शास्त्र की परिभाषा इतनी ही नहीं है। जो किसी वस्तु के स्वरूप को ठीक ठीक समझा दे वह है शास्त्र, अर्थात् जो सत्य का ज्ञान करावे उसे शास्त्र कहते हैं– 'शास्त्रत्व शासनादपि'। एक उद्देश्य–विशेष से जो सम्पूर्ण अर्थों का ज्ञान करावे वह है शास्त्र। शास्त्र शब्द का यही अर्थ यहाँ समझना चाहिये। इस परिभाषा के अनुसार न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि शास्त्र हैं, क्योंकि मोक्ष या धर्म के उद्देश्य–विशेष से ही वे समस्त पदार्थों का निरूपण करते हैं। इसी प्रकार वेदान्त भी शास्त्र है, क्योंकि यह आत्मा और ब्रह्म की एकता के ज्ञान को उद्देश्य बनाकर विश्व के विषयों का विवेचन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है। लेकिन यह वेदान्त शास्त्र विधि–निषेध का विधान–शासन करनेवाला शास्त्र नहीं है। यह तो सत्य को बतानेवाला शास्त्र है।

अब माण्डूक्योपनिषद् शास्त्र है या नहीं यह प्रश्न आया। माण्डूक्योपनिषद् शास्त्र नहीं है। यह वेदान्तशास्त्र–उपनिषद्शास्त्र का एक प्रकरण मात्र है। जो शास्त्र के एक देश से सम्बन्ध रखता हो, वह प्रकरण कहलाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का विवेक करके आत्मा के अद्वितीय शुद्ध स्वरूप का बोध करा देना मात्र इसका उद्देश्य है। संसार के जो दूसरे सब विषय हैं, उनकी विवेचना इसमें नहीं है, क्योंकि यह काम, अर्थ या धर्मशास्त्र नहीं है। यह तो केवल मोक्षशास्त्र का एक प्रकरण है। इस प्रकरण का सम्बन्ध, विषय, प्रयोजन क्या है?

इसका अधिकारी कौन है ? क्योंकि प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति होती नहीं देखी जाती । ब्रह्म और आत्मा की स्वतःसिद्ध एकता का ज्ञान कराना ही इसका प्रयोजन है।

सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति होकर परमानन्द की प्राप्ति—परमात्मा की प्राप्ति का साधन है ब्रह्मज्ञान । उस ब्रह्मज्ञानरूप साधन का अभिव्यञ्जक होने के कारण—उसे प्रकट करनेवाला होने से, शास्त्र का उससे अभिधेय सम्बन्ध है। अभिधेय का अर्थ है विषय-जिसका वर्णन किया जाय । अतः इसका विषय हुआ ब्रह्म। शास्त्र से ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होगी। परमात्मा की प्राप्ति का साक्षात् साधन हुआ ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान में कारण होने से शास्त्र परमात्मा की प्राप्ति में परम्परा साधन हो गया ।

विषय हुआ ब्रह्म और सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति होकर परमानन्द की प्राप्ति हुआ प्रयोजन । अतः ब्रह्म के साथ इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ब्रह्मज्ञान द्वारा है-परम्परा से है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना अनर्थ की निवृत्ति नहीं हो सकती । एक उस परमात्मा को जानकर ही जीव मृत्यु का अतिक्रमण करता है। परमात्मा के ही ज्ञान से—और किसी के ज्ञान से नहीं । कर्म, उपासनादि से नहीं केवल सत्य के ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण हो ही जाता है। यह फल सर्वथा निश्चित है।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' । अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये और दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

कुछ लोग डरते हैं, लज्जा करते हैं यह कहने में कि 'मैं नहीं जानता'। यह कहने में अज्ञान हो जायगा और 'जानता हूँ' यह कहने में अभिमान हो जायगा, अतः कुछ कहते उन्हें संकोच होता है, उनका यह संकोच देह की दृष्टि से होता है । वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को ऐसा कोई संकोच नहीं है, क्योंकि वह देहाभिमान से रहित हैं ।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णम् तमसः परस्तात्' ।

आदित्यवर्ण स्वयं प्रकाश-अविद्या के प्रकाशक इस भूमा पुरुष को अर्थात् साक्षात्-अपरोक्ष आत्मा को मैं जानता हूँ। फल-व्याप्ति से नहीं—वृत्ति-व्याप्ति से जानता हूँ।

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥'

कोई चर्म की भाँति समस्त आकाश को लपेट ले, यह सम्भव हो सकता है, किन्तु परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त असम्भव है।

'ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्व पाशैः' परमात्मा को जान लेने पर सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त हो जाता है ।

'ज्ञानादेवतुकैवल्यमितिवेदान्तडिण्डिमः'। वेदान्त का यह भेरीघोष है कि ज्ञान

से ही कैवल्यप्राप्ति होती है। यह ब्रह्मज्ञान शास्त्र से ही होता है–दूसरे के द्वारा नहीं होता। 'शास्त्रादिनैव नान्यम्।'

इसका प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि अनर्थ–निवृत्ति अथवा परमानन्द–प्राप्तिरूप प्रयोजन जो बताया गया, वह तो नित्य है। मोक्ष यदि नित्य है तो साधनजन्य नहीं होगा, क्योंकि नित्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये साधन आवश्यक नहीं होता। जैसे मिट्टी, आकाशादि नित्य हैं तो इन्हें उत्पन्न करने के लिये साधन नहीं करना पड़ता। अतः नित्यमोक्ष की प्राप्ति के लिये तो ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्र अनावश्यक हैं और यदि मोक्ष अनित्य कहो तो अनित्य से वैराग्य होना चाहिये। अनित्य मोक्ष की आवश्यकता ही नहीं। इससे भी शास्त्र का प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ये बातें मन में लेकर ही प्रयोजन क्या है? यह प्रश्न उठा है। इसका उत्तर देते हैं—

'रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता।'

मोक्ष नित्य है। फिर भी इसके लिये जो साधन हैं, वे व्यर्थ नहीं हैं। मोक्ष नित्य है, नित्यप्राप्त है, यह समझकर जो लोग यह सोचते हैं–"मैं मुक्त होगया, किन्तु संसार के लोग बद्ध हैं, उन्हें उपदेश करके मुक्त करें।'

ऐसे लोग–ये उपदेशक स्वयं मुक्त नहीं हैं। वे तो केवल वाचामुक्त–वाचिकज्ञानी हैं। अपनी ओर से किसी को मुक्त होने का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में तो कोई बद्ध है ही नहीं। दूसरे की बन्धन की सत्ता ही नहीं है।

जब कोई अपने को दुःखी, बन्धन में समझकर प्रार्थना करे– 'आप कृपा करके हमें मुक्ति का उपदेश करें।' तब उसे कहना चाहिये कि–'नारायण! तुम तो नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्त परमात्मा हो। अपने में बन्धन की कल्पना करके क्यों दुःखी हो रहे हो।' रोग फैलाकर उसकी दवा करने बैठना वेदान्त शिष्ट परम्परा नहीं मानता। सहज स्वभाव से, भ्रमवश कोई अपने को रोगी मान रहा है, दुःखी हो रहा है और रोग से छूटना चाहता है तो उसको उपदेश करके उसके भ्रम को दूर करता ।

यदि मोक्ष अन्य रूप होता, यदि हवा–मिट्टी–आदि के समान उसमें इन्द्रिय द्वारा भोग्यत्व होता तो बात भिन्न होती, किन्तु मोक्ष तो आत्मा का स्वरूप ही है। हम कहीं बँधे नहीं हैं। बन्धन एक कल्पना एक भ्रम है। विचार करके देखो कि बचपन से अब तक हम कितनों के साथ बँधे और छूटे। धन के साथ बंधे, वह चला गया मकान के साथ, मोटर के साथ, कपड़े के साथ बंधे एक गया, दूसरा आता गया। स्त्री, पुत्र, मित्र सब के साथ अपने को बंधा समझते रहे, किन्तु सब परिवर्तित होते रहे। इनके आने पर बन्धन का भ्रम होता है, पर हम तो ज्यों के त्यों हैं। हमें कोई बांध नहीं सकता। जल की लहरों अथवा स्वप्नों के समान ये आते जाते रहते हैं और मोक्ष अपना सहजस्वरूप है। अपने स्वरूपभूत मोक्ष की प्राप्ति में जो प्रतिबन्ध है–बन्धन का भ्रम

है, उसे दूर करने के लिये साधन की आवश्यकता-सार्थकता है। मोक्ष को उत्पन्न करने के लिये साधन की आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न की जाती है, वह तो नष्ट हो जाती है। साधन से मोक्ष उत्पन्न हो तो नश्वर होगा। अतः मोक्ष उत्पाद्य नहीं है स्वरूप है।

'रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता।'

स्वास्थ्य अपना स्वरूप है। अब सर्दी-गर्मी से, वात-पित्त-कफ के प्रकोप से, किसी प्रकार रोग आगया तो हम उस, रोग को दूर करने के लिये औषधि सेवन करते हैं। स्वस्थ तो हम रोग होने से पहले भी थे, बाद में भी रहेंगे। इसी प्रकार मोक्ष अपना स्वरूप है। उसमें जो बन्धन का भ्रम आगया, उसे दूर करने के लिये ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है। ब्रह्मज्ञान के लिये ब्रह्मविचार की आवश्यकता है और शास्त्र ब्रह्मविचाररूप है, अतः शास्त्र की आवश्यकता है।

सीधा प्रश्न है—तुम दुःखी हो या नहीं? यदि तुम अपने को दुःखी नहीं समझते तो तुम्हारे लिये किसी साधन की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ पुरुष के लिये कोई दवा नहीं है। दवा की आवश्यकता रोगी के लिये है। यदि तुम्हें लगता है कि 'मैं दुःखी हूँ' तो दुःख में किसी का राग नहीं है। दुःख सब के लिये द्वेष्य है। सब चाहते हैं कि हमें कभी दुःख न हो।

हमको सुख हो। दुःख हमको कभी न हो। यह सबकी भावना है। तुम भी दुःख को मिटाना चाहते हो। दुःख मिटाने के लिये साधन की आवश्यकता है।

"तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपंचोपशमे स्वस्थता। अद्वैतभावः प्रयोजनम्।"

यह आत्मा अहम्-प्रत्यय का विषय अपने को दुःखी मान रहा है। कभी विचार किया है कि यह मानना सच है या झूठ? यदि आत्मा दुःखी है तो मैं दुःखी हूँ या दुःखी था, इसका साक्षी कौन है? दूसरे के विषय में कोई बात जाननी हो तो जैसा लिखा हो, वैसा मानना पड़ेगा, किन्तु अपने विषय में कुछ जानना हो तो वहाँ अपना अनुभव मुख्य होगा। अतः अब सोचो कि कहीं लिखा है कि तुम दुःखी हो, इसलिये को दुःखी मानते हो या अपने दुःखीपने के तुम साक्षी हो? कहीं लिखा होने या किसी के कहने से तुम अपने को दुःखी मान नहीं लोगे। तब अपने दुःखी होने के तुम साक्षी हो। यह नियम है कि जो जिसका साक्षी होता है, वह उससे भिन्न होता है। जैसे हम घड़े को या देह को जानते हैं तो घड़े या देह से भिन्न हैं। इसी प्रकार तुम अपने दुःखीपने को जानते हो—उसके साक्षी हो तो उस दुःखीपने से तुम पृथक् हो। यदि अपने दुःखीपने को हम नहीं जानते, तो दुःखी नहीं हैं और यदि दुःखीपने को जानते हैं तो हम दुःखी नहीं हैं।

विकार के बिना कोई दुःखी नहीं होता। जब विकृति-सदन उत्पन्न होती है—चाहे

यत्न करते हैं। इस प्रकार हम भेद-प्रतीति में इतने निमग्न हो जाते हैं कि वह सत्य न लगती है। राग-द्वेष बद्धमूल हो जाते हैं। आत्मदेव तो सर्वथा शुद्ध और सुख रूप ही हैं।

आनन्द के सम्बन्ध में पाँच बातें मन में बैठा लो।

१. आनन्द का कोई कारण नहीं है अर्थात् आनन्द उत्पन्न नहीं होता। जो उत्पन्न होगा, वह नाशवान् होगा।

२. आनन्द का कोई कार्य अर्थात् फल नहीं है। सब का फल आनन्द।

३. आनन्द का कोई शत्रु—प्रतिस्पर्धी नहीं। जिसका कारण नहीं, वह नित्य, जिसका फल-परिणाम नहीं, वह निर्विकार और जिसका प्रतिस्पर्धी नहीं, वह अद्वितीय। क्योंकि जो उत्पन्न होगा, वह नाशवान् होगा। जो परिणामी होगा, वह विकारी होगा और जिसका प्रतिस्पर्धी होगा, वह अपूर्ण होगा।

४. आनन्द दो नहीं हैं अर्थात् उसमें प्रतिस्पर्धी-विजातीय भेद तो नहीं ही है, सजातीय भेद भी नहीं है। खट्टा खाने का आनन्द एक और मीठा खाने का दूसरा-ऐसा नहीं। विषय भेद से आनन्द में भेद का आरोप होता है, आनन्द तो एक ही है। आनन्द में तारतम्य नहीं होता अर्थात् स्वगत भेद भी नहीं होता। कम आनन्द-अधिक आनन्द, गाढा आनन्द, हल्का आनन्द आदि तारतम्य वृत्ति का है। यह कम-अधिक, गाढा-हल्कापन वृत्ति में है, आनन्द में नहीं। अब अन्तिम एक बात आनन्द के सम्बन्ध में और।

५. आनन्द कभी परोक्ष नहीं होता। अज्ञान रूप से आनन्द कभी नहीं होता। जब होगा, प्रत्यक्ष-अपरोक्ष होगा। आनन्द की अज्ञात सत्ता नहीं होती अर्थात् अज्ञान से वह ढँकता नहीं। आनन्द सब से बड़ा प्रेमास्पद है। सब आनन्द से ही प्यार करते हैं। तुम सब से अधिक जिससे प्यार करते हो, वही तुम्हारा आनन्द है और सब से अधिक प्यार अपने अतिरिक्त किसी से होता नहीं। प्रेम का लक्षण है—

'तस्मिंस्तत्सुखे सुखित्वम्।'

उसके सुखी होने से मैं सुखी होता हूँ—यहाँ भी अपने सुखी होने की बात ही मुख्य है। सुख सदा आत्मगामी है और सुख ही प्रिय है, अत. अपना आपा ही सुख है। आनन्द अन्य नहीं है। अब सोचो कि पुरुषार्थ क्या है? अपने पुरुषार्थ आप स्वय हैं। अपने आपको छोड़ कर आपको और कुछ पाना नहीं और अपने आपको तो पाना क्या-वह तो नित्य प्राप्त है, किन्तु यही ज्ञात नहीं था। यही भूल थी। यह ज्ञान लेने से-ज्ञान से पुरुषार्थ की परिसमाप्ति हो गयी।

'दुःखात्मकस्यात्मनोद्वैतप्रपंचोपशमे स्वस्थता।'

अपने में यह द्वैत रूप प्रपञ्च आगया है। प्रपच का अर्थ क्या? पाँच का

बखेड़ा। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन्होंने यह जाल फैलाया है। श्रवण ने कहा—'यह शब्द अच्छा, यह बुरा। यह तुम्हारी स्तुति, यह निन्दा।' नेत्र ने कहा—'यह सुन्दर—यह कुरूप। यह तुम्हारे अनुकूल संकेत-यह प्रतिकूल।' इसी प्रकार पाँचों ने जो बखेड़ा फैलाया है, यही प्रपञ्च है और यह प्रपंच-यह द्वैत अपने से पृथक् सत्य-सा प्रतीत होता है।

इसी प्रकार आत्मा शब्द का अर्थ समझ लो। आत्मा का अर्थ 'मैं'। अब पहले कहो 'मैं' का अर्थ शरीर। लेकिन शरीर को 'मेरा' भी कहते हैं। स्वप्न का विचार करोगे तो स्थूल शरीर मेरा हो जायगा। सुषुप्ति का विचार करोगे तो सूक्ष्म शरीर भी मेरा हो जायगा। अब शुद्ध 'अहं' का विचार करो तो कारण शरीर भी मेरा हो जायगा। इस प्रकार जहाँ भी तुम 'मैं' शब्द का उपयोग करते हो, वहां आत्मपद का अर्थ ध्यान में बैठाने लगो तो धीरे-धीरे आत्मा शब्द का अर्थ ध्यान में आ जायगा। वैसे आत्मा शब्द के चार अर्थ होते हैं—

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते।

'आप्नोति इति आत्मा' आप्नोति—व्याप्नोति अर्थात् जो सब में व्याप्त हो, वह आत्मा। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें अपनी व्याप्ति न हो। यह घड़ी, यह पुस्तक, यह मकान—'मैं' के बिना किसी का पता लगेगा?

'यदादत्ते' घड़े में मिट्टी के समान उपादान रूप से सम्पूर्ण विषयों में व्यापक है और 'आदत्ते' सबका प्रकाशक—सबको ग्रहण करने वाला भी यही है। सुषुप्ति में सबको अपने भीतर समेट लेता है। उपादानरूप से सबकी उत्पत्ति का कारण, सबका ग्रहण करने वाला होने से सबका प्रकाशक, सबके प्रलय का स्थान और अविनाशी आत्मा है। ये चारों बातें अपने में हैं और यह आत्मा आनन्द स्वरूप ही है।

जहां अपने से भिन्न के द्वारा आनन्द लेना होता है, वहाँ करण की—इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, किन्तु—

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'

स्वरूपभूत आनन्द के आस्वादन के लिये करण की आवश्यकता नहीं है। शान्त विक्षिप्त, सविषयक-निर्विषयक आदि वृत्तियों की भी आवश्यकता नहीं है। वह तो सब का प्रकाशक है। वृत्तियाँ तो सभी उस आत्मा के ही प्रकाश में नृत्य कर रही हैं। अतः आत्मानन्द करण-सापेक्ष नहीं है। इसीसे उसके लिये प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऐसे आनन्द स्वरूप आत्मा में दुःख कहाँ से आया? भूल से। आत्मा या ब्रह्म की भूल से नहीं, मनुष्य की भूल से। यह मनुष्य देह में अभिमान करने वाला अज्ञानी

पुन, शरीरादि प्राकृत पदार्थ हैं। इनमें न दुःख है, न सुख। ये तो स्वयंप्रकाश हैं ही नहीं। न अपने को जानते, न दूसरे को। न अपने को सुख-दुःख देते, न अन्य को। ज्यों-के-त्यों पड़े हैं ये सब। ऐसी अवस्था में दुःख कहाँ से होता है? अविद्या से। इनमें से जब किसी को हम अपना मान लेते हैं, तब उसके रहने-जाने या परिवर्तन में हमें सुख-दुःख होने लगता है। मकान हमें क्या सुख-दुःख देता है? पता नहीं कितने मकान बनते गिरते हैं। आपने आज एक मकान खरीद लिया। अब वह आपका होगया तो उसके बनने-गिरने से आपको सुख-दुःख होगा। अविद्या के कारण हम जिस वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, वही सुख दुःख देती है।

अब इसे विस्तार से समझो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं। यह न सुखद हैं, न दुःखद। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, ये भी सुखद-दुःखद नहीं है। इनका कारणभूत तामस अहंकार भी सुख-दुःख का हेतु नहीं है। नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी सुख-दुःख नहीं देतीं। पञ्चप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान) भी सुख-दुःख नहीं देते। इन सबका व्यवस्थापक अहंकार भी सुख-दुःख का कारण नहीं। ये सब-के-सब प्राकृत हैं-प्रकृति की वस्तु में हैं। बुद्धि भी केवल समझती है कि यह सुख है, यह दुःख है। वह सुख-दुःख देती नहीं, इसी प्रकार प्रकृति भी सुख-दुःख नहीं देती। जब प्रकृति और प्रकृति के समस्त विस्तार में कोई दुःख नहीं देता तो दुःख आता कहाँ से है? वही उत्तर-अविद्या से! अविद्या का अर्थ है अज्ञान-नासमझी-मूर्खता। यह मूर्खता ही दुःखकी सृष्टि करती है। जब हम किसी वस्तु को ठीक नहीं समझते, तब दुःखी होते हैं।

अहंता अर्थात् प्राकृत अहंकार तो सुषुप्ति में भी रहता है। उस समय श्वास चलती है, रुधिराभिसरण होता है, नख-केश बढ़ते हैं, अन्न पचता है। अहंकार उस समय भी क्रियाशील रहता है। यह अहं दुःख का हेतु नहीं है। दुःख का हेतु तो अस्मिता है। आत्मा है चेतन-द्रष्टा और अहंकार है प्राकृत। जब हम दृश्य और द्रष्टा का ठीक-ठीक अलगाव नहीं कर पाते, और चित्स्वरूप होने पर भी अविद्या के कारण जब अहंकार के साथ ऐसे एक हो जाते हैं कि अहंकार को ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं, तब इसको ही अस्मिता कहते हैं। यही चिज्जड़ ग्रन्थि है। इस अस्मितारूपी ग्रन्थि से ही फिर राग-द्वेष और अभिनिवेशरूपी क्लेश होते हैं। असल में दुःख देता है राग-द्वेष। प्रकृति से जैसे पुष्प उगता-बढ़ता-खिलता है, वैसे ही शिशु भी पैदा होता और बढ़ता है। उसमें कर लिया 'मैं' पना तो उससे अनुकूल-प्रतिकूल का भाव राग-द्वेष आया। अब जिससे राग है, वह हमसे दूर होगा तो दुःख और जिससे द्वेष है, वह पास आवे तो दुःख। इस राग-द्वेष में हम इतने डूब गये कि देह को, पुत्र को, घर को अपना अंग-अपने से अभिन्न मानने लगे। उनकी तनिक भी हानि हमें अपनी हानि लगने लगी। यह अभिनिवेश होगया। इस प्रकार हमारे दुःख का कारण अविचार है। अविचार में

हम इतने खो गये हैं कि अपने मुक्तस्वरूप–द्रष्टास्वरूप को भूल गये हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, ये दुःख के पाँच कारण योगदर्शन के अनुसार हैं। योगी कहते हैं कि अविद्या के इस परिवार का नाश करदो। इसका नाश विवेक-ख्याति से होगा। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर समाधि में द्रष्टा जब अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब उत्थान दशा में जान जायगा कि संसार की किसी वस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। वह वस्तु फिर आये या जाय। योगदर्शन कहता है कि दुःख-क्लेश तो आविद्यक हैं, अतः अविद्या की निवृत्ति करदो तो तुम्हारा क्लेश मिट जायगा, किन्तु संसार प्राकृत है, अतः संसार ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। यह न सुख देता है, न दुःख देता है। वेदान्त दर्शन कहता है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक जीव-सृष्टि और दूसरी ईश्वर-सृष्टि। पृथ्वी, जलादि पंचभूत शब्द-स्पर्शादि तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि ईश्वर की बनायी सृष्टि दुःखद नहीं होती। 'यह मैं हूँ और यह मेरा है। यह मैं नहीं और यह मेरा नहीं।' यह जीव की बनायी सृष्टि है।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

ईश्वर तो आनन्दघन है–आनन्दस्वरूप है। ईश्वर की सृष्टि का तो उपादान-कारण भी वही आनन्द है और यह सृष्टि जब लीन होती है, तब भी उसी आनन्द में लीन होती है। सृष्टि आनन्द से निकली, उसीमें लीन होती है और आनन्द में ही स्थित है। अतः सृष्टि तो आनन्दरूप ही है।

हुआ यह कि 'इतना मेरा, इतना तेरा' यह जो जीव ने मान लिया, इस जीव-सृष्टि से दुःख निकल पड़ा। मनुष्य ने कभी विचार नहीं किया कि 'मैं मेरा' कहाँ से हुआ। यह विचार न करना—अज्ञान ही अविद्या है। वेदान्त की यह अविद्या योगदर्शन की अविद्या से कुछ भिन्न है? यहाँ भेद इतना ही है कि योगदर्शन में ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्या को अनादि माना है; किन्तु वेदान्त सृष्टि को परमाणु से या प्रकृति से बनी नहीं मानता। दूसरे से सृष्टि बनी है, इसका निषेध करने के लिए कहता है कि ईश्वर से बनी है। यह ईश्वर से सृष्टि बनने का अध्यारोप ही है सृष्टि बनने के समर्थन में तात्पर्य नहीं है। अन्य-कारणवाद के निषेध में यहाँ तात्पर्य है। तत्त्व-दृष्टि से तो सृष्टि बनी ही नहीं, इसका निरूपण श्रीगौड़पादाचार्य स्वयं आगे इसी ग्रन्थ में करेंगे।

कर्म से सृष्टि मानने में प्रश्न उठता है कि पहले कर्म या पहले शरीर? पहले शरीर था तो कर्म के बिना शरीर बना कैसे? यदि पहिले कर्म था तो शरीर के बिना कर्म हो नहीं सकता। दोनों को साथ मानने से उनमें कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। दोनों को अनादि मानने से भी कार्य कारणभाव नहीं बनेगा। अतः ये अनादि-रूप से कल्पित हैं। अनादि ब्रह्म वास्तविक है और अनादि कार्य-कारणभाव कल्पित है, यह मानना पड़ेगा। यह सृष्टि अविद्या से ही दुःख देती है, यह बात साङ्ख्य और योग कहते हैं,

पुत्र, शरीरादि प्राकृत पदार्थ हैं। इनमें न दुःख है, न सुख। ये तो स्वयप्रकाश हैं ही नहीं। न अपने को जानते, न दूसरे को। न अपने को सुख-दुःख देते, न अन्य को। ज्यों-के-त्यों पड़े हैं ये सब। ऐसी अवस्था में दुःख कहाँ से होता है? अविद्या से। इनमें से जब किसी को हम अपना मान लेते हैं, तब उसके रहने-जाने या परिवर्तन में हमें सुख दुःख होने लगता है। मकान हमें क्या सुख-दुःख देता है? पता नहीं कितने मकान बनते गिरते हैं। आपने आज एक मकान खरीद लिया। अब यह आपका होगया तो उसके बनने-गिरने से आपको सुख-दुःख होगा। अविद्या के कारण हम जिस वस्तु से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, वही सुख दुःख देती है।

अब इसे विस्तार से समझो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं। यह न सुखद हैं, न दुःखद। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश, ये भी सुखद-दुःखद नहीं हैं। इनका कारणभूत तामस अहंकार भी सुख-दुःख का हेतु नहीं है। नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी सुख-दुःख नहीं देतीं। पञ्चप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान) भी सुख-दुःख नहीं देते। इन सबका व्यवस्थापक अहंकार भी सुख-दुःख का कारण नहीं। ये सब-के-सब प्राकृत हैं-प्रकृति की वस्तु में हैं। बुद्धि भी केवल समझती है कि यह सुख है, यह दुःख है। वह सुख-दुःख देती नहीं, इसी प्रकार प्रकृति भी सुख-दुःख नहीं देती। जब प्रकृति और प्रकृति के समस्त विस्तार में कोई दुःख नहीं देता तो दुःख आता कहाँ से है? यही उत्तर-अविद्या से! अविद्या का अर्थ है अज्ञान-नासमझी-मूर्खता। यह मूर्खता ही दुःखकी सृष्टि करती है। जब हम किसी वस्तु को ठीक नहीं समझते, तब दुःखी होते हैं।

अहंता अर्थात् प्राकृत अहंकार तो सुषुप्ति में भी रहता है। उस समय श्वास चलती है, रुधिराभिसरण होता है, नख केश बढ़ते हैं, अन्न पचता है। अहंकार उस समय भी क्रियाशील रहता है। यह अहं दुःख का हेतु नहीं है। दुःख का हेतु तो अस्मिता है। आत्मा है चेतन-द्रष्टा और अहंकार है प्राकृत। जब हम दृश्य और द्रष्टा का ठीक-ठीक अलगाव नहीं कर पाते, और चित्स्वरूप होने पर भी अविद्या के कारण जब अहंकार के साथ ऐसे एक हो जाते हैं कि अहंकार को ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं, तब इसको ही अस्मिता कहते हैं। यही चिज्जड़-ग्रन्थि है। इस अस्मितारूपी ग्रन्थि से ही फिर राग-द्वेष और अभिनिवेशरूपी क्लेश होते हैं। असल में दुःख देता है राग-द्वेष। प्रकृति से जैसे पुष्प उगता-बढ़ता-खिलता है, वैसे ही शिशु भी पैदा होता और बढ़ता है। उसमें कर लिया 'मैं' पना तो उससे अनुकूल-प्रतिकूल का भाव राग-द्वेष आया। अब जिससे राग है, वह हमसे दूर होगा तो दुःख और जिससे द्वेष है, वह पास आवे तो दुःख। इस राग-द्वेष में हम इतने डूब गये कि देह को, पुत्र को, घर को अपना अंग-अपने से अभिन्न मानने लगे। उनकी तनिक भी हानि हमें अपनी हानि लगने लगी। यह अभिनिवेश होगया। इस प्रकार हमारे दुःख का कारण अविचार है। अविचार में

हम इतने खो गये हैं कि अपने मुक्तस्वरूप-द्रष्टास्वरूप को भूल गये हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, ये दुःख के पाँच कारण योगदर्शन के अनुसार हैं। योगी कहते हैं कि अविद्या के इस परिवार का नाश करो। इसका नाश विवेक-ख्याति से होगा। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर समाधि में द्रष्टा जब अपने स्वरूप में स्थित होगा, तब उत्थान दशा में जान जायगा कि संसार की किसी वस्तु से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वस्तु फिर आये या जाय। योगदर्शन कहता है कि दुःख-क्लेश तो आविद्यक हैं, अतः अविद्या की निवृत्ति करदो तो तुम्हारा क्लेश मिट जायगा, किन्तु संसार प्राकृत है, अतः संसार ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। यह न सुख देता है, न दुःख देता है। वेदान्त दर्शन कहता है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक जीव-सृष्टि और दूसरा ईश्वर-सृष्टि। पृथ्वी, जलादि पंचभूत शब्द-स्पर्शादि तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि ईश्वर की बनायी सृष्टि दुःखद नहीं होती। 'यह मैं हूँ और यह मेरा है। यह मैं नहीं और यह मेरा नहीं।' यह जीव की बनायी सृष्टि है।

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

ईश्वर तो आनन्दघन है—आनन्दस्वरूप है। ईश्वर की सृष्टि का तो उपादान-कारण भी यही आनन्द है और यह सृष्टि जब लीन होती है, तब भी उसी आनन्द में लीन होती है। सृष्टि आनन्द से निकली, उसीमें लीन होती है और आनन्द में ही स्थित है। अतः सृष्टि तो आनन्दरूप ही है।

हुआ यह कि 'इतना मेरा, इतना तेरा' यह जो जीव ने मान लिया, इस जीव-सृष्टि से दुःख निकल पड़ा। मनुष्य ने कभी विचार नहीं किया कि 'मैं मेरा' कहाँ से हुआ। यह विचार न करना—अज्ञान ही अविद्या है। वेदान्त की यह अविद्या योगदर्शन की अविद्या से कुछ भिन्न है? यहाँ भेद इतना ही है कि योगदर्शन में ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्या को अनादि माना है, किन्तु वेदान्त सृष्टि को परमाणु से या प्रकृति से बनी नहीं मानता। दूसरे से सृष्टि बनी है, इसका निषेध करने के लिए कहता है कि ईश्वर से बनी है। यहाँ ईश्वर से सृष्टि बनने का अध्यारोप ही है सृष्टि बनने के समर्थन में तात्पर्य नहीं है। अन्य-कारणवाद के निषेध में यहाँ तात्पर्य है। तत्त्व-दृष्टि से तो सृष्टि बनी ही नहीं, इसका निरूपण श्रीगौड़पादाचार्य स्वयं आगे इसी ग्रन्थ में करेंगे।

कर्म से सृष्टि मानने में प्रश्न उठता है कि पहले कर्म या पहले शरीर? पहले शरीर था तो कर्म के बिना शरीर बना कैसे? यदि पहिले कर्म था तो शरीर के बिना कर्म हो नहीं सकता। दोनों को साथ मानने से उनमें कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। दोनों को अनादि मानने से भी कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। अतः ये अनादि रूप से कल्पित हैं। अनादि ब्रह्म वास्तविक है और अनादि कार्य-कारणभाव कल्पित है, यह मानना पड़ेगा। यह सृष्टि अविद्या से ही दुःख देती है, यह बात सांख्य और योग कहते हैं,

किन्तु वेदान्त के मत में तो सृष्टि अविद्या से ही बनी है। अपनी आत्मा से भिन्न सृष्टि को हम अधिष्ठान के-प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्व के अज्ञान से ही मान रहे हैं। आत्मा को ब्रह्मस्वरूप जानते ही सृष्टि रह नहीं जाती। अपनी आत्मा से भिन्न सृष्टि है, यह विचार अपने आप को ब्रह्मस्वरूप न जानने से ही है।

अच्छा, अब इस सम्बन्ध में एक दो बातें देखो। काल के सम्बन्ध में निर्णय यह है कि भूतकाल अनादि होता है; क्योंकि यह कब प्रारम्भ हुआ, कहा नहीं जा सकता और भविष्यकाल अनन्त होता है, क्योंकि उसकी कहीं समाप्ति नहीं है। इस अनादि अनन्त काल के मध्य अपनी आयु के जो सौ पचास वर्ष तुम मानते हो, वह काल का कौन-सा भाग है ?। कहना होगा कि यह सौ पचास वर्ष तो प्रतीति मात्र है अनादि-अनन्त काल में।

अब देश को लो। देश अनन्त है या नहीं ? देश की जब कोई सीमा नहीं तो उसका कौनसा भाग हमारे शरीर ने घेर रखा है, यह कैसे बताया जा सकेगा ? विस्तार की दृष्टि से भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अनन्त में केवल प्रतीत हो रहे हैं।

कारण-सत्ता की दृष्टि से देखें तो जो पूर्ण सत्ता होती है, उसमें कोई भी परिच्छिन्न-सत्ता रह नहीं सकती, क्योंकि एक परिच्छिन्न-सत्ता जहाँ होगी, पूर्णसत्ता को वहाँ परिच्छिन्न बनावेगी। अतः उस अनन्त के अज्ञान से ही हम इन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को सत्य मान रहे हैं।

अब 'त्वं' पदार्थ को लेकर विचार करें। रूप में नेत्र प्रमाण है। नेत्र में मन, मन के लिये बुद्धि और बुद्धि की सत्ता के लिए मैं प्रमाण हूँ। मैं बुद्धि के भाव-अभाव दोनों का साक्षी हूँ। देश, काल, वस्तु इन सबकी प्रतीति बुद्धि के द्वारा होती है। अतः बुद्धि तथा उसके द्वारा प्रतीत सब दृश्य होने के कारण स्वप्न के समान मिथ्या हुए। इस प्रकार अनन्त देश-काल की वास्तविक सत्ता नहीं है। समाधि में-शान्त चित्त में सृष्टि की प्रतीति नहीं होती। विक्षिप्त-चंचल चित्त में ही सृष्टि की प्रतीति है। पागलपन में किसी को कुछ प्रतीति हो तो वह सत्य होगा या मिथ्या ? इसलिये समाधि में, तथा सुषुप्ति में सृष्टि का अभाव होने से, केवल विक्षिप्त चित्त में प्रतीति होने से, दृश्य होने से, विकारी होने से, परिच्छिन्न होने एवं ज्ञाननिवर्त्य होने से सृष्टि सिद्ध नहीं होती। यह न तो सत्ता की दृष्टि से ही सत्य है, न ज्ञान-दृष्टि से और न अनादि और अनन्त दृष्टि से ही। यहाँ तक कि यह अदृष्ट से भी नहीं बनी या स्थित है, क्योंकि अदृष्ट की प्रतीति नहीं हो सकती। यह तो केवल विपरीत दृष्टि से है।

'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।'

अविद्या में बैठ करके ही अविद्या की कल्पना की जाती है।

'ब्रह्म दृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन विद्यते।'

ब्रह्म-दृष्टि से तो अविद्या त्रिकाल में नहीं है। अविद्यमान होने पर भी मनुष्य को

जो अपने अज्ञानी होने की अनुभूति है, इस अनुभूति के बल पर अविद्या की कल्पना करनी पड़ती है।

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप उसे कहते हैं जो दूसरे को जाने। लेकिन दूसरा है ही नहीं तो ब्रह्म किस को जानेगा? अपने आप को? किन्तु ब्रह्म अनन्त है। यदि अपने को वह पूर्णतः जान ले तो अपना अन्त उसे मिल जायगा। ब्रह्म का स्वभाव है जानना, और अनन्त का स्वभाव है जानने में न आना। जैसे आँख का स्वभाव है देखना और आकाश का स्वभाव है पूर्णतः दृष्टि में न आना। इसका फल यह होता है कि हम आकाश में नीलिमा-क्षितिज देखने लगते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म का देखना स्वभाव है-ज्ञान स्वभाव है और दृश्य न होना भी स्वभाव है। ज्ञानस्वरूप होने से वह ज्ञेय बनता नहीं। अब देखे बिना मानता नहीं और स्वरूप का ग्रहण होता नहीं तो आकाश में नीलिमा के समान अन्यथा-ग्रहण होजाता है। इस प्रकार अपने आप को न देख पाने के कारण वह एक अपरिच्छिन्न चेतन को ही अनेक, परिच्छिन्न, जड़ के रूप में देखने लगता है। अपने को ही अन्य-रूप से देखता है।

'देवस्यैव स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा।'

यह परमात्मा का स्वभाव है। इसलिये यह दीखना कोई अपराध नहीं है। ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, भान का विरोधी नहीं है। इसीसे प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्च जिन्हें सांख्य और योग नित्य मानते हैं, यह प्रपञ्च रहेगा अर्थात् इसकी प्रतीति तो रहेगी केवल इसमें जो सत्यत्वकी भ्रान्ति है, आत्मा से भिन्न जो इसे सत्य वस्तु माने बैठे हैं, यह भ्रान्ति मिट जायगी।

प्रपञ्च को भ्रान्ति कहने का कारण है। ज्ञान-ब्रह्म में जहाँ आना-जाना माना, वहीं भ्रान्ति हुई। जब ज्ञान अन्तःकरण की प्रमाण-वृत्ति पर आरूढ होकर प्रमेय देश में जाता है, ऐसा माना, बस वहीं भ्रम हो गया। भ्रमण ही भ्रान्ति है; क्योंकि ज्ञान देशपरिच्छिन्न नहीं है। अतः एक देश से दूसरे देश में उसके जाने की आवश्यकता भी नहीं है। ज्ञान कालपरिच्छिन्न भी नहीं है कि एक क्षण यहाँ फिर वहाँ। विषय में रहकर 'इदम्' और देह में रहकर 'अहम्' बन जाय, ऐसा भी ज्ञान नहीं है। इसलिये जहाँ ज्ञान का आना-जाना माना, वहीं भ्रम हो गया।

जैसे नेत्रवृत्ति जाकर पदार्थ से टकराकर जब लौटती है तब उस पदार्थ का ज्ञान होता है। दर्पण से नेत्र-वृत्ति टकराकर लौटती है तब अपना मुख दीखता है। शीशे में कुछ लगा न हो और नेत्रवृत्ति शीशे को पार कर जाय तो मुख नहीं दीखेगा। इसी प्रकार ज्ञान वृत्त्यारूढ होकर कहीं जाय और टकरा कर किसी से न लौटे तो ज्ञेय की उपस्थिति बुद्धि में नहीं होगी। ज्ञेय से टकरा कर लौटने पर बुद्धि में ज्ञेय की उपस्थिति होती है।

यह टकरा कर लौटा हुआ ज्ञान विपरीत ज्ञान हो गया। विपरीत ज्ञान का अर्थ यह है कि हम जो कुछ देखते हैं, ज्ञान के विपरीत देखते हैं। यही भ्रान्तिज्ञान है।

'द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वात्।'

यह द्वैत प्रपञ्च अविद्या से बना है, सत्य प्रतीत होता है। अब अद्वैत ज्ञान होने पर यह प्रपञ्च मिट जायगा? नहीं, यह संसार, ये कल-कारखाने, यह घर-द्वार, स्त्री-पुत्र सब-ज्यों-के त्यों रहेंगे। अविद्या से बना है यह प्रपञ्च, अतः

'विद्यया तदुपशमः स्यात्।'

वस्तु से बनी वस्तु कर्म से मिटती है। अज्ञान से हुई वस्तु ज्ञान से मिटेगी।

महाविद्या का अर्थ है अनन्त विषयक विद्या। अनन्त का ज्ञान न होने से प्रपञ्च ठोस-सत् प्रतीत हो रहा है। अनन्त का ज्ञान हो जाय तो पता लग जायगा कि कोई वस्तु परिच्छिन्न नहीं है। हम जो वस्तुओं को परिच्छिन्न देखते हैं, यह भ्रम है। किसी की उत्पत्ति-नाश भी नहीं है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

जो वस्तु है, उसका कभी नाश नहीं होता और जो नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार जन्म-मृत्यु दोनों का निषेध कर दिया। न सत्य से सत्य की उत्पत्ति होती और न सत् से असत् की। यह बिना हुये ही उत्पत्ति-नाश दीख रहा है। बिना हुए दीखने के कारण यह अनिर्वचनीय है। हम इसको अविद्या से सत्य मानते हैं। इस अविद्या को मिटाने के लिये स्वरूपज्ञान आवश्यक है। अतः स्वरूपभूत ब्रह्मज्ञान प्रकाशित करने के लिये इस प्रकरण को आरम्भ किया गया है। अब इसमें श्रुति का प्रमाण देते हैं—

यत्र हि द्वैतमिव भवति यत्र वान्यदिवस्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्य-द्विजानीयात्। (बृ. उ.)

अज्ञान से जो वस्तु होती है, वह वस्तुतः होती नहीं। जैसे सूखे कटे पेड़ के ठूँठ में चोर, भूत या और कुछ दीख रहा है। वह कुछ है नहीं, केवल दीख रहा है। अज्ञान में यही होता है कि दूसरा दूसरे जैसे —वास्तविक से सर्वथा भिन्न दीखता है। जिसे सब आत्मा ही हो गया है —वहाँ कौन किसे दीखेगा? यह विद्या दशा में ही होना सम्भव है। जब हम समझ गये कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। तब उस समय किस करण से किसे दीखेगा? उस समय न तो देखने का अन्य कोई करण है, न देखने का अन्य कोई विषय है। जितना भेद ज्ञान है, वह औपाधिक होता

है। उप का अर्थ समीप। जो समीप रहकर अपने गुण दूसरे में कर दे, उसका नाम है उपाधि। जैसे दर्पण या स्फटिक के पास लाल फूल रख दिया तो दर्पण या स्फटिक लाल दीखने लगा। यह लाल फूल जो स्फटिक को लाल दिखा रहा है, उपाधि हो गया। यह स्फटिक में रोग आ गया– उपाधि की व्याधि हो गयी। और समाधि क्या है ? कार्य को कारण में लीन कर देना। शरीर जो मिट्टी से बना था, मिट्टी में गाड़ दिया तो देह की समाधि हो गयी।

एक ही वस्तु को नेत्र लाल कहता है, नासिका सुगन्धित कहती है, जिह्वा कषाय बतलाती है, त्वचा कोमल कहती है। वस्तु तो एक है, पाँच इन्द्रियाँ उसे पाँच प्रकार का बताती हैं। अब यदि इन्द्रियाँ न रहें तो – कैसे वस्तु का पता लगे। अब इन्द्रियाँ भी हैं और प्रतीति भी हो रही है; किन्तु जान लिया कि यह तो एक चैतन्य वस्तु है। वही इन्द्रिय–करण तथा वस्तु के रूप में भास रही है। तब देखने का अभिमान कैसे होगा। इस प्रकार अनेक श्रुतियों से यह तत्त्व समझ लेना चाहिये। जैसे भूमि में धन गड़ा है और हम उस पर घूम रहे हैं, किन्तु जानते नहीं कि हमारे पैरों के नीचे धन है, अत: अपने को दरिद्र मान रहे हैं– दरिद्रता का दु:ख भोग रहे हैं। किसीने हमें बता दिया और हम धनी हो गये। इसी प्रकार श्रुति उपलब्ध आत्मा ब्रह्म में जो अप्राप्ति की भ्रान्ति है, उसे दूर करती है।

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानम्
आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्।

इस प्रकार ब्रह्मविद्या का निरूपण करने के लिये यह जो ग्रन्थ माण्डूक्योपनिषद् प्रवृत्त हुआ, इस ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं। मूल उपनिषद् तो बारह मन्त्रों का है। कारिका के जो श्लोक हैं वे सब किसी-न-किसी मन्त्र से सम्बन्धित हैं। चार प्रकरण के इस ग्रन्थ का विषय-विभाजन भाष्यकार ने किया है।

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण ओंकार–निर्णय के लिये है। ग्रन्थ ब्रह्मविद्या के प्रकाश करने को है और उसका प्रथम प्रकरण ओंकार–निर्णय के लिये है, ऐसा क्यों ? आत्मतत्त्व का ठीक-ठीक अनुभव प्राणियों को हो जाय, इसमें ओंकार का ठीक स्वरूप समझना सहायक है।

यह ओंकारनिर्णय आत्मतत्त्व की प्रतिपत्ति में उपाय है। प्रतिपत्ति का अर्थ है ग्रहण। जहाँ जड़ पदार्थ की प्राप्ति होती है, वहाँ प्राप्ति शब्द का प्रयोग होता है; किन्तु जहाँ ज्ञानस्वरूप वस्तु की प्राप्ति होती है, वहाँ वह प्राप्ति अनुभव रूप ही होती है, अत: इसे प्रतिपत्ति कहते हैं।

यह अनुभव शब्द भी बड़ा विलक्षण है। यह शब्द 'भू' धातु से बना है, अत इसे सत्तावाचक होना चाहिये, किन्तु 'अनु' उपसर्ग लगने के कारण यह ज्ञानवाचक

हो गया। इसका अर्थ हुआ कि सत्ता और ज्ञान ये दोनों दो वस्तु नहीं, एक ही हैं। सत् और चित् एक ही हैं– यह अभिप्राय अनुभव शब्द सूचित करता है। दूसरी विशेषता इस शब्द की है कि यह कार्य-कारण दोनों है। 'भव' का अर्थ संसार भी और शिव भी। भव-कारण ईश्वर का भी वाचक तथा कार्य-संसार का भी वाचक है। अनुभव अर्थात् भव के पीछे कार्य-कारणरूप जगत् के जो पीछे स्थित है। कर्म, योग, उपासनादि के पीछे जो है, वह अनुभव है। यह दृश्य नहीं है, दृश्य से विलक्षण है। कर्म के नाश होने पर कारण रहता है और कारण के भी पीछे– अधिष्ठानरूप में जो वस्तु है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ही अनुभवस्वरूप है। आत्मतत्व की प्रतिपत्ति– अनुभव का उपाय है ओंकार-निर्णय। सभी प्रकरण-ग्रन्थ के चारों प्रकरण उपाय ही हैं। लेकिन यह प्रथम प्रकरण– 'आगम प्रधानम्' श्रुति के अर्थ के विवेचन के रूपमें है। यह युक्तिप्रधान या खण्डनप्रधान नहीं है।

आगम का अर्थ है आया हुआ। जो हमें सम्प्रदायाविच्छेद से– परम्परा से प्राप्त अपौरुषेय ज्ञान है, वह। अब प्रश्न होगा कि जो वेद को अपौरुषेय नहीं मानते, उनको क्या ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता? ऐसा नहीं, यह युक्ति तथा अनुभव से सिद्ध है।

जो लोग ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं, उनके मत में ज्ञान के पूर्व तथा पश्चात् जड़ तत्त्व ही रहेगा, अतः वे नास्तिक होंगे। चार्वाक् और कार्ल मार्क्स, डार्विन, हेकले आदि पाश्चात्य जड़वादी दार्शनिक जगत् के मूल में जड़ तत्त्व मानते हैं, अतः वे ज्ञान को उत्पन्न एवं विनाशी ही मानेंगे। इस प्रकार जो नास्तिक हैं उन्हें ब्रह्म-ज्ञान नहीं होगा, यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है। ब्रह्मज्ञान तो उन्हें अपने मत से ऊपर उठकर वेदान्त में आने पर ही होगा।

ज्ञान अपौरुषेय है। यह किसी का बनाया नहीं है। ज्ञान के स्वतःसिद्ध होने के कारण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा का ऐक्य अपरोक्ष रूप से जान लेने में कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान की अपौरुषेयता समझने योग्य है। ईश्वर ने पहले ज़िन्दा वस्ता, बाइबिल या कुरान बनाया और फिर उसे मन्सूख करके दूसरा 'इलहाम' भेजा। इस प्रकार अपने ज्ञान को ही ईश्वर ने कभी ठीक और कभी गलत बनाया, ऐसी बात वेद के सम्बन्ध में नहीं है। वेद नित्य हैं। ईश्वर का ज्ञान नित्य और सदा भ्रान्तिरहित है। पुस्तकों की बात भले छोड़ दी जाय, किन्तु ज्ञान की एकरसता तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। उसमें उत्पत्ति-विनाश नहीं है।

यह ओंकार-निर्णय लौकिक दृष्टि से विचार करने की वस्तु नहीं है। वैदिक दृष्टि से इसके विचार की आवश्यकता है। वेद के आविर्भाव तिरोभाव का अर्थ भी समझना चाहिये। सुषुप्ति में आत्म-चैतन्य का स्पष्ट भान नहीं होता, क्योंकि बुद्धि जो करण है उस समय नहीं रहती। वहाँ चैतन्य का लोप नहीं है। चैतन्य को प्रकट करने के करण न होने से उसका भान नहीं है। इसी प्रकार प्रलय में बुद्धि आदि का लय हो जाने से वेद का तिरोभाव हो गया। ज्ञान का स्वरूपतः तिरोभाव नहीं हुआ।

यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्

अब द्वितीय प्रकरण का परिचय देते हैं। द्वैत प्रपञ्च के उपशान्त हो जाने पर अर्थात् उसकी आत्म ब्रह्म से भिन्न सत्य रूप से प्रतीति मिट जाने पर, प्रतीति होने पर भी उसमें सत्यत्व की भ्रान्ति न रहने से – उस प्रतीति में हेय-उपादेय, राग द्वेष, प्रिय-अप्रियादि नहीं हैं। इसे ही उपशान्ति कहते हैं। आकाश में नीलिमा के समान प्रपञ्च दीखता तो है; किन्तु वह जन्म-मरणादि अनर्थ का हेतु नहीं है। इस प्रकार द्वैतरूप प्रपञ्च की उपशान्ति हो जाने पर अद्वैत की प्रतिपत्ति होती है, जैसे रस्सी में सर्पादि विकल्प का उपशम हो जाने पर रज्जु की प्रतिपत्ति होती है। यह द्वैत जैसा दीख रहा है, वैसा नहीं है। जड़ दीख रहा है, किन्तु है चेतन। अनेक दीख रहा है, पर है एक। परिच्छिन्न दीख रहा है, किन्तु है अपरिच्छिन्न। इस प्रकार यह जो वैतथ्य–अन्यथा दीख रहा है, उसका प्रतिपादन करने के लिये दूसरा प्रकरण है। प्रथम प्रकरण आगमप्रधान है और द्वितीय प्रकरण युक्तिप्रधान है।

तथाऽद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्।

तीसरा प्रकरण भी युक्तिप्रधान है। दूसरे और तीसरे प्रकरण का अन्तर यह है कि दोनों युक्तिप्रधान होने पर भी दूसरे प्रकरण में द्वैत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन है और तीसरे प्रकरण में अद्वैत जैसा अनुभव में आता है वैसा ही है, वह वैतथ्य नहीं है, यह बताया है। द्वैत दृष्टि में आता है, किन्तु जिस प्रकाशक के प्रकाश से वह दृष्टि में आता है, वह प्रकाशक एक है। यह शंका करें कि द्वैत से द्वैत दीखता है, ऐसा क्यों न मानें? तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय, चक्रकापत्ति, अनवस्था आदि अनेक दोष आयेंगे। अतः अद्वैत से ही द्वैत प्रकाशित हो रहा है, यह बात माननी पड़ेगी।

अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।

चतुर्थ प्रकरण का अभिप्राय बतलाते हैं। अद्वैत को जैसा कि वह है, उस रूपमें अनुभव करने में जो बाधा डालते हैं, वे प्रतिपक्षरूप वादान्तर बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय आदि हैं। साथ ही वे परस्पर विरोधी हैं। एक दूसरे का आपस में ही खण्डन करते हैं। उनका प्रतिपादन ठीक नहीं–असत्यार्थ प्रतिपादन करते हैं वे। अतः इस चतुर्थ प्रकरण में उन्हीं की युक्तियों से उनका खण्डन किया गया है।

वेद का परम तात्पर्य अद्वैत है और अवान्तर तात्पर्य अन्तःकरण की शुद्धि, तथा उसमें उसके साधनों का विधान है। ऊपर मूल में जो 'प्रतिपत्ति' शब्द है, उस 'प्रति' उपसर्ग का अर्थ है प्रत्यक्। अतः प्रतिपत्ति का अर्थ अपने हृदय में–आत्मा में जो उपलब्धि हो। प्रत्यक् का अर्थ है भीतर। जो बाहर दीखता है वह तो पराक् है।

खंडन की आवश्यकता क्या? यह बात यों है कि अद्वैतज्ञानसम्पन्न महापुरुष को तो कोई आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है जिज्ञासु को। अद्वैत-तत्त्व की दृष्टि से तो सृष्टि हुई ही नहीं। सृष्टि कैसे हुई? यह प्रश्न जिज्ञासु ही करेगा। अब जिज्ञासु से ही पूछा जाय कि तुम्हें कैसे सृष्टि हुई जान पड़ती है। जिज्ञासु की बुद्धि में जितने कारण हैं या हो सकते हैं, उनका वर्णन करके उनमें जो असगतियाँ हैं, उनसे ही उन कारणों का खण्डन कर दिया। जैसे किसीने कहा-'शून्य से सृष्टि हुई।' अब उसे समझा दिया कि अभाव से भाव की उत्पत्ति भला कैसे होगी! इस प्रकार जितने मत वह उपस्थित करता गया, उन मतों में परस्पर एक दूसरे का खण्डन है ही उन्हीं युक्तियों से उन सब मतों का खण्डन कर दिया और जिज्ञासु की बुद्धि के भ्रमों का निराकरण होगया। चतुर्थ प्रकरण में यही किया गया है।

कथं पुनरोङ्कारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इति।

अब प्रश्न हुआ कि ओंकार के निर्णय से आत्मज्ञान होता है, ऐसा क्यों कहते हो? जिसका निर्णय होगा, उसका ज्ञान होगा, दूसरे के निर्णय से दूसरे का ज्ञान तो हुआ नहीं करता। यह प्रश्न ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण के सम्बन्ध में है। ओंकारनिर्णय से ओंकारविषयक बुद्धि होगी, ब्रह्म विषयक निश्चय कैसे होगा?

अनुमान से भी ज्ञान होता है। अनुमान एक को देख कर दूसरे का ज्ञान करा देता है-यह तो एक युक्ति है। किन्तु अनुमान असम्बद्ध वस्तु का ज्ञान नहीं कराता। अनुमान तीन प्रकार का होता है १-कार्य को देख कर कारण का अनुमान २-कारण को देख कर कार्य का अनुमान ३-सृष्टि में जैसा सामान्य रूप से दीखता है। उसका अनुमान सवेरे पूरी धरती भीगी देखी तो इस कार्य से रात में बादल होकर वर्षा होने का अनुमान होगया। दूर पर बादल खूब चढ़े हैं, झुके हैं तो वहाँ वर्षा होती होगी-यह कारण को देख कर कार्य का अनुमान हुआ। रोगी कराहता है, यह सामान्य रूप से देखा जाता है। अब कोई कराहता दीखे तो रोगी होगा, यह सामान्य अनुमान हुआ। ओंकार ब्रह्म का कारण है या कार्य? जहाँ आत्मा-वहीं ओंकार और जहाँ ओंकार-वहीं आत्मा, ऐसा साहचर्य भी दीखता नहीं। अतः ओंकार-निर्णय से आत्मज्ञान कैसे होगा?

यह प्रश्न ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान के बल पर ओंकारनिर्णय से आत्मज्ञान होता है, यह बात कही नहीं जारही है। यह बात श्रुति के-बल-पर कही जा रही है। अतः श्रुति-प्रमाण देते हैं—

'ओमित्येतत्' (क० उ० १।२।१५)
'एतदालम्बनम्' (क० उ० १।२।१७)

इन श्रुतियों को समझने के लिये कठोपनिषद् की कथा को थोड़े में समझ लेना चाहिये। नियम यह है कि अपने पास जो उत्तम वस्तु है वह देवता की सेवा में लगानी

चाहिये, किन्तु होता प्रायः उलटा है–'सड़ी सुपारी देवता को।'

इसी प्रकार का एक ब्राह्मण है। वह दान में ब्राह्मणों को बूढ़ी, रोगी, वन्ध्या गायें दे रहा है और उत्तम गायें बचा लेता है। उसका पुत्र नचिकेता है। पिताके अन्याय को वह सह नहीं पाता। वह कहता है–'पिताजी, बूढ़ी गायें आप दान कर रहे हैं और अच्छी बचा रहे हैं, किसके लिये? मेरे लिये ही तो। अतः मैं आपको बहुत प्रिय हुआ। मुझे–अपनी सब से प्रिय वस्तु को आप किसे देंगे?' पिता कुछ नहीं बोले तो नचिकेता ने अपना प्रश्न फिर दुहराया। तीसरी बार जब यही प्रश्न नचिकेता ने किया तो पिता चिढ़कर क्रोध में बोले–'तुझे मृत्यु को दूँगा।' पिताने बात क्रोध में कही थी; किन्तु नचिकेता ने सोचा कि मेरे पिता की बात झूठी नहीं होनी चाहिये। अतः वह मृत्यु के द्वार पर–यमलोक के द्वार पर जाकर बैठ गया। ऐसा समझो कि समस्त विषयों का त्याग करके अनशन करके बैठ गया। महाप्रलय का चिन्तन करने लगा। उस अवस्था का चिन्तन करो जब शरीर भस्म हो जायगा। इसके कारणात्मक होने का चिन्तन करो तो मृत्यु के द्वार पर पहुँच जाओगे और वहीं से ज्ञानोपदेश प्राप्त होगा। नचिकेता ने तीन-दिन तक अन्न–जल कुछ नहीं लिया। यमराज उसके सामने आये अर्थात् मृत्यु प्रत्यक्ष दीखने लगी। अब उसे लगा कि अन्नमय कोप तथा प्राणमय कोप छूट जायगा। प्रलोभन आये कि जीवित रहोगे तो राज्य मिलेगा, सुख मिलेगा, भोग मिलेंगे। लोक तथा परलोक-स्वर्गादि के सुख भी जीवन के कार्यों से पा सकोगे। लेकिन नचिकेता का वैराग्य दृढ़ रहा। अर्थात् वह स्थिर चिन्तन में लगा रहा कि मृत्यु के पश्चात् क्या रह जाता है। कार्य से कारण से, कृत से–अकृत से, पाप से–पुण्य से, धर्म से–अधर्म से, भूत से–भविष्य से–इन सब से परे क्या है? इस नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में यमराज ने अपने अनुभव की वस्तु बतायी–सब वेद, सारी तपस्या, समस्त साधन केवल ॐ के लिये है।

'ओमित्येतत्।'

ॐ का उच्चारण करो। अकार, उकार, मकार का उच्चारण हुआ। इस उच्चारण के समय तो कोई विषयस्फुरणा होती नहीं। अन्तःकरण में जो समस्त बाह्य विषयों का ज्ञान है, उधर से ओंकार के उच्चारण के समय वृत्ति लौट आती है। केवल शब्द विषय हो रहा है। इस के भी चार भेद हैं। १–दृश्य भी है और शब्द भी २– दृश्य नहीं है, शब्द है। ३– शब्द नहीं है, परन्तु दृश्य है। ४– शब्द और दृश्य दोनों नहीं हैं। उच्चारण के प्रारम्भ में शब्द और दृश्य दोनों रहते है। दूसरी अवस्था में आकृति दीखती है। तीसरी दशा में केवल शब्द सुन पड़ता है। मकार के सिरे पर पहुँच कर स्वर समाप्त हो जाता है। प्राण शान्त हो जाता है। एक निःशब्दावस्था रहती है।

ओंकार ने क्या किया? उसने दूसरे सब शब्दों का उच्चारण समाप्त कर दिया।

इस के पश्चात् अकार, उकार, मकार के उच्चारण को समाप्त करके शान्तावस्था में पहुँचा दिया। इस प्रकार चैतन्य में स्फुरित यह निर्विषय ॐ क्या है? यह देश की, काल की, विषय की स्फुरणा तो है नहीं। अतः यह चैतन्य है – ब्रह्म चैतन्य।

ज्ञान दो प्रकार से होता है। एक स्वरूप–लक्षण से और दूसरा तटस्थ–लक्षण से। आकाश में सब से बड़ा प्रकाश पिंड जो रात्रि में दीखता है, वह चन्द्रमा है। यह चन्द्रमा का स्वरूप–लक्षण हुआ। द्वितीया का चन्द्रमा दीखता नहीं, अतः बताया कि उस वृक्ष से दो हाथ ऊपर चन्द्रमा है। यह तटस्थ–लक्षण हुआ। यहाँ वृक्ष से दो हाथ ऊपर मापने में तात्पर्य नहीं है, एक संकेत देने में तात्पर्य है। इसी प्रकार प्रणव शाखाचन्द्र न्याय से– तटस्थ लक्षण से परमात्मा का बोध कराता है। इसे जहल्लक्षणा कहते हैं। अर्थात् जो शब्द कहा गया, उसके मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्धित वस्तु का–अर्थ का ज्ञान कराना।

'एतदालम्बनम्।'

यह दूसरी श्रुति है। जैसे मन्दिर में पाषाण–मूर्ति है। उसे कारीगर ने टाँकी से बनाया है और मूल्य देकर यह खरीदी गयी है। वह मूर्ति देवता नहीं है। उस मूर्ति में देवता–बुद्धि की जाती है। देवता की भावना के लिये यह मूर्ति आलम्बन है। इसी प्रकार प्रणव आलम्बन है ब्रह्म-बुद्धि बनाने का। 'अवति इति ओम्' जो अविद्या और उसके कार्य से हमारी रक्षा करे, उसका नाम है ओम्। तटस्थवृत्ति से – जहल्लक्षणा से ॐ परमात्मा को – ब्रह्म को लक्षित कराता है।

'एतद्वै सत्यकाम' (प्र.उ. ५।२)

प्रश्नोपनिषद् की यह श्रुति है। प्रश्नोपनिषद् में जो सत्यकाम का प्रसंग है, वहाँ भी ओंकार का वर्णन है। यहाँ पर–अपर रूप से परमात्मा का वर्णन है। 'सच्च त्यच्च' ईश्वर सत्य भी है और यह कार्य-कारणरूप प्रपञ्च भी वही है। यह कार्य-कारणरूप ईश्वर का अपर रूप है और जो सब में व्याप्त रूप है, वह पर रूप है। इसका अर्थ है कि कार्य-कारणरूप प्रपञ्च तथा उसमें व्याप्त चेतन दोनों एक ही सत्ता हैं। अब केवल ओंकार की ही उपासना यदि पर-अपर रूप से की जाय तो पूर्ण बुद्धि से जो प्रणव की प्रतिपत्ति है, उससे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। उपासना के सम्प्रदाय भिन्न–भिन्न होते हैं। यह पर-अपर रूपात्मक प्रणव की उपासना एक सम्प्रदाय है। 'तुम्हीं माता, तुम्हीं पिता। तुम्हीं हमारे सर्वस्व।' इस प्रकार सर्वात्मना प्रणव की शरण-ग्रहण करके भी उपासना होती है।

'ओमित्यात्मानंयुञ्जीत' (मैत्र्यु० ६।३)

जब प्रणवका उच्चारण धर्म के अंगरूप में, क्रिया के अंगरूप में होता है तब उस धर्म या क्रिया के लिये आवश्यक पवित्रता एवं विधि अपेक्षित होती है। स्थूल

शरीर से प्रणव-सेवन, सूक्ष्म शरीर से प्रणव-सेवन, कारण-शरीर से प्रणव-सेवन और तुरीय रूप से प्रणव-सेवन, इनमें जितना सूक्ष्म सेवन होगा, उतना सर्वावस्था में रहेगा और जितना स्थूल सेवन होगा, उतना सर्वावस्था में प्रविष्ट नहीं होगा।

नाम-बुद्धि से प्रणव का सेवन और मन्त्र-बुद्धि से सेवन, यह भी भिन्न भिन्न बात है। समाधिनिष्ठ पुरुष प्रणव का उच्चारण करता है तब अकार का उकार में, उकार का मकार में और मकार का अभाव में लय कर के स्वरूप में स्थित हो जाता है। स्थूल दृष्टि अकार का सूक्ष्म दृष्टि उकार में और उसका कारणरूप मकार में लय करके, मकार का अभाव में लय -अर्थात् अ, उ, म कुछ नहीं, केवल आत्मतत्त्व रह जाता है।

'ओमिति ब्रह्म' (तै. उ. १।८।१)

बाध-सामानाधिकरण्य से ओंकार परमात्मा का बोधक है।

'यथा जलस्य आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते।' श्रीमद्भागवत

सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा जल में और जल से उस प्रतिबिम्ब का आभास पड़ा दीवाल पर। अब दीवाल पर पड़ने वाले प्रकाश की खोज करें तो वह जल में से आया। जल में वह आकाशस्थित सूर्य से आया। इसी प्रकार हमें जो बाहर ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों से आता है। इन्द्रियों में मन से आता है। इस प्रकार खोज करें तो आत्म-चैतन्य ही ज्ञानस्वरूप मिलता है। यह ज्ञान न इन्द्रियों का है न मन का। इस रीति से आभास का बाध करके कूटस्थ की प्रतिपत्ति होती है। इसी प्रकार यह-प्रणव-ब्रह्म है। प्रणव ब्रह्म कैसे है? इसमें से शब्द का बाध कर दो। शब्द जिसमें प्रतीत होता है और जिसको प्रतीत होता है, वह क्या है? इस प्रकार प्रणव ब्रह्म की प्रतिपत्ति का उपाय है। ऐसे उपाय सभी शब्द हो सकते हैं; किन्तु शब्दमात्र का अन्तर्भाव ओंकार में होता है।

मनुस्मृति में यह आया है कि भूत, भविष्य, वर्तमान सब वेदों से ही सिद्ध होता है। वेद के शब्दों से ही संसार के सब शब्द बने हैं। अतः वेद में समस्त शब्दों का अन्तर्भाव है और वेद का अन्तर्भाव है गायत्री में। वेदमाता गायत्री का अन्तर्भाव प्रणव में होता है। अतः ओम् का अर्थ है समस्त विश्व की सम्पूर्ण शब्दसृष्टि। केवल मनुष्यों के ही शब्द नहीं, प्राणिमात्र के शब्दों की समष्टि। अतएव शब्दमात्र के बाध से बाध-सामानाधिकरण्य का तात्पर्य है। यह बात केवल शब्द में ही नहीं लेनी है। यह तो केवल उपलक्षण है। श्रोत्र में सुनने की शक्ति कहाँसे आई? नेत्र में देखने की शक्ति कहाँ से आयी? इस प्रकार पृथक्-पृथक् जो शक्तियाँ भास रही हैं, उनका बाध कर देने पर एक अखण्ड चैतन्य शेष रह जाता है, इसीको लक्षित कराने में यहाँ तात्पर्य है।

'ओंकार एवेदं सर्वम्' (छा० उ० २।२३।३)

सम्पूर्ण शब्द सृष्टि का आस्पद ओंकार है और सम्पूर्ण सृष्टि का आस्पद ब्रह्म है,

अतः ब्रह्म और ओंकार पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते । दोनों एक हैं । अतएव जिसको ओंकार की प्रतिपत्ति-उपलब्धि-अनुभव हो जायगा, उसको ब्रह्म की भी प्रतिपत्ति-उपलब्धि अनुभव हो जायगा ।

'इत्यादि श्रुतिभ्यः ।'

इस प्रकार की और भी बहुत सी श्रुतियाँ हैं, जिनमें यह बताया है कि ओंकार ब्रह्म की प्रतिपत्ति का उपाय है । इस रीति से इन श्रुतियों से सिद्ध हुआ कि ओंकार-निर्णय आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय है ।

रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्याऽऽस्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्याऽऽस्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव ।

रस्सी में सर्प का, सीप में चांदी का विकल्प होता है । इस विकल्प का आस्पद है रस्सी या सीप । विकल्प का अर्थ है विविध कल्पना अथवा विपरीत कल्पना । देह, प्राण, मन, बुद्धि, पंचकोष, जाग्रतादि अवस्था, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, यह सब विकल्प है । इस विकल्प का आस्पद है अद्वय आत्मा ।

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।'

वस्तु तो कोई हो नहीं; किन्तु नाम ऐसे रख दें कि बहुत सी वस्तुएँ जान पड़ें तो उसे विकल्प कहते हैं । जैसे एक सोने में पृथक्-पृथक् आभूषणों का विकल्प होता है । इसी प्रकार एक शुद्धात्मा में सब-के-सब, विकल्प हैं । जैसे मिठाइयों के सब नाम एक शर्करा में हैं, जैसे, मिठाई और चीनी आदि भिन्न नहीं हैं, वैसे ही परमात्मा और दृश्य जगत् दो भिन्न वस्तु नहीं हैं । परमात्मा से पृथक् करके जगत् को समझने का प्रयत्न भ्रान्त प्रयत्न है । जगत् तो ब्रह्म है । इसमें जो भेद-बुद्धि है, वही भ्रान्ति है । वेदान्त इस भ्रान्ति को मिटाता है, संसार को नहीं मिटाता । भेद भ्रम है, यह बात व्यवहारतः भी सत्य है । एक व्यक्ति ने दूसरे को मारा । यह आघात जिसने किया, उसके सिरपर भी उतना ही आवेगा । आज पता न लगे-दस दिन बाद लगे । यह कर्म का सिद्धान्त है । इसका अर्थ है कि पूरा विश्व एक शरीर है । हाथ को चोट लगे तो हृदय को कष्ट होता है ।

श्रीमद्भागवत में राजा भरत की एक सुन्दर कथा है । वे जो भी कर्म करते थे, भगवान् को अर्पित कर देते थे । उनके अर्पण की रीति अद्भुत है राजा भरत की बुद्धि सोचती थी —चिन्तन करती थी कि 'इन्द्राय स्वाहा' की आहुति में न मैं कर्त्ता और न इन्द्र भोक्ता । एक ही परमात्मा यहाँ यजमान का अन्तर्यामी होकर कर रहा है और देवता का अन्तर्यामी होकर वही भोग रहा है । इसलिये कर्म का कर्त्ता और फल का भोक्ता दोनों वही परमात्मा है । कर्त्ता ही भोक्ता होता है । यजमान करे और इन्द्र भोगे-यह असम्भव है ।

जन्म-जन्म के कर्मों का फल कर्मों के कर्त्ता के पास ही आता है । कर्त्ता को

भोक्ता बनना ही पड़ता है। उपनिषदों में तो यहाँ तक वर्णन है कि यदि जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप बन्धन से मुक्त हो गया तो भी उसके कर्म नष्ट नहीं हो जाते।

'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति इत्यादि।'

उसके पुत्रों (सम्बन्धी जनों) को उन कर्मों का भाग प्राप्त होता है। जो उसकी निन्दा करेंगे उन्हें उसके पाप और जो प्रशंसा करेंगे, उन्हें उसके पुण्य कर्मों का फल मिलेगा। अर्थात् तत्त्वज्ञानी मर जायगा तो उसके श्रद्धालु शिष्यों को उसके पुण्यकर्म का फल तथा निन्दकों को पापकर्म का फल प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि कर्म करके हम बच नहीं सकते। कर्म का-कर्ता-भोक्ता-एक-ही-रहेगा।

अद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादि विकल्पस्याऽऽस्पदो यथा।

अद्वय-द्वैतरहित, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप, आत्मा इदम्-अहम् के भेद से शून्य है। यह आत्मा ही परमार्थ है। यही परम पुरुषार्थ है। यह आत्मा ही देह, प्राण, मन, बुद्धि आदि सम्पूर्ण विकल्पों का आस्पद है।

'ओंकारेण सर्वावाक् सन्तृण्णा।'

ओंकार से समस्त वाणी आच्छन्न है।

'स चाऽऽत्मस्वरूपमेव, तदभिधायकत्वात्। ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति।'

यहाँ प्रश्न हुआ कि संसार में जितने पदार्थ हैं, सबका आस्पद आत्मा है और सबका आस्पद ओंकार भी है तो दो आस्पद हो गये या नहीं? इसके उत्तर में कहा गया कि दो आस्पद नहीं हुए। ओंकार तो आत्मा का स्वरूप ही है, क्योंकि यह तो आत्मा का ही नाम है। जैसे घट, कलश, कुम्भ आदि एक ही वस्तु के कई नाम हैं। कोई यह न जानता हो कि ये पर्यायवाची शब्द हैं तो घट और कुम्भ में दो वस्तु होने का उसे भ्रम हो सकता है। लेकिन रूप के भेद से उतनी भ्रान्ति नहीं होती। हार और कुण्डल दोनों सोने के हैं, किन्तु उनमें रूप का भेद है। इसलिये बच्चे का यह भ्रम कठिनाई से जायगा कि दोनों एक वस्तु हैं, किन्तु घोड़ा और अश्व वह दो समझता हो तो सरलता से उसका भ्रम दूर किया जा सकता है। इसी से शास्त्र ने-भक्तिशास्त्र ने भी, रूप-ध्यान की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ साधन माना है।

शब्द मात्र अपने वाच्य के विषय में इतना असन्दिग्ध नहीं होता, जितना वक्ता के विषय में असन्दिग्ध होता है। हम जो शब्द बोलते हैं, वह निरर्थक या उलटे अर्थ में बोला गया हो सकता है; उसका बोलने वाला तो है ही। कहने वाला न हो तो शब्द आवे कहाँ से। शब्द का लय भी वक्ता में होगा। अतः शब्द वाच्य का स्वरूप नहीं, वक्ता का स्वरूप हुआ क्योंकि वक्ता में ही उसका उदय एवं विलय है। वक्ता का स्वरूप शब्द आत्मा में ही अध्यस्त हुआ। अतः **'स चाऽऽत्मस्वरूपमेव'**- 'वह आत्मा का

स्वरूप ही है,' यह कथन सर्वथा उपयुक्त है। दूसरे शब्द दूसरी वस्तुओं के वाचक होते हैं, अत उनके उच्चारण से वृत्ति में उनके वाच्य का उदय होता है, किन्तु ओंकार के विषय में तो यह बात नहीं है—

'तदभिधायकत्वात्।'

ओंकार तो आत्मा का ही अभिधायक—वर्णन करनेवाला है अत यह आत्मा से अभिन्न है।

केवल ओंकार ही क्यों आत्मा का स्वरूप है? शब्द तो दूसरे और भी बहुतसे हैं। सभी शब्द सत्ता के स्वरूप हैं। इसके उत्तर में कहा कि समस्त शब्द ओंकार के विकार मात्र हैं। मूल शब्द ओंकार ही है। जितने भी व्यजन हैं, सब अकार-सयुक्त हैं। अ के बिना 'क' 'च' 'ट' आदि का उच्चारण नहीं हो सकता और जितने स्वर हैं, इ, उ, ए आदि, वे अ के ही रूप हैं। अ के ही उच्चारण के प्रयत्न-भेद से अनेक रूप होकर सब स्वर बन जाते हैं। कठ प्रधान से वही स्वर 'अ' है और तालु प्रधान उच्चारण म वही स्वर 'इ' हो जाता है। इस प्रकार कठ-ताल्वादि भेद से एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रूपों में उच्चरित होता है।

जैसे समस्त शब्द ओंकार के विकार हैं, वैसे ही प्राणादि विकल्प भी ओंकार के विकारभूत शब्दों से ही वर्णित हैं। नाम के अतिरिक्त यह सब कुछ नहीं है। इसके लिये श्रुति देते हैं—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४)

समस्त शब्द कल्पना मात्र हैं। ओंकार के विकार हैं। अत ओंकार से भिन्न नहीं हैं।

विकार किसे कहते हैं? नाम-मात्र विकार है। कोई वस्तु नहीं है। घड़ा, सकोरा आदि नाम-मात्र हैं। इन सबमें वस्तु तो मिट्टी ही है। घड़े की जो आकृति है, वह इन्द्रियों से प्रतीत हो रही है। घड़े का व्यवहार में उपयोग भी सकोरे से भिन्न है, किन्तु घड़ा-सकोरा आदि हैं विकार—केवल मिट्टी के नाम! आजकल के लोग भी ऐसा मानते हैं कि वस्तु वह है जिसमें कुछ भार हो। जिसमें भार नहीं है, वह वस्तु नहीं है। अब घड़े में जो भार है, वह घड़े का है या मिट्टी का। मिट्टी को छोड़कर घड़े में कुछ भार है? इसका अर्थ है कि घड़ा पदार्थ नहीं है। पदार्थ मिट्टी है। घड़ा तो ऐन्द्रियकप्रतीतिजन्य आकृति तथा व्यवहार-निर्वाह के लिये रखा एक नाम-मात्र है। इसी प्रकार ससार में जितने आकार दीखते हैं, वे नाम-मात्र हैं। वे घट हैं—अर्थात् बनाये हुए—घटित हैं। ये केवल आकृतियाँ हैं और ये आकृतियाँ जिसमें बनी हैं, वह सत्य वस्तु है। अब अलग-अलग आकृतियों के उपादान एक या अलग-अलग? विशेषता तो आकृति में होती है। घड़ा अलग-सकोरा

अलग। मनुष्य पशु, वृक्षादि की पृथक्ता-विशेषता आकृति के कारण है। यह विशेषता नहीं रही तो निर्विशेष वस्तु-उपादान में तो भेद है नहीं। इसीलिये कहा-'**विकारो नामधेयं**' विकार नाममात्र है।

'तद्स्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभि: सर्वं सितम्।'

वेदवाणी एक लम्बी ताँत की रस्सी है और उसमें भिन्न-भिन्न नाम छोटी-छोटी रस्सिया के समान है। दाम का अर्थ है रस्सी। जैसे 'मनुष्य' यह शब्द एक लम्बी रस्सी है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि छोटी-छोटी रस्सियाँ हैं। इन रस्सिया में सब बँधे है। मनुष्य के साथ मनुष्य के कर्तव्य का बन्धन और ब्राह्मणादि के साथ उनके कर्तव्यों का बन्धन लगा है। ब्राह्मण यह नाम-मात्र तो है, किन्तु ब्राह्मणत्व के साथ सन्ध्यावन्दन, वेद पढने आदि के बन्धन भी हैं। अपने कर्तव्य का पालन न करें तो अपराध होता है। अब जिन्होंने ब्राह्मणत्व का अभिमान छोड़ दिया ब्राह्मण के कर्तव्य बन्धन से छूट गये। ब्राह्मण नहीं रहे, सन्यासी होगये। अब सन्यास आश्रम के कर्तव्य का बन्धन हो गया। लेकिन इन सब अभिमानों को छोड़ कर जब अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में स्थित होगये तो कोई बन्धन नहीं रहा।

'सर्वं हीदं नामानि।'

यह सब केवल नाम है। समस्त व्यवहार नाम से चल रहा है। वही पृथ्वी, वही आकाश, वे ही नदियाँ, किन्तु कुछ वर्ष पूर्व एक देश था और अब बीच में नाम की एक दीवार खड़ी हो गयी-यह हिन्दुस्तान और यह पाकिस्तान। शत्रुता-मित्रता आदि सब क्या है? यह सब केवल नाम है।

'इत्यादि श्रुतिभ्य।' अत आह

इन सब तथा और भी अनेक श्रुतियों से जो बात सुनिश्चित होती है, वह यही है कि ब्रह्म तथा आकार एक ही हैं।

पहला मन्त्र

ॐ की सर्वरूपता

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम्।

परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योङ्कार एव।

तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्।

ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः।

भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योङ्कार एवोक्तन्यायतः। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए यह भी ओंकार ही है।

अकारादि हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्त स्वमात्मानं समुपास्महे ॥

'अ' से लेकर 'ह' तक वर्णमाला है। जितने शब्द बनेंगे, वे 'अ' से 'ह' पर्यन्त वर्णमाला के अक्षरों से ही बनेंगे। उन सब शब्दों का संक्षिप्त नाम हुआ 'अ-ह' अर्थात् 'अ' से 'ह' तक। इसी को 'अहं' कहते हैं। हम जिस किसी शब्द का उच्चारण करते हैं और उसके द्वारा जिस किसी पदार्थ की ओर संकेत करते हैं, अपना ही नाम लेते और अपनी ही ओर संकेत करते हैं। 'अहं' शब्द संस्कृत भाषा का अद्भुत शब्द है। ब्रह्मज्ञान के लिए यह एक शब्द पर्याप्त है। 'न हन्यते इति अहं'-अर्थात् अविनाशी। 'न जहाति'-

यह सबमें अनुस्यूत होने के कारण किसी का परित्याग नहीं करता और इसको कभी छोड़ा भी नहीं जा सकता—'न हीयते'। जैसे पृथ्वी बीज है 'ल,' जल बीज है 'व', अग्नि बीज है 'र', वायु बीज है 'य', इसी प्रकार आकाश बीज है 'ह'—अर्थात् आकाश बीज 'ह' से—आकाश से व्यतिरिक्त 'अहं' हुआ।

इस प्रकार अहं अविनाशी है, सर्वस्वरूप है, स्वप्रकाश है। अहं का अर्थ प्रत्यगात्मा और प्रत्यगात्मा प्रिय है। इस रीति से अहं के अर्थ पर विचार करें तो ब्रह्म के अतिरिक्त उसका कोई अर्थ हो नहीं सकता।

ज्ञान भगवान् विष्णु के समान है और उसका वाहन गरुड़ है शब्द। आप बोलें या सोचें, विचार भी शब्दों में ही आवेगा। हमारे हृदय में जो भाव आते हैं, उनका भी धारणरूप शब्द वहाँ स्थित है, जिसे व्याकरण शास्त्र स्फोट कहता है। शब्द ही प्रपञ्च के रूप में विवर्तित हो रहा है। तन्त्र का सिद्धान्त है—

> कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्
> स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितं शब्दान्वयी सर्वदा।

जहाँ भी कार्य होता है, वहाँ स्पन्दन होता है। जहाँ स्पन्दन-कम्प होगा वहाँ शब्द होगा। अतः संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें शब्द अनुगत न हो। कोई ऐसी वस्तु नहीं जो बिना शब्द के हो। नाम जितने होंगे—शब्द जितने होंगे, ओंकार से बने होंगे। क्योंकि अकार रहित कोई शब्द हो नहीं सकता। अतः 'ओंकार एवेदं सर्वम्' जो कुछ 'इदम्' के रूप में प्रतीत हो रहा है, सब ओंकार ही है।

'इदम् सर्वम्' तो ओङ्कार हो गया, किन्तु परमात्मा? यह ओंकार से पृथक् है या नहीं? इसका उत्तर देते हैं—

शब्द के बिना तो ब्रह्म परमात्मा का भी ज्ञान सम्भव नहीं है। शब्द उच्चारण-पूर्वक ही ब्रह्मज्ञान कराया जा सकता है। महावाक्यादि कुछ न कुछ तो बोलना पड़ेगा ही। जब भी बोलेंगे तो वह शब्द होगा और वह शब्द हुआ अभिधान नाम। नाम के बिना ब्रह्मज्ञान कैसे होगा। नाममात्र ओंकार है, अतः परमात्मा ब्रह्म भी ओंकार से बोधित होता है। स्पन्द-कारिका में कहा है कि सर्व देश तथा सर्व काल में भोक्ता ही भोग के रूप में उपस्थित है। जो खाने वाला है, वही खाया जाता है। मिट्टी ही खाती है और मिट्टी ही खायी जाती है। ब्रह्म में ही ब्रह्म की समस्त चेष्टायें हैं और ये प्रतीतियां ब्रह्मसे ही हो रही हैं। इस परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये नाम और नामी, अभिधान-अभिधेय का व्यवहार करना पड़ता है इसलिये यह भी ओङ्कार ही है।

यह पर और अपर, परोक्ष और अपरोक्ष रूप ओंकार ही है। यही कारण ब्रह्म है और यही कार्य ब्रह्म है। यही जगत् है, यही जगत् का कारण है और यही अक्षर है। अस्मिता से लेकर इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले जितने व्यवहार हैं, सबके मूल में यही अक्षर

है। 'न क्षरति'– अविनाशी – अत अक्षर। अक्षर शब्द का अर्थ ही है सबके प्रलय का अधिष्ठान। अश्नुते-व्याप्नोति—सबमें व्याप्त। कारणरूप से स्थित, प्रलय में सब को अपने में लीन करके विद्यमान, स्वय अविनाशी, समस्त इन्द्रियों को योग्यता शक्ति प्रदान करने वाला यह अक्षर है ऐसे इस ओम् का अब उपव्याख्यान करते हैं।

ब्रह्मप्रतिपत्ति– ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण ओङ्कार का उपाख्यान किया जा रहा है। ब्रह्म का अर्थ है अनन्त। अनन्ताकाश में जैसे अणु उत्पन्न होते और लय होते रहते हैं, वे अणु जैसे उस अनन्त आकाश को एक नहीं देख पाते, वैसे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस अनन्त में उदय-अस्त हो रहे हैं, उस पर दृष्टि न जाने के कारण इन ब्रह्माण्डों के उदय विलय में राग द्वेष हो जाता है। यदि अनन्त शक्ति, अनन्त सत्य, अनन्त ज्ञान की अनुभूति हो जाय तो वह दूसरा नहीं, अपना स्वरूप ही है। वही ब्रह्म है। ब्रह्मप्रतिपत्ति का अर्थ यह है कि खण्ड पर से दृष्टि हटाकर ब्रह्म का आत्मरूप से बोध रूप प्राप्ति कराना। इसका उपाय ॐ है। यह प्रणव ब्रह्म के समीप है। इसका उपव्याख्यान (उप=समीप वि=विशिष्ट, आ=प्रकृष्ट) अर्थात् समीप से, विशिष्ट एव प्रकृष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

ऊपर वर्णित कारणों से यह बात सिद्ध हुई कि भूत, वर्तमान, भविष्य जो कुछ काल परिच्छेद्य है, वह सब ओङ्कार है।

जैसे भगवान् नारायण की मूर्ति को श्री नारायण मान लेना एक बात है और साक्षात् श्री नारायण का दर्शन दूसरी बात है वैसे ही समस्त जगत् ओंकार रूप है यह विश्वास कर लेना एक बात है और इसे ठीक-ठीक समझ लेना दूसरा बात। एक शब्द है पुष्प। इसमें पुष्प शब्द मुख में है। पुष्प पदार्थ बाहर है और पुष्प का ज्ञान हृदय में है। समाधि में पुष्प शब्द, पुष्प पदार्थ तथा पुष्प ज्ञान एक हो जाते हैं। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा शब्द, अर्थ एव ज्ञान—ये तीनों पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते। इसका अर्थ हुआ कि विक्षेप म भेद ज्ञान है और स्थिरता-समाधि में भेद ज्ञान नहीं है। विक्षेप सहज स्थिति नहीं है। विक्षिप्त चित्त का ज्ञान सत्य नहीं हो सकता।

काल-परिच्छिन्न वस्तु तो पहले नहीं थी, अब है, आगे नहीं रहेगी, उसी में भेद होता है। प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, यह कालपरिच्छेद है। अत्यन्ताभाव देशपरिच्छेद है। तथा अन्योन्याभाव वस्तुपरिच्छेद है। घट अपने अभाव का प्रतियोगी है, किन्तु ब्रह्म किसी का प्रतियोगी नहीं है और न कोई ब्रह्म का ही प्रतियोगी है। जैसे रज्जु में प्रतीत सर्प रज्जु का प्रतियोगी न होने से केवल अध्यस्त है, वैसे ही ब्रह्म में प्रपञ्च अध्यस्त है।

बौद्धों के शून्य तथा ब्रह्म में अन्तर है। शून्य तो एक अवस्था है। प्रपञ्च की स्थिति शून्य की प्रतियोगी है। इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना हम ठीक नहीं

मानते। हमारी परिभाषा के अनुसार अभाव या भाव कोई ब्रह्म का प्रतियोगी नहीं है। ब्रह्म किसी का अभाव नहीं तथा इसका प्रतियोगी कोई भाव नहीं।

बिना विषय के काल की प्रतीति नहीं हो सकती। जब कोई वस्तु होगी, तब उसके वर्तमान की कल्पना से उसके भूतकाल तथा भविष्य की बात उठेगी। वस्तु में जो क्रम की संवित् है-इसका नाम काल है। वस्तु में स्थान की संवित् का नाम देश है। द्रव्य के परिणाम-परिवर्तन को काल का सूचक और द्रव्य के परिमाण-उसके आकार को देश का सूचक तथा स्वयं द्रव्य को विषय समझो। ये तीनों कभी पृथक् नहीं रहते। जहाँ विषय-पदार्थ होगा, वहाँ उसका समय भी होगा और स्थान (देश) भी होगा। देश, काल, वस्तु ये तीनों परस्पर सापेक्ष हैं। लेकिन ये तीनों एक ही प्रकाश में, एक ही अधिष्ठान में दीख रहे हैं। अतः यह सब देश, काल, वस्तु ओंकार ही है।

जब हम ॐ का उच्चारण करते हैं, तब 'उ' में स्थित होने पर 'अ' भूतकाल, 'म' भविष्य तथा 'उ' वर्तमान होगया। इस प्रकार ॐ की तीनों मात्रायें तीनों कालों की सूचक हो गयीं। समस्त काल ओंकार रूप होगया। जिस देश में प्रणव का उच्चारण हो रहा है, वह देश भी प्रणव रूप है और जिस मन में वह भासित हो रहा है, वह मन भी ओंकार रूप है।

लेकिन काल सर्वत्र तो नहीं है। स्वप्न में दूसरा ही काल कल्पित होजाता है। सुषुप्ति तथा समाधि में काल की कल्पना ही नहीं है। कितनी देर सोये, इसका कुछ पता नहीं होता। जहाँ प्रकृति है, वहाँ बुद्धि भी नहीं है। प्रकृति से बुद्धि रूप कार्य उत्पन्न होता है। बुद्धि के कारण की कल्पना भी बुद्धि से ही होती है। महान्-महत्तत्त्व से संवत्सर की उत्पत्ति हुई। महान् के पूर्व संवत्सर नहीं था। यह सप्ताह, मास, वर्ष, दिन, आदि का क्रम बुद्धि ही बनावेगी। अतः बुद्धि के परे भी काल नहीं था। बुद्धि ने ही काल की परिच्छिन्नता की कल्पना की। अतः बुद्धि का काल और बुद्धि के कारण में स्थित काल की कल्पना करनी पड़ती है। तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुण की उपाधि से काल की कल्पना होती है, किन्तु आत्मा में काल नहीं है। यह आत्मा भी जब ओंकार है, तब जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब ओंकार हो इसमें आश्चर्य क्या?

कार्य-कारणवाद पर जब कभी विचार करना हो तो उनका विभाग किया जा सकता है। शून्यवादी निरुपादानवादी हैं, क्योंकि ये कहते हैं कि जगत् का कोई उपादान नहीं है। असत् से सत्, अभाव से भाव की उत्पत्ति ये मानते हैं। इनके बाद उपादानवादी हैं, जिनके दो भेद हैं- एक बहिरङ्ग उपादानवादी और दूसरे अन्तरंग उपादानवादी। बौद्धमत में जो विज्ञानवादी हैं वे, वेदान्त के दृष्टिसृष्टिवादी, योग और सांख्य, ये सब अन्तरंग उपादानवादी हैं।

योग और सांख्य अव्याकृतवादी हैं। बुद्धि से अन्तरंग प्रकृति और प्रकृति से अन्तरंग

पुरुष है। इस प्रकार सांख्य के अनुसार बुद्धि और पुरुष की सन्धि में जो वस्तु है वह अव्याकृत है। वेदान्त में साभास अज्ञान को ही अव्याकृत कहते हैं। प्रकृति नाम की कोई नितान्त जड़ वस्तु वेदान्त में स्वीकार्य नहीं है। परमात्मा के आभास से युक्त अज्ञान को ही अव्याकृत कहते हैं। माया में जो ब्रह्म का आभास है उसका नाम ईश्वर और अविद्या में जो आभास है उसका नाम जीव है। जब माया और अविद्या पृथक्-पृथक् न कहना हुआ तो उसे प्रकृति कह दिया। इस प्रकार ईश्वर कारणवाद तथा अव्याकृत कारणवाद दोनों अन्तरंग कारणवाद हुए। जैनों का प्रकृति कारणवाद भी अन्तरंग कारणवाद हैं। चार्वाक का मत तथा परमाणु कारणवाद ये बहिरंग कारणवाद हैं। अन्तरंग कारणवाद के भी दो भेद हैं :— १—चैतन्य कारणवाद, २—जड़ कारणवाद। ईश्वर, प्रकृति तथा कर्म को सृष्टि का कारण मानने वाले तीनों ही अन्तरंग कारणवादी हैं, क्योंकि कर्म भी कर्ता के भीतर संस्कार रूपमें रहेगा।

इन सब दर्शनों की प्रक्रियाओं में भी बड़ा भेद है और इस भेद का प्रभाव इनके आधार पर चलनेवाली साधनाओं पर पड़ता है। जैसे परमाणुवाद में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही परमाणु जन्य हैं। आकाश तो परमाणु रूप है नहीं। सांख्य के मत में प्रकृति से महान, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पञ्चतन्मात्रा की उत्पत्ति मानते हैं। पञ्चतन्मात्रा के सात्त्विक अंश से मन आदि अन्तःकरण उत्पन्न हो गया और पञ्चतन्मात्रा शब्द, स्पर्शादि स्वरूप है, अतः मन की उत्पत्ति के पूर्व ही शब्दादि उत्पन्न हो गये, किन्तु वेदान्त में पहिले मन की उत्पत्ति, मन से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से पञ्चभूतों के गुण शब्दादि की उत्पत्ति मानते हैं। न्याय के मत में आकाशादि पञ्चमहाभूतों के गुण हैं शब्दादि, किन्तु सांख्य के मत में पञ्चमहाभूतों का कारण शब्दादि तन्मात्रा हैं। वेदान्त में शब्दादि ऐन्द्रियक हैं, अर्थात् कान है, इसलिए शब्द सुनाई पड़ता है। इस प्रक्रिया भेद का प्रभाव साधन पर बहुत पड़ता है। नैयायिक लोग ईश्वर की प्रार्थना से सन्तुष्ट हैं। योगी चित्तवृत्ति का निरोध करके सबको मिटाना चाहते हैं। सांख्यवादी सबसे असंग होने का उपदेश करते हैं और वेदान्ती द्वैत का केवल बाध करना चाहते हैं।*

प्रकृति तो किसी ने देखी नहीं। केवल कार्य को देखकर उसके कारण की कल्पना होती है। तीनों गुण भी दीखते नहीं। जीव भी दिखायी नहीं देता।

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यदेतद् दृश्यते किञ्चित् तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

गुणों का परम रूप दृश्य नहीं होता। यह सूक्ष्म की बात हुई, किन्तु स्थूल में मिट्टी देखी है कभी? मिट्टी का अर्थ पृथ्वी—गन्ध का जो आश्रय द्रव्य है, वह नेत्र से दीख नहीं सकता। नेत्र से तो पृथ्वी का रूप दीख रहा है। यह रूप अग्नि से आया है। मिट्टी का जो स्पर्श होता है, वह वायु से मिलता है। मिट्टी में जो स्वाद है, वह जल

का है। केवल गन्ध पृथ्वी की है। इसी प्रकार जलादि सभी तत्त्वों की दशा है। वस्तुतः तत्त्व तो एक ही है। इन्द्रियों के भेद से उसमें रूप, रसादि की भिन्न – भिन्न अनुभूति होती है।

सर्वमैन्द्रियकं मृषा

इसलिए कहा जाता है कि इन्द्रियों से जो यह प्रपञ्च दीख रहा है, वह मिथ्या है। वास्तविक सत्ता एक-अद्वैत चिन् सत्ता की ही है। यह प्रकृति आदि जितने तत्त्व हैं जो स्वत्व से नहीं कहते, वे अपने कार्य से ही ज्ञात होते हैं। ये अव्याकृत, महत्त्वादि सब ओङ्कार स्वरूप हैं।

यहाँ प्रश्न हुआ कि जब एक ही सत्ता में अभिधान और अभिधेय – नाम और रूप दोनों कल्पित हैं, तब कहना चाहिये कि दोनों एक रूप हैं। सबको ओङ्कार क्यों कह रहे हो? इसका उत्तर देते हैं कि जिसका नाम है और जो नाम है, ये दोनों एक ही हैं, तथापि अभिधान की प्रधानता से यहाँ वर्णन कर रहे हैं।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। ओमित्येत दक्षरमिदं सर्वमित्याद्यभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः।

इतरथा ह्यभिधानतन्त्राऽभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्।

एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति। तथा च वक्ष्यति—

"पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (मा. उ. ८) इति तदाह।

एक बार नाम की प्रधानता से कह दिया कि सब ओङ्कार है और फिर जिसका नाम है उस अभिधेय की प्रधानता से कह दिया कि सब एक है तो इससे अभिधान और अभिधेय दोनों एक ही हैं, यह बात सिद्ध हो जायगी। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा है—

'अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्'।

'मैं ब्रह्म हूँ-ब्रह्म मैं हूँ' यदि इस प्रकार दोनों ओर से नहीं कहेंगे तो यह भ्रम हो सकता है कि एक साधन है, गौण है और दूसरा साध्य है, मुख्य है।

दोनों ओर से दुहरा कर न कहने से अभिधान (नाम) के द्वारा अभिधेय (नामी) की प्राप्ति होती है इसलिये अभिधेय को अभिधान कहना अर्थात् वस्तु के केवल नाम को वस्तु कहना गौण हो जायगा। अतः जो नाम है, वह वस्तु और जो वस्तु है वही नाम, इस प्रकार कहा गया है।

इस एकत्व की प्रतिपत्ति का प्रयोजन यह है कि इस अभिधान और अभिधेय का प्रविलापन इस एकत्व के ज्ञान से ही हो जायगा।

यहाँ थोड़ा विचार करना है। रज्जु में जो सर्प का भ्रम है, यह भ्रम रस्सी को तो है नहीं। भ्रान्ति देखने वाले को है। देखने वाले के अन्तःकरण में सर्प का भ्रम है, अतः उसके अन्तःकरण से इस भ्रम को मिटाना हमारे प्रयत्न का फल है। रस्सी में से साप को मिटाना हमारे प्रयत्न का फल नहीं है। ज्ञान का फल यह नहीं कि रस्सी में सर्प नहीं था। उसका परिणाम यह है कि हृदय में सर्प का भ्रम न रह जाय। इसी प्रकार ज्ञान का परिणाम यह नहीं है कि ब्रह्म में ससार न दीखे। ज्ञान का फल यह है कि ससार में हमें वास्तविकता की भ्रान्ति न हो। यह आत्मरूप ही है, ऐसा प्रतीत हो।

रस्सी में सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान रज्जु या रज्जूपहित चैतन्य नहीं है। इस भ्रान्ति का अधिष्ठान अन्तःकरणोपहित चैतन्य है। अपने में यह भ्रान्ति न रहे तो रस्सी सर्प की भाँति भले ही दीखती रहे हमारी कोई हानि नहीं है। अब रस्सी का अधिष्ठान रस्सी उपहित चेतन और रस्सी में सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान अन्त.करणोपहित चेतन–इनको मिलाकर देखें तो चेतन–चेतन में तो भेद नहीं। रस्सी से उपहित चेतन तत् पदार्थ और सर्प की भ्रान्ति का अधिष्ठान अन्त.करणोपहित चेतन 'त्व' पदार्थ है। क्योंकि सर्प मिथ्या है रस्सी में, अत. सर्प की भ्रान्ति भी मिथ्या है। मिथ्या मिथ्या का अधिष्ठान एक है। यह 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ हो गया। इस प्रकार एक ही प्रयत्न से अभिधान और अभिधेय का प्रविलापन कर देने से इन दोनों से विलक्षण ब्रह्म की प्रतिपत्ति हो जाती है। इसलिए कहते हैं—

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये जो चार पाद हैं ये प्रणव के अकार, उकार, मकार तथा अमात्र रूप हैं और मात्रायें पाद रूप हैं।

यही बात अब मूल उपनिषद् में कही जा रही है।

दूसरा मन्त्र

—ःओंकारवाच्य ब्रह्म की सर्वात्मकताः—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति। सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म।

तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति-अयमात्मा ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाऽभिनयेन निर्दिशति-अयमात्मेति। सोऽयमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति।

> त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य
> प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः।
> तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥ २ ॥

यह सब जो कार्य के रूप में भासमान है और जो कारण के रूप में भासमान है, सबका सब ब्रह्म ही है।

वेदान्त की दृष्टि से विचार करें तो वेदान्त का तात्पर्य कार्य-कारण के विचार में नहीं है। वेदान्त विचार का मुख्य तात्पर्य द्रष्टा-दृश्य के विचार द्वारा प्रत्यक्चैतन्य की ब्रह्मता में है। यदि कार्य-कारण का ही विचार करते रहेंगे तो केवल विषय का विवेक होगा, विषयी का विवेक नहीं होगा। विषयी का तात्पर्य वह जिसमें कार्य-कारण दोनों भासमान हैं। जैसे स्वप्न में पिता पुत्र प्रतीत होते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि पिता कारण है और उससे कार्य रूप पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु उनकी आयु में स्वप्न में अन्तर कहाँ है? सत्य तो यह है कि न पिता है, न पुत्र। पिता पुत्र का सम्बन्ध ही भ्रम है। यह तो स्वप्नद्रष्टा की दृष्टिमात्र है। इसी प्रकार प्रपञ्च में जो कार्य-कारणभाव प्रतीत हो रहा है, वह द्रष्टा की दृष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब संसार के कार्य-कारण भाव को जो सुनिश्चित जान पड़ता है, देखो। कार्य रूप यह शरीर है और इसका कारण कर्म है, किन्तु कर्म के पहिले शरीर न होता तो यह कर्म होता ही कैसे? इस प्रकार न कर्म कारण सिद्ध होगा और न शरीर कारण सिद्ध होगा। यदि इनको अनादि कहें तो यह अनादित्व निश्चय कैसे किया गया? यदि अनादि

होने का किसी ने अनुभव किया तो वह अनादि नहीं रहा और बिना अनुभव के निश्चय किया गया तो कल्पना हुई। बिना अनुभव — बिना देखे मानते हैं, का अर्थ हुआ कि अज्ञान से मानते हैं। कर्म और शरीर में से एक अनादि है या दोनों? दोनों अनादि हैं तो उनमें कार्य-कारणभाव का ज्ञान कैसे हुआ? दोनों में से एक को अनादि कहते भी नहीं बनेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जगत् का मूल अपना जो शुद्ध एवं अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप है — उसके अज्ञान से ही हम कार्य-कारण की अनादि परम्परा को स्वीकार किये हैं। किसी न किसी कक्षा में अज्ञान को स्वीकार किये बिना अनादित्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि कार्यकारण भाव आरोपित है। यथार्थ तो ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। समस्त नाम रूपात्मक प्रपंच ब्रह्म में ही कल्पित है। इसका आश्रय ब्रह्म है। अज्ञान का आश्रय भी ब्रह्म ही है। अज्ञान का विषय भी ब्रह्म है। इसलिये यह सब ब्रह्म ही है।

सृष्टि का मूलतत्त्व एक है। भेद आकृतियों में है। जैसे एक स्वर्ण में एक पक्षी की मूर्ति बना दी और एक मनुष्य की। स्वर्ण एक है और मूर्ति की आकृति में भेद है। यह भेद निर्माता के अन्तःकरण के संस्कार से आया है। इसी प्रकार तोता, कबूतर मयूरादि पक्षियों के अंडों में जो जल है, वह एक-सा रहता है, किन्तु उस जल में संस्कार भिन्न भिन्न होने से भिन्न भिन्न पक्षी उससे उत्पन्न होते हैं। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूपी अंडे में जो जल है, उसे 'नार' कहते हैं। उस नार (जल) में जो चेतन पहिले से प्रविष्ट है, उसे नारायण कहते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कारणवारि में जो चेतनाशक्ति है, उसका नाम है नारायण। अब जल तथा चेतनाशक्ति को अलग करें तो चेतन ब्रह्म है और जल उसमें आरोपित है।

चेतन से कारणवारि उत्पन्न हुआ कहो तो कहना होगा कि चेतन पानी के रूप में परिणाम को प्राप्त हुआ। किन्तु जो परिणाम को प्राप्त होता है, वह तो चेतन नहीं है। चेतन तो साक्षी रहता है। जिसका परिणाम होगा वह नाशवान् होगा। परिणाम मानें तो चेतन का परिणाम चेतन होता है या जड़? यदि चेतन का परिणाम चेतन होता है तो दोनों चेतनों में कोई भेद नहीं बनेगा और भेद न बनने से परिणाम सिद्ध नहीं होगा। चेतन का परिणाम जड़ मानो तो बात बनेगी नहीं, क्योंकि चेतन में जड़ता है नहीं तो आवेगी कहाँ से? अतः चेतन में जड़ का विवर्त हो गया, यही कहना पड़ेगा।

परिणाम सदा सजातीय होता है। सोने से गहना बना तो सोना ही रहा। मिट्टी से घड़ा बना तो मिट्टी ही रहा। अतः चेतन का परिणाम अचेतन नहीं होगा। रस्सी में सर्प की भाँति चेतन में प्रपञ्च दीख रहा है। कार्य रूप से और कारण रूप से भी दीख रहा है। यह कार्य-कारण दोनों विवर्त हैं। विवर्त का अर्थ है अतात्त्विक अन्यथा भाव। अतः कार्य-कारण रूपमें जो कुछ दीख रहा है—वह सब ब्रह्म ही है।

पहिले कहा है कि सब ओंकार है, वही यह ब्रह्म है। पहिले परोक्ष रूप से ताया, जैसे रस्सी में सर्प दीख रहा है। देखने वाले को रस्सी नहीं दीख रही है, दीखता पं है; किन्तु कहते हैं कि जिसे तुम सर्प देख रहे हो, वह सर्प नहीं है, रस्सी है। यह रोक्ष बताना हुआ। अब उसी परोक्ष रूप से वर्णित वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से बतला रहे हैं। से बच्चे को सोना लाने को कहें और वह हार, कंगन आदि देख कर भी कहे कि गेना तो कहीं है नहीं। इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी नाम-रूप पर अटक गयी है। म नाम-रूप से चलने वाले व्यवहार को देखते हैं, सत्य वस्तु को नहीं देख पाते। किन्तु बच्चे को जैसे समझाया जाय कि हार सोना है तो प्रत्यक्ष स्वर्ण को समझाना हुआ, उसी प्रकार इस नाम-रूप में जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसे समझाते हैं—

'अयमात्मा ब्रह्म'

यह अथर्ववेद का महावाक्य है और माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय है, अतः प्रत्यक्ष रूप से 'अयमात्मा' निर्देश कर रहे हैं। 'यह आत्मा ब्रह्म है' ऐसा अभिनय पूर्वक हृदय पर हाथ रख कर कह रहे हैं। अभिनय भी एक प्रमाण है।

चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण मानता है। नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। पूर्वमीमांसकों के दो भेद हैं। उनमें से आचार्य प्रभाकर पाँच प्रमाण मानते हैं और आचार्य कुमारिल भट्ट छ प्रमाण मानते हैं। वेदान्ती भी छः प्रमाण मानते हैं। ऐतिहासिक लोग ऐतिह्य को एक प्रमाण और मानते हैं, इस प्रकार सात होगये। पौराणिक सम्भव नाम का एक प्रमाण अधिक मानते हैं। सम्भव का तात्पर्य यह है कि यह हुआ या नहीं, यह विचार मत करो। यह हो सकता है या नहीं, यह विचार करो। सम्भव प्रमाण का अर्थ यह है कि पुराणों में अनेक कल्पों की कथायें हैं। उनमें अनेक कथाओं में परस्पर विरोध जान पड़ता है। वहाँ यह विचार काम का नहीं है कि घटना ऐसी हुई या नहीं। घटना उस प्रकार सम्भव है या नहीं, यही देखने की बात है। क्योंकि पुराण का तात्पर्य कार्य कैसे हुआ, यह बताना नहीं है। कार्य कैसे होना चाहिये यह बताना है। जैसे परीक्षित ने शरीर कैसे छोड़ा, यह वर्णन महाभारत और श्रीमद्भागवत का भिन्न-भिन्न है। शरीर छोड़ना कैसे चाहिये आसन्न मृत्यु ज्ञात होने पर, यह बताने में भागवत का मुख्य तात्पर्य है। पौराणिकों के आठ प्रमाण होगये। नवाँ प्रमाण नाट्यशास्त्र मानता है अभिनय। अभिनय का अर्थ है सङ्केत से ही वस्तु को बता देना। 'अयमात्मा' में 'अयम्' अङ्गुल्या निर्देश-सूचक अभिनय है।

'अयमात्मा ब्रह्म' यह महावाक्य है। अत यह विचार करलो कि महावाक्य किसे कहते हैं। श्री शङ्कराचार्य भगवान् ने जिनको महावाक्य माना है, उनको श्री रामानुजादि

दूसरे सम्प्रदायाचार्यों ने महावाक्य नहीं माना है। अतः यह महावाक्य क्यों है, यह बता देना आवश्यक है। जो एक विषय का ही प्रतिपादक हो उसे वाक्य कहते हैं। लेकिन महावाक्य में अपने लौकिक-पारलौकिक समस्त शास्त्रों की संगति और अन्तर्भाव हो जाता है।

यदि हम योग सिद्धान्त को स्वीकार करें तो 'त्वम्' पदार्थ की दृष्टि से निरूपण ठीक निकल आयेगा; किन्तु ईश्वर का ठीक-ठीक निरूपण नहीं हो सकेगा। यदि हम पूर्व मीमांसा का सिद्धान्त लें तो कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन हो जायगा, किन्तु आत्मा-परमात्मा का प्रतिपादन नहीं होगा। इसी प्रकार जो अन्य वाक्य हैं वे सभी केवल आत्मा या परमात्मा का अलग-अलग प्रतिपादन करते हैं। तीन पदार्थों के निरूपण में सम्पूर्ण शास्त्रों का तात्पर्य है। संसार के जितने मत हैं वे या तो जीव का विचार करने के लिये हैं या ईश्वर का विचार करने के लिये अथवा जगत् का विचार करने के लिये। महावाक्य वह है जो केवल जीव, केवल ईश्वर या केवल जगत् का विचार करने के लिये नहीं है। इसमें तीनों का निरूपण हो जाता है।

'अयमात्मा ब्रह्म' यह महावाक्य है। इसमें 'आत्मा' से जीवात्मा का और 'ब्रह्म' से परमात्मा का विचार हो गया; दोनों की एकता के प्रतिपादन से उपाधि का निर्वचन हो गया, क्योंकि उपाधि का बाध किये बिना दोनों के एकत्व की प्रतिपत्ति नहीं होती।

हमारा यह शरीर है। इसके निवास के लिये, सर्दी-गर्मी, वर्षा से रक्षा के लिये मकान आवश्यक है। मकान निर्माण के लिये स्थापत्य वेद आवश्यक हुआ। शत्रु से शरीर रक्षा आवश्यक है। उसके लिये धनुर्वेद आवश्यक हुआ। शरीर है तो रोग भी होंगे ही। उनके निवारण के लिये आयुर्वेद और देह को निश्चिन्त, आनन्दोन्मुख करने के लिये गान्धर्व वेद बना। ये चारों उपवेद हैं। यह सब वाक्य के विषय हैं।

लेकिन मनुष्य की जिज्ञासा पूछती है कि यह शरीर कहाँ से आया? शरीर छूटने पर क्या शेष रहता है? वह कहाँ जाता है? बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज यह अनादि परम्परा है। हम बीज को भून दें तो अनादि होने पर भी परम्परा सान्त हो जायगी; किन्तु इससे वृक्षों की सब परम्परा तो नहीं मिट जायगी। इसी प्रकार शरीर की आकृति बनती-मिटती है; किन्तु शरीर में जो तत्त्व हैं, वे तो अनादि-अनन्त काल से प्रवाहित हो रहे हैं। शरीर की आकृति तो कर्म से बन गयी; किन्तु इसमें जो कर्ता-भोक्ता तत्त्व है, वह तो अनादि और नित्य प्रवाह रूप से चल रहा है। इससे यह ज्ञात होगया कि शरीर से आत्मा भिन्न है। अब देह से भिन्न आत्मा तक पहुँच कर यह विचार होगा कि यह कर्ता-भोक्ता किस में है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

इस प्रकार की श्रुतियाँ केवल परमात्मा का प्रतिपादन करती हैं। लेकिन शरीर में

अन्नमय, प्राणमय आदि कोशों की उपाधि सहित जो जीवात्मा है, विवेक उसका करना है तो यह विवेक सम्पूर्ण रूप में केवल महावाक्य द्वारा होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्र घूम फिर कर महावाक्य में समन्वित हो जायेंगे। सम्पूर्ण शास्त्रों का सार महावाक्य में सम्प्रहीत है।

'अयमात्मा ब्रह्म'

इसमें 'अयम्' कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा 'इदं' के रूप में बाहर नहीं है, भीतर है। परोक्ष नहीं है-'अयम्' यह अपरोक्ष है। घड़ी, पुस्तकादि जो नेत्र, कर्णादि इन्द्रियों से विदित तत्त्व हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष कहते हैं और जो देश या काल के कारण अन्तरित हैं-दूर हैं, उन्हें हम परोक्ष कहते हैं; किन्तु आत्मा तो घड़ी आदि के समान प्रत्यक्ष नहीं है और स्वर्गादि के समान परोक्ष भी नहीं है। यह अपरोक्ष है अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों से विलक्षण है। जैसे अपना मन, अपना हृदय अपने से अपरोक्ष है। मन को या सुख-दुःख को देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है।

अब मन और आत्मा का अन्तर देखना चाहिये, क्योंकि दोनों अपरोक्ष हैं। मन सुषुप्ति में सो जाता है; किन्तु आत्मा कभी सोता नहीं। मन के लय तथा जागरण का साक्षी आत्मा है। अतः आत्मा साक्षात् अपरोक्ष हुआ। बिना किसी कारण के, बिना बुद्धि आदि के, बिना अविद्या वृत्ति के इसका साक्षात्कार होता है। इसमें कोई व्यवधान नहीं, यह अपना आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है। यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म कोई अज्ञात अद्भुत वस्तु है और वह मैं हूँ। ब्रह्म शब्द का अर्थ है सब प्रकार के भेदों-छेदों से रहित सर्वथा असंसृष्ट अद्वितीय तथा अपनी आत्मा से अभिन्न तत्त्व। अब तक जो तुम अपने आपको एक देह से सम्बन्धित परिच्छिन्न समझ रहे थे, यह अज्ञान है। तुम परिच्छिन्न नहीं हो; पूर्ण हो, अद्वितीय हो-यह ज्ञान है।

पञ्चदशी और विचार सागर की जो आभासवाद की प्रक्रिया है, उसका भी कुछ रहस्य यहाँ समझ लेने योग्य है। इस प्रक्रिया में कार्य की उपाधि से जीव और कारण की उपाधि से ईश्वर कहा गया, यह बात समझने योग्य है। कार्य की उपाधि जीव की होती है, ईश्वर की नहीं होती। अन्तःकरण कार्य है, अतः ईश्वर के साथ अन्तःकरण नहीं होता। अन्तःकरण न होने से ईश्वर को विशेष ज्ञान नहीं होगा। यह पापी-यह पुण्यात्मा, पूर्व-पश्चिमादि दिशा आदि विशेष ज्ञान है। जब आप देह के रूपमें बैठे तब आप से पूर्व पश्चिम हुआ। ईश्वर के लिए पूर्व पश्चिम क्या? वह सर्व व्यापक कहाँ पूर्व-पश्चिम समझेगा? दिन-रात हमारे आपके लिये सूर्य की अपेक्षा से हैं। ईश्वर के लिये क्या दिन रात सम्भव है? ईश्वर के लिए आज का पापी और हजार वर्ष का पापी दोनों

के धर्म वर्तमान के समान हैं। पापी-पुण्यात्मा का भेद तो वर्तमान धर्म देखने वाले दृष्टि में होता है। इस प्रकार भेदभाव अन्तःकरण से ग्रहण होता है। अन्तःकरण के बिना भेद का ग्रहण नहीं होगा। ईश्वर का ज्ञान सत्य है। यदि ईश्वर को जगत् दीखे, ईश्वर की दृष्टि में जगत् हो तो जीव को जगत् दीखना कभी निवृत्त होगा नहीं। अतः मायोपहित चैतन्य-कारणोपाधिक चैतन्य जगत् को कभी देख ही नहीं सकता।

कारण की उपाधि से ईश्वर और कार्य की उपाधि से जीव, इन दोनों की एकता बतलानी है। कार्य और कारण दोनों वस्तु हैं। वस्तु-प्रधान उपाधि से जीव-ईश्वर की एकता बताने के लिए आभासवाद है। वस्तु प्रधानोपाधि से बाधसमानाधिकरण से जीव-ईश्वर की एकता होगी! विषय को बाध कर देना और आभास को बाध कर देना, इस के बाद कूटस्थ और ब्रह्म को एक जानना, यह बाधसमानाधिकरण है।

अवच्छेदवाद की प्रक्रिया इससे भिन्न है। इसमें आभास को आत्मा नहीं मानते, कूटस्थ ही आत्मा है। व्यष्टि देश में जो चैतन्य है, वह आभास नहीं, कूटस्थ है और समष्टि देशमें जो चैतन्य है, वह ब्रह्म है। दोनों की एकता देश की उपाधि से बताई। आकाश में ही देश की कल्पना होती है। आकाश में कभी परिच्छिन्नता नहीं होती। यहाँ मुख्य समानाधिकरण होगा। आकाश में परिच्छिन्नता न होने से कूटस्थ और ब्रह्म का एकत्व सिद्ध है।

अब दृष्टि सृष्टिवाद को लेते हैं। अविद्याकाल में हम जिस ब्रह्म को अपने से अलग और अज्ञात मानते थे वह ब्रह्म प्रत्यग्-आत्मस्वरूप ही है। यहाँ 'अयमात्मा ब्रह्म' यह महावाक्य कहता है कि अज्ञान काल में जिसे तुम अपने से भिन्न मानते हो, वह वास्तव में तुम्हारी आत्मा ही है। इस प्रकार दृष्टि सृष्टिवाद में काल की उपाधि से महावाक्य का अर्थ होता है।

आप जब घड़ा लेकर चलते हैं तो घड़े के भीतर का आकाश घड़े के साथ चलता है या नहीं? घड़े में फूल हो, जल हो, अग्नि हो तब तो वह घड़े के साथ चलेगा। लेकिन आकाश तो घड़े के भीतर, बाहर तथा घड़े की दीवार में भी है। आकाश में ही तो घड़ा स्थित है। अतः घड़े के चलने से आकाश नहीं चलता। यह शरीर भी तो घट है-घटित हुआ-बना है। इसके चलने से भीतर का मुखाकाश, हृदयाकाश चलता है? नहीं चलता। आकाश जहाँ का तहाँ रहता है। न आना-जाना, न घटना-बढ़ना। जब हृदयाकाश और घटाकाश का भी यह स्वरूप है तब चित्ताकाश और चिदाकाश का स्वरूप कैसा होगा। स्वयं विचार कर लें।

अपंचीकृत पंचमहाभूत में जो आकाश है, वह पचीकृत होने पर स्थूल हो गया? नहीं हुआ। अतः देह में परिच्छिन्न आकाश नाम की कोई पृथक् वस्तु नहीं रही। इस प्रकार केवल आकाश पर विचार करने से अपनी देह-परिच्छिन्नता कट जायगी। मन आकाश

से बड़ा है; क्योंकि यह तत्त्व ही मन है तब आकाश से भी बड़ा मन परिच्छिन्न कैसे होगा ?

अपने को आकाश रूप अनुभव करो या मिट्टी रूप; किन्तु सम्पूर्ण तत्त्व के रूपमें अनुभव करो। मिट्टी हो तो समस्त शरीर, भूमि, पर्वत, सब तुम्हीं हो। तत्त्व की दृष्टि से न देखने के कारण अपने को शरीर मानते हो। लेकिन वस्तुतः तो तत्त्वों में सबसे सूक्ष्म आकाश से भी मन सूक्ष्म है; क्योंकि स्वप्न में मन ही आकाश बनता है। सुषुप्ति में मन उस स्वप्न के आकाश को अपने में लय करके सो जाता है। इस मन के उदय-अस्त को जानने वाला, मन द्वारा कल्पित देश, काल वस्तु से, कैसे परिच्छिन्न हो सकता है ? अतः यह आत्मा ब्रह्म है। यह प्रत्यगात्मा कार्य-कारणरूप नहीं है। यह अनन्त है।

पहले ब्रह्म का परोक्ष रूप से वर्णन किया था, अब उसका प्रत्यक्ष रूप से वर्णन कर रहे हैं। 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' के साथ 'अयमात्मा ब्रह्म' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि 'त्व' तथा 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ एक है और जगत् कुछ दूसरा है, इस भ्रम का निराकरण हो जाय। आत्मा और ब्रह्म एक हैं; किन्तु प्रपञ्च अनात्मा है, त्याज्य है, कोई भिन्न वस्तु है—यह मानना भ्रम है।

जब तक जगत् को दुःखरूप समझेंगे, तब तक इससे वैराग्य होगा। जब तक इसे जड़ समझेंगे तब तक यह दृश्य रहेगा और हम द्रष्टा रहेंगे; किन्तु जब हम अपने को सत् और जगत् को असत् समझ लेंगे तो जगत् भिन्न वस्तु कैसे रहेगा ? असत् वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती। अतः यह सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप अपनी आत्मा से भिन्न नहीं है।

हम आनन्द स्वरूप हैं। हम अपने प्रिय स्वयं हैं। हमें संसार की कोई आवश्यकता नहीं। जो दुःख है, वह जड़ है और जो जड़ है, वह दुःख है। हम जड़ से असंग चेतन हैं। यह प्रथम विवेक वैराग्य का हेतु हो गया। द्वितीय विवेक हुआ कि जो आनन्द है वह चेतन है और जो चेतन है, वह आनन्द है। हम चेतन हैं—आनन्द स्वरूप हैं और समस्त दुःख जड़ है। इससे असंगता सम्पन्न हो गयी। अब तृतीय विवेक कि हम सत् स्वरूप—अधिष्ठान स्वरूप हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्च हममें अध्यस्त है। अब हम से भिन्न प्रपञ्च की कोई सत्ता नहीं है।

'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' यह श्रुति यही बात कह रही है कि 'इदम्' प्रत्यय का जो विषय प्रपञ्च है, वह सब ब्रह्म है और इसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' में 'अयम्' पद से अभिनय के द्वारा संकेतित प्रत्यगात्मा—निजस्वरूप है वह ब्रह्म है।

'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'।

आत्मा और ब्रह्म तो एक हैं, चेतन हैं। और जगत् ? जगत् भी ब्रह्म ही है। जगत् ब्रह्म से भिन्न हो तो ब्रह्म अद्वितीय ही नहीं रह जायगा।

"अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्। अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः।"

मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही भोग्य हूँ। इदम् और अहम् दोनों ब्रह्म हैं। वेदान्त का यह दृढ निश्चय है कि आत्मा के रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार ही ठीक है, क्योंकि जब-जब इदम् की प्रतीति होगी 'अहं' को ही होगी। 'मैं' के बिना 'यह' की प्रतीति नहीं हो सकती और 'यह' के बिना भी 'मैं' रहता है। अब यदि ब्रह्म को हम 'इदम्' के रूपमें जानेंगे तो जब 'इदम्' नहीं रहेगा, तब ब्रह्म भी नहीं रहेगा, किन्तु आत्मा के रूप में ब्रह्म को जानने पर आत्मा के अभाव का अनुभव कभी नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक महावाक्य आत्मा के साथ ही ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करता है।

जगत् के विवेक के लिए दो प्रक्रियाएं स्वीकृत हैं। एक तो यह कि अपने शरीर का विवेक अलग करो और शेष संसार का विवेक अलग। इसमें पञ्चकोष का विवेक करते हुए पञ्चभूतों के साक्षीरूप से ब्रह्म का विवेक होगा और तब महावाक्य के द्वारा पंचकोष के साक्षी एवं जगत् के साक्षी दोनों की एकता का प्रतिपादन होगा। दूसरी प्रक्रिया यह है कि प्रारम्भ में ही अपनी देह के पञ्चभूतों को समष्टि पञ्चभूतों से एक कर दो। सब पञ्चभूत एक और सब का साक्षी 'मैं'। इसमें अनेक जीववाद प्रारम्भ में ही समाप्त हो गया। आभासवाद, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद इस दूसरी प्रक्रिया में कोई नहीं रहेगा। केवल दृष्टि सृष्टिवाद रहेगा। प्रारम्भ में ही पञ्चभूतों का एकीकरण न करना हो तो ऐसा सोचा कि परमात्मा में तो यह प्रपञ्च विवर्त है और अपने आप में अन्तःकरण की उपाधि से दीख रहा है। अब ये सब कार्य एवं करण समष्टिरूप से जिस चेतन में विवर्त हैं, अध्यस्त हैं, उसमें इनका अत्यन्ताभाव होने से ये मिथ्या हैं। अध्यस्त अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता, अतः चेतन से जगत् भिन्न नहीं है।

यह दृश्य जगत् ब्रह्म है, ऐसा तो उपासक भी मानते हैं। श्री मध्वाचार्य जैसे द्वैतवादी भी जीव और ईश्वर को तो भिन्न मानते हैं, किन्तु जगत् को वे भी परमात्मा की शक्ति का ही विलास मानते हैं। ईश्वर और जगत् की भिन्न भिन्न सत्ता को वे भी नहीं मानते। उपासक ईश्वर की कृपा से जीव का मोक्ष मानते हैं, किन्तु वे कैवल्य नहीं मानते। उनके मोक्ष पाँच प्रकार के हैं— १-सालोक्य, २-सामीप्य, ३-सारूप्य, ४-सायुज्य ५-सार्ष्टि। सालोक्य का अर्थ है अपने इष्टदेव के लोक में रहना। २-सामीप्य का अर्थ है इष्टदेव के आभूषण, माला, वस्त्र आदि बनकर सदा उनके ही श्रीविग्रह के समीप रहना ३-सारूप्य का अर्थ है इष्टदेव के समान रूप धारण करके उनके पार्षद बन जाना। ४-सायुज्य का अर्थ है इष्टदेव से भेद-सहिष्णु अभेद प्राप्त कर लेना। तनिक-सा स्वगतभेद रख कर इष्ट में एकत्व प्राप्त कर लेना। जैसे दीपक और दीपक की प्रभा। दीपक की लौ न हो तो प्रभा नहीं रहेगी और लौ में जलाने की शक्ति है, प्रभा में नहीं है। यह भेद-सहिष्णु अभेद हुआ। जैसे विदेह-कैवल्य का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि विदेह

वत्य के बाद देह रहती नहीं, इसी प्रकार सायुज्य का भी उदाहरण नहीं हो सकता; क्योंकि सायुज्य के बाद पुनरावर्तन नहीं है।

इस निरूपण से यह सिद्ध हुआ कि जगत् बाधित होकर ब्रह्म स्वरूप ही है। हमें तो प्रत्यगात्मा के रूप में ब्रह्म को जानना है। 'यह' के रूप में तो ब्रह्म को उपासक भी जानते हैं। जो ब्रह्म को 'इदम्' के रूप में जानेगा, वह सदैव उससे पृथक् ही रहेगा। 'अहम्' का लय 'इदम्' में होना कभी सम्भव नहीं है। अतः उपासक को द्वैत–भेद स्वीकार करना ही पड़ता है। लेकिन हम जब 'स्व' के रूप में परमात्मा को स्वीकार करते हैं, तब द्वैत मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

निर्गुण परमात्मा से यदि एकता होगी तो उसमें से निकलने के लिये कोई भी गुण का भेद नहीं रहेगा जो निकाले। सगुण परमात्मा में जब अन्य भेदों का लय होगा, तो गुण का भेद होने से सगुण परमात्मा स्वेच्छा से अपने में अन्तर्हित वस्तु को कभी बाहर भी निकाल सकता है। वहाँ मोक्ष को भी ईश्वर के वश में मानना पड़ेगा और ईश्वरेच्छा से मुक्त पुरुष का भी आवागमन मानना होगा।

जो लोग मोक्ष मानते हैं, वे कर्म से मानते हैं, उपासना से मानते हैं या ज्ञान से मानते हैं, यह देखने की बात है। जो ज्ञान से मोक्ष मानते हैं उनके मत में तो मोक्ष अपना स्वरूप ही है। अज्ञानकाल में भी हम मुक्त हैं। ज्ञान से तो केवल सिद्ध मुक्ति का ही बोध हुआ। इस मुक्ति के मिटने का कोई कारण नहीं है। जहाँ ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त होगा, वहाँ ईश्वर की अप्रसन्नता या ईश्वर की इच्छा विशेष से मुक्ति खण्डित हो जायगी, क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् है। जहाँ कर्म से मोक्ष मानते हैं, वहाँ मोक्ष सीमित होता है, क्योंकि कर्म सीमित ही हो सकता है। अतः कर्म से मोक्ष मानने वालों ने मोक्ष की सीमा भी मानी है। कैवल्य मोक्ष तो अपनी आत्मा ही ब्रह्म है, इस ज्ञान से ही होगा। अतः मोक्ष का हेतु होने से 'अयमात्मा ब्रह्म' यह महावाक्य है।

अयम् का अर्थ है यह जिसका हम चतुष्पाद विभाग करके अभी वर्णन करेंगे। यह अपना प्रत्यगात्मा है। वेदान्त में निवृत्ति प्रमुख है। भगवान् शङ्कराचार्य का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि बिना निवृत्ति के परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

प्रवृत्ति क्या है? हमारी हृदयस्थ चेतना मन में आई और मन से नेत्रों में होकर बाहर आई। बाहर उसने पुस्तक देखी। यह प्रवृत्ति हुई। अहम् का इदम् में आना प्रवृत्ति है। जहाँ अपने से भिन्न कोई ईश्वर है, वहाँ प्रवृत्ति से ईश्वर प्राप्ति हो सकती है, किन्तु जहाँ प्रत्यगात्मा ही परमात्मा है, वहाँ तो प्रवृत्ति के उलटे चलना होगा। विषय से इन्द्रियों में, इन्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में और बुद्धि से साक्षी रूप में जाकर स्थित हो जाओ। बाहर से भीतर लौटना, यह निवृत्ति है। संसार के जितने साधन हैं,

सब निवृत्ति के अग हैं। पुण्य किसे कहते हैं? पाप से निवृत्ति का नाम पुण्य है। पुण्य से निवृत्ति पाप नहीं है। पुण्य से निवृत्ति तो अपने स्वरूप में अवस्थान है। धर्म छोड़ कर अधर्म करना प्रवृत्ति हुई। इसमें निवृत्ति कहाँ है?

'चित्तनदी उभयतो वाहिनी वहति पापाय वहति पुण्याय च।'

चित्त नदी दोनों ओर बहने वाली है। पाप की ओर भी और पुण्य की ओर भी। क्लिष्ट वृत्ति पाप के लिये प्रवाहित होती है और अक्लिष्ट वृत्ति पुण्य के लिये प्रवाहित होती है। इन क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों वृत्तियों का निरोध करना होगा। पुण्य वृत्ति अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष, अभिनिवेश इन पञ्चक्लेशों को शमन करनेवाली है और पाप वृत्ति इन क्लेशों को बढ़ाने वाली है। इनमें पाप से निवृत्त होना पुण्य है और पुण्य तथा पाप दोनों से निवृत्त होकर एक लक्ष्य में स्थित होना, यह उपासना है। उस एक वृत्ति को भी छोड़ कर स्थित होना समाधि है। समाधि को छोड़ कर अपने स्वरूप में स्थित होना–'तदा द्रष्टु स्वरूपेवस्थानम्' यह निवृत्ति हुई। इस प्रकार धर्म, उपासना, योग आदि संसार के सब साधन निवृत्ति के अग हैं।

जो अपने हृदय में बैठे परमात्मा को नहीं पहचानेगा, वह बाहर के परमात्मा को कभी पहचानेगा ही नहीं। इस छोटे शरीर म ही परमात्मा है, उसी को नहीं जानते तो विराट् में परमात्मा को कैसे जान सकोगे? हम बाहर की वस्तुओं को भोग्य भी मानें मूल्यवान् भी मान, उनके चिन्तन में भी लगे रहें और उस चिन्तन का प्रकाशक परमात्मा प्राप्त भी हो जाय, ऐसा कैसे होगा? एक बार तो वृत्तियों को निवृत्त करके ही परमात्मा को जानना है। 'अयम्' यह अभिनय-अगुल्यानिर्देश है 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महा वाक्य में। यह चेष्टा–प्रमाण है। यदि चेष्टा नहीं होगी तो 'अयम्' का अर्थ नहीं भासेगा। अत गुरु प्रत्यक्ष निर्देश से इसका अर्थ बोध करावे तब इसका पता चलेगा।

यह वही आत्मा है, जिसको आकार कहा गया है। पर और अपर अर्थात् कारण रूप और कार्य रूप अथवा पर का अर्थ अन्य रूप और अपर का अर्थ स्वरूप, यह आत्मा एसा है। 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' यह पर रूप–जगत् रूप से वर्णन होगया और 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अपर अर्थात् पर से विलक्षण अपने स्वरूप के रूप म वर्णन होगया। इस प्रकार कार्य और कारण तथा इदम् एव अहम् इन दोनों रूपों में आत्मा का प्रतिपादन होगया। यह आत्मा चतुष्पाद है। निरवयव आत्मा मे तो एक पाद भी सम्भव नहीं, तब उसे चतुष्पाद क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि वक्ता अपने रूप मे ही परमात्मा का वर्णन करता है, यह वेदान्त की रीति है। तैत्तिरीय उपनिषद् में वक्ता तीतर पक्षी है अत पक्षी रूप में परमात्मा का वहाँ वर्णन है। दक्षिण पक्ष, उत्तर पक्ष तथा 'ब्रह्मपुच्छम् प्रतिष्ठा' आदि। यह वर्णन की शैली है। माण्डूक्य उपनिषद् के वक्ता ऋषि मडूक के पुत्र माण्डूक्य हैं। मडूक कहते हैं मेंढक को। मेंढक के चार पैर होते हैं, अत वह

अपने देहस्थ पादों का ब्रह्म में आरोप करता है। ब्रह्म में चतुष्पादत्व वास्तविक नहीं है, आरोपित है। एक स्थान पर कहते हैं कि ब्रह्म के तीन पाद अमृत हैं और एक पाद नामरूपात्मक-जगत् है।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"

सत्, चित्, आनन्द ये तीन पाद हैं और नाम-रूप चतुर्थपाद है। यह प्रपञ्च परमात्मा से छोटा है, यह बताने के लिये ही इसे एक पाद और तीन पाद को अमृत-तुरीय कह दिया। ब्रह्म के पाद के दोनों वर्णन वेद के हैं। यदि ब्रह्म में पाद वास्तविक होते तो दोनों स्थानों पर एक-सा वर्णन होता, लेकिन पाद तो अध्यारोपित हैं। अध्यारोप का अर्थ कल्पना और कल्पना एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की की जा सकती है। जैसे रज्जु में सर्प अध्यारोपित है-अतः सर्प है, माला है, आदि कई अध्यारोप वहाँ सम्भव हैं। ब्रह्म में चतुष्पादत्व अध्यारोपित है, वस्तुतः नहीं है। अतः इसका आग्रह नहीं रखना चाहिये।

ब्रह्म में चार पाद किस प्रकार हैं? जैसे गाय के चार पैर होते हैं वैसे? नहीं। क्योंकि गाय सावयव पदार्थ है। उसके अंग हैं, किन्तु ब्रह्म निरवयव है। जैसे रुपये में चार चवन्नी होती हैं, वैसे। रुपये से न चार चवन्नी निकली हैं, न रुपये के चार टुकड़े होते हैं। रुपये के बदले चार चवन्नी मिलती हैं, अतः रुपये में चार चवन्नी हमने मान लीं। इसी प्रकार ब्रह्म में चार पाद कल्पित हैं।

"व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति।"

गाय की भाँति नहीं, कार्षापण (सिक्का विशेष) की भाँति ब्रह्म में चतुष्पादत्व है।

पाद शब्द का अर्थ क्या है? 'पद्यते अनेन इति पादः' अर्थात् जिसके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति हो- परमात्मा की प्राप्ति का जो साधन हो-यह अर्थ पाद का मानें तो चारों पाद साधन हो जायेंगे और साध्य शेष इन चारों के भीतर नहीं रहेगा। ब्रह्म के चार ही पाद हैं और चारों साधन हैं तो ब्रह्म भी साधन हो गया, सिद्ध वस्तु नहीं रहा। अतः यह अर्थ ठीक नहीं है।

पद्यत इति पादः — जिसे प्राप्त किया जाय वह पाद, यह अर्थ करने से सब के सब साध्य हो गये। साधन नहीं रहा। यहाँ चतुष्पाद की कल्पना तीन पाद की साधन रूपमें और एक पाद की साध्य-तुरीय रूपमें की गई है। अतः दो प्रकार से व्युत्पत्ति करनी चाहिये। जिसका निषेधावधि रूप से वर्णन है, वह तो प्राप्तव्य है और जिनका [illegible]नात्मक वर्णन है, वे साधनरूप हैं।

विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये अवस्था विशेष हैं। तुरीय निषेध की अवधि है। 'तुरीय [illegible]प्रन्तत' तुरीय शेष तीनों में व्याप्त है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थायें परस्पर [illegible] हैं। एक के होने पर शेष दो नहीं रहतीं। लेकिन तुरीय इन से व्यावृत्त नहीं [illegible]तः जो अविनाशी एकरस वस्तु है, वह प्राप्तव्य है। शेष साधन रूप हैं। अतः

* तीसरा मन्त्र *

आत्मा का प्रथम पाद–वैश्वानर

ागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः पादः ॥ ३ ॥

ागरितं ...स्थानमस्येति जागरितस्थानः । बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते

'नयाणा विश्वादीना पूर्वपूर्वप्रविलापनेन' विश्व को तैजस मे, तैजस को प्राज्ञ में विलीन करके तुरीय की प्रतिपत्ति होती है।

धर्म कैसे होता है? कर–हाथ से। धर्म का साधन हुआ कर, कर ही करण है। इस कर से काम लेनेवाला कौन है? अन्तःकरण। अन्तःकरण और बहिःकरण ये दो भेद हो गये करणों–साधनों के। कर्म, कर, करण और कर्ता यहाँ तक कर्म की परम्परा गयी, किन्तु अपना स्वरूप—उसमें न कर्म है, न करण है, न कारण है, न कर्ता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द विचार करने पर वहीं पहुँचा देता है। अन्तःकरण और बहिःकरण ये भेद अज्ञानी के जीवन में होते हैं। ज्ञानी के मरने पर उसका अन्तःकरण क्या स्थूलदेह से पृथक् रह जाता है? यदि ज्ञानी का शरीर और अन्तःकरण पृथक्–पृथक् हो तो उसका भी जन्म मरण प्राप्त हो जायगा। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में इस चर्म के भीतर और बाहर कार्य करनेवाले करणों में कोई अन्तर नहीं है। स्थूल तथा सूक्ष्म देह का अन्तर तो अज्ञान दशा में ही है।

पाद शब्द का, 'पद्यत इति' जो प्राप्त किया जाय वह पाद–यह अर्थ तुरीय के लिये है।

ब्रह्म में यह चतुष्पात्त्व क्या है? इसके उत्तर में आगे उपनिषद् का तृतीय मन्त्र है ब्रह्म निरवयव है। उसका जो वर्णन हम करते हैं, वह अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। जैसे पंचमहाभूतों की सत्ता में अनुभव प्रमाण है। वैज्ञानिक जल को मूल पदार्थ नहीं मानते और चार्वाक मत में आकाश कोई पदार्थ नहीं माना जाता, किन्तु हमारे पास पाँच ज्ञानेंद्रियाँ है और इनके द्वारा पाँच प्रकार के अनुभव हमें होते हैं। उन अनुभवों के आधारभूत हम पंचमहाभूत मानते हैं। यह हमारी पद्धति है। हमारी पद्धति यह है कि हमें सहज स्वभाव से जो साधन प्राप्त हैं, उनसे ही हम वस्तु का निरूपण करते हैं। हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं, अतः एक ही सत्ता इस पंचभूत के रूप में प्रतीत हो रही है। इन पाँच इन्द्रियों के भीतर मन एक है। पाँचों इन्द्रियों से कार्य लेनेवाला और अनुभव करनेवाला एक है। इसी प्रकार हम अपने जीवन में तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। ये तीनों अवस्थायें हमारे जीवन में आ[illegible]।

हम सत्यके विचार के समय शरीर द्वारा जो व्यवहार करते हैं, उस[illegible]
उस पर विचार करते हैं, किन्तु बिना शरीर के स्वप्न में जो व्यवहार कर[illegible]
व्यवहार सुषुप्ति में बन्द कर देते हैं, [illegible] पर विचार नहीं करते।

* तीसरा मन्त्र *

आत्मा का प्रथम पाद–वैश्वानर

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः । बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः । तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षु-र्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः । तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कार-श्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः । स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् भुङ्क्त इति स्थूलभुक् । विश्वेषां नराणा-मनेकधा नयनाद्वैश्वानरः । यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानरः । सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वादुत्तर-पादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य ।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति । नैष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मन-श्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः । सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात् । 'सर्वभूतानि चात्मनि' 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' (ई० उ० ६) इत्यादि-श्रुत्यर्थः उपसंहृतश्चैवं स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात् । सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात् ।

'जयाणा विश्वादीना पूर्वपूर्वप्रविलापनेन' विश्व को तैजस में, तैजस को प्राज्ञ में विलीन करके तुरीय की प्रतिपत्ति होती है।

कर्म कैसे होता है ? कर–हाथ से। कर्म का साधन हुआ कर, कर ही करण है। इस कर से काम लेनेवाला कौन है ? अन्तःकरण। अन्तःकरण और बहिःकरण ये दो भेद हो गये करणों–साधनों के। कर्म, कर, करण और कर्ता यहाँ तक कर्म की परम्परा गयी, किन्तु अपना स्वरूप—उसमें न कर्म है, न करण है, न कारण है, न कर्ता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द विचार करने पर वहीं पहुँचा देता है। अन्तःकरण और बहिःकरण ये भेद अज्ञानी के जीवन में होते हैं। ज्ञानी के मरने पर उसका अन्तःकरण क्या स्थूलदेह से पृथक् रह जाता है ? यदि ज्ञानी का शरीर और अन्तःकरण पृथक्–पृथक् हो तो उसका भी जन्म-मरण प्राप्त हो जायगा। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में इस चर्म के भीतर और बाहर कार्य करनेवाले करणों में कोई अन्तर नहीं है। स्थूल तथा सूक्ष्म देह का अन्तर तो अज्ञान दशा में ही है।

पाद शब्द का, 'पद्यत इति' जो प्राप्त किया जाय वह पाद–यह अर्थ तुरीय के लिये है।

ब्रह्म में यह चतुष्पादत्व क्या है ? इसके उत्तर में आगे उपनिषद् का तृतीय मन्त्र है ब्रह्म निरवयव है। उसका जो वर्णन हम करते हैं, वह अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। जैसे पचमहाभूतों की सत्ता में अनुभव प्रमाण है। वैज्ञानिक जल को मूल पदार्थ नहीं मानते और चार्वाक मत में आकाश कोई पदार्थ नहीं माना जाता, किन्तु हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है और इनके द्वारा पाँच प्रकार के अनुभव हमें होते हैं। उन अनुभवों के आधारभूत हम पचमहाभूत मानते हैं। यह हमारी पद्धति है। हमारी पद्धति यह है कि हम सहज स्वभाव से जो साधन प्राप्त हैं, उनसे ही हम वस्तु का विश्लेषण करते हैं। हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं, अतः एक ही सत्ता हमें पचभूत के रूप में प्रतीत हो रही है। इन पाँच इन्द्रियों के भीतर मन एक है। पाँचों इन्द्रियों से कार्य लेनेवाला और अनुभव करनेवाला एक है। इसी प्रकार हम अपने जीवन में तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। ये तीनों अवस्थायें हमारे जीवन में आती जाती हैं।

हम सत्यके विचार के समय शरीर द्वारा जो व्यवहार करते हैं, उसको सत्य मानकर उस पर विचार करते हैं; किन्तु बिना शरीर के स्वप्न में जो व्यवहार करते हैं और जब व्यवहार सुषुप्ति में बन्द कर देते हैं, उन पर विचार नहीं करते, इसीलिये हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। अधूरे ज्ञानका ही नाम अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ अल्प ज्ञान विपरीत ज्ञान।

पूर्ण के ज्ञान के लिये हमारी जो अपनी ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनसे परे की स्थिति है, उनका ही विचार हमें करना है। इनको ही पाद के रूप में अध्यारोपित किया गया है। अब इनमें से प्रथमावस्था जाग्रत् का वर्णन उपनिषद् में करते हैं।

* तीसरा मन्त्र *

आत्मा का प्रथम पाद–वैश्वानर

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः । बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः । तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षु-र्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः । तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कार-श्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः । स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् भुङ्क्त इति स्थूलभुक् । विश्वेषां नराणा-मनेकधा नयनाद्वैश्वानरः । यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानरः । सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वादुत्तर-पादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य ।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति । नैष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मन-श्चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः । सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात् । 'सर्वभूतानि चात्मनि' 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' (ई० उ० ६) इत्यादि-श्रुत्यर्थ उपसंहृतश्चैवं स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात् । सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात् ।

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५। १२। २) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे "यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्" (बृ० उ० २। ५। १) इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव। निर्विशेषत्वात्। एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥ ३ ॥

परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रथम पैर रखो। प्रथम पैर कहाँ रखना होगा? शरीर में तो तुम बैठे ही हुए हो, अतः शरीर से आगे पैर रखा जायगा। इस छोटे शरीर को छोड़ कर सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर बना लो, यह प्रथम पाद हुआ। इस नन्हें शरीर के बदले सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर समझने लगो। भौतिकवादियों का विश्वात्मवाद जो अन्तिम प्राप्य है, अध्यात्मवादियों का वह प्रथम पाद है।

यह जाग्रत् अवस्था जिसके रहने का स्थान है, उसका निरूपण करना है इस प्रथम-पाद में। जाग्रत् अवस्था का अर्थ इस शरीर की अवस्था नहीं। जाग्रत् को समझने के लिये पहले स्वप्न को समझना आवश्यक है। स्वप्नावस्था में वहाँ की पृथ्वी, आकाश, नदियाँ और पूरा प्राणिसमुदाय जो कुछ दीखता है, सब स्वप्न है। केवल स्वप्न का द्रष्टा उन सब से विलक्षण है। केवल 'मैं' के विषय में स्वप्न में तीन भेद कर लो-१ स्वप्न पुरुष, २ स्वप्नाभिमानी, ३ स्वप्न द्रष्टा। स्वप्न में मैं अपने को देखता हूँ कि स्नान करने जा रहा हूँ। यह स्नान करने जानेवाला स्वप्न पुरुष है। २ जागने पर मैं सोचता हूँ कि यह पूरा स्वप्न मेरे संस्कार से बना था। यह स्वप्नाभिमानी है। ३ स्वप्न का द्रष्टा और जगत् का द्रष्टा एक ही है। स्वप्न पुरुष का अभिमान भिन्न और जाग्रत् पुरुष का भिन्न; किन्तु द्रष्टा एक।

जैसे स्वप्न में समस्त स्वप्न बनाने वाला मैं था, वैसे ही जाग्रत् में सम्पूर्ण जाग्रत् बनाने वाला मैं ही हूँ। यह पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, नदी-समुद्र, पशु पक्षी-मनुष्य, सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपंच वैसे ही हमने जाग्रत् में बना लिया है, जैसे स्वप्न में बना लेते हैं। जाग्रत् का अभिमानी स्वप्नाभिमानी नहीं है और स्वप्नाभिमानी जाग्रत् का अभिमानी नहीं है। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। स्वप्नाभिमानी को जाग्रत् की स्मृति नहीं होती। जाग्रत् अभिमानी को स्वप्न की स्मृति होती है। इसका अर्थ हुआ कि जाग्रत् अभिमानी स्वप्नावस्था में स्वप्नाभिमानी में लीन हो जाता है। सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों की स्मृति नहीं होती। इससे पता लगा कि सुषुप्ति में विश्व और तैजस दोनों प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं।

अभी यहाँ हमें जाग्रत् पुरुष का ही विचार करना है। यह प्रथम पाद विश्व से प्रारम्भ होगा। एक शरीर का अभिमानी जाग्रत् पुरुष है। जैसे स्वप्नपुरुष। सम्पूर्ण जाग्रत् अवस्था अभिमानी विश्व है।

गीता में भगवान् ने अर्जुन को बताया–'हन्यते हन्यमाने शरीरे' शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा मारा नहीं जाता और वह न उत्पन्न होता है न मरता है। इसका अर्थ है कि शरीर में ही शरीर से भिन्न कोई आत्मा नाम की ऐसी वस्तु है जो शरीर के जन्म-मरण से जन्म-मरण को नहीं प्राप्त होती। जाग्रत् स्थान को समझने के लिये हमें अपने को देह से हटाना होगा और उस आत्मा की ओर ध्यान देना होगा। यह जानना होगा कि सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च मेरा बनाया है और मुझमें दीख रहा है। इससे यह होगा कि देह की आसक्ति से होने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, भय आदि सब छूट जायँगे। प्रथम पाद उठाने का अर्थ है कि हम शरीर के गुणदोष, जन्म-मृत्यु तथा परिच्छिन्नता को छोड़कर विश्वात्मा-स्थूल समष्टि के अभिमानी के साथ एक हो जायँ।

एक व्यक्ति को सुख पहुँचाने में मत लगो। समाज की सेवा करो। प्राणिमात्र की सेवा करो। यह कर्मयोग है।

अपने देह की सेवा मे मत लगो। ईश्वर की–विश्वात्मा की सेवा मे लगो। यह भक्तियोग है।

तुम सब कार्य 'मैं' के लिये करते हो। तुम्हारा स्वार्थ-परमार्थ सब 'मैं' के लिये है, किन्तु अपने 'मैं' को पहचानो तो। यह साढे तीन हाथ का देह तुम्हारा 'मैं' नहीं है। सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा मैं' है। विश्व की सुख-समृद्धि तुम्हारी सुख-समृद्धि है। यह वेदान्त है। परिच्छिन्न अहं का विसर्जन, यह प्रथम पाद है।

इस जाग्रत् अवस्था की विशेषता क्या है? 'बहिष्प्रज्ञ' अर्थात् मैं चेतन हूँ और यह दृश्यमान जगत् जड़ है। हमारी प्रज्ञा जड़ को विषय बना रही है। अपने से अन्य को विषयरूप में ग्रहण कर रही है। यही जाग्रत् स्थान की विशेषता है।

देह को छोड़ दो सम्पूर्ण विश्व में मेरा शरीर है। विश्व में जैसे दूसरे शरीर हैं, वैसे ही यह भी एक शरीर है। अपने को इस चमड़े के घड़े की जेल से बाहर करो। यह अस्थि, चर्म, मांस मल-मूत्र का पुतला, कामी क्रोधी-लोभी, पण्डित-गृहस्थ संन्यासी, दरिद्र धनी मैं नहीं हूँ। मैं विश्वात्मा हूँ। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक-एक रोम-कूप में हैं, वह विश्वात्मा मैं हूँ। इस जाग्रत् अवस्था म केवल प्रज्ञा ही बहिर्मुख हो रही है। जब चेतन अन्य की कल्पना करके उसको प्रकाशित करता है तब उसका नाम प्रज्ञा हो जाता है। लेकिन जब चित्त तथा जगत् को प्रकाशित तो करता है, किन्तु अन्यत्व को

प्रकाशित नहीं करता, अपने से भिन्न कुछ नहीं देखता तब उसे ब्रह्म कहते हैं। सविषयक ज्ञान का नाम चित्त है और निर्विषयक ज्ञान का नाम ब्रह्म है।

जब तक जगत् को मिथ्या न देखे तब तक कोई अपने सच्चे-पूर्ण स्वरूप को जान गया यह बात झूठी है। यह तो प्रथम पाद है जहां प्रज्ञा बाहर है। 'यह मुझसे भिन्न है और मैं इसे जान रहा हूँ।' यह बहिःप्रज्ञ है। यह प्रज्ञा बाहर विषय के समान क्यों हो गई? अविद्या के कारण 'अविद्यानृतानमाप्रते। विश्वात्मा से एक होकर सारे विश्व को जान लिया, किन्तु अपने आपको नहीं जाना। यह अधिष्ठान का द्रष्टा का-अपने स्वरूप का अज्ञान ही भीतर-बाहर का भेद उत्पन्न कर रहा है। महापुरुषों में बाहर-भीतर का भेद नहीं होता। नेत्र बन्द करके बैठते हैं तो परमात्मा का ध्यान कर रहे हैं और नेत्र खोलकर देखते हैं तो जगत् को देख रहे हैं, ऐसा भेद महापुरुषों में नहीं होता। वहाँ तो बाहर-भीतर एक ही परमात्मा है।

"जहँ जहँ चलउँ सोइ परिक्रमा
जो कछु करौ सो सेवा।
भाव न राखउँ दूजा॥ इत्यादि॥

महापुरुष जो कुछ करते हैं, सब ईश्वर की आराधना है।

लेकिन यह बाहर भीतर का भेद जहाँ है, वहाँ यह अविद्या से ही है। अविद्या क्या? अनन्त वस्तु का यह स्वभाव होता है कि वह पूरा दीख नहीं सकती। आकाश पूरा कभी नहीं देखा जा सकता। हम ज्ञान स्वरूप हैं, अतः देखे बिना रह नहीं सकते। ज्ञान स्वरूप होने से हम प्रकाशित किये बिना रह नहीं सकते और अनन्त हैं, अतः पूर्णतः प्रकाशित हो नहीं सकते। यहाँ प्रकाश्य-प्रकाशकभाव परस्पर विरुद्ध हो जाता है। फल क्या होता है कि हम एक होकर भी अपने को अन्य रूप से देखते हैं। जैसे हम नेत्र से आकाश को यथावत् देख नहीं पाते तो नीला देखते हैं। इसी प्रकार हम जब अपने आप को—चेतन को यथावत् नहीं देख पाते तो अन्य रूप से जड़ देखते हैं। अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न देखते हैं। अपने से विश्व को अन्य देखना– जड़ देखना, यह अपने को अन्य रूप से प्रकाश्य बना देने की असमता के कारण है। देखना दोष नहीं है। आकाश को नीला देखना भी दोष नहीं है। उस नीलिमा को सत्य मान लेना दोष है। इसी प्रकार प्रपञ्च-दर्शन दोष नहीं है किन्तु सत्यत्व की भ्रान्ति अपराध है। हम इससे सत्य से वंचित होगये। अपने आपको ही ज्ञेय बनाने की चेष्टा करके अपने आप में अन्य का आरोप-यह अविद्या हुई। अविद्या का अर्थ है ठीक न समझना — नासमझी।

अब इस जाग्रत् स्थान का विस्तार बतलाते हैं कि यह 'सप्ताङ्ग' है। भगवान् श्री शङ्कराचार्य ने इस सम्बन्ध में इस श्रुति का उल्लेख किया है।

पृथ्वी पैर है, जल मूत्रस्थान है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, आकाश मध्य देह

सूर्य नेत्र है और देवलोक मूर्धा है, ये अपने सात अंग हैं। विश्वात्मा के रूपमें अपने को देखने पर अपना यह स्वरूप भासता है। यहाँ अग्नि और सूर्य में भेद करके वर्णन किया है; क्योंकि अग्नि जठराग्नि के रूपमें भोजन को पचाता है, इसलिए उसे मुख में स्थापित किया और सूर्य देखने मे कारण है; अतः उसे नेत्र बतलाया।

एक महात्मा ने मुझे लय का बहुत सुन्दर क्रम बतलाया था। उन्होंने कहा—'तुम शान्ति से बैठे हो, इसे आकाश समझ लो। उठ कर चल पड़े तो गतिमान् वायु हो गया। चलने से देह में गर्मी आयी तो अग्नि हो गयी। गर्मी से स्वेद आया, यह जल हुआ। स्वेद जमकर मैल बन गया, यह मिट्टी हुई। इस प्रकार हम अपने दैनिक जीवन में नित्य आकाश से वायु, वायुसे अग्नि, अग्नि से जल और जल से मिट्टी बनते देखते हैं। अब ऐसा करो कि सृष्टि में जितनी मिट्टी है, वह द्रव होकर जल बन गयी, ऐसा विचार करो। इसका यह परिणाम होगा कि न वन-उपवन रहेंगे, न पृथ्वी-पर्वत रहेंगे, न सूर्य-चन्द्र-तारक रहेंगे। कोई भेद नहीं रह जायगा। केवल जल लहरा रहा है। यह शरीर मेरा और यह तुम्हारा यह केवल मिट्टी के द्वारा भेद हुआ है। मिट्टी न हो तो शरीरों का भेद रहेगा ही नहीं। यह सब भेद मन ने कल्पित किया है।'

एक दूसरे महात्मा ने बताया—'जब सोने लगो तो अपने शरीर को ६ भागों में विभक्त समझो। मन से ही सोचो कि पैर से गुदा पर्यन्त पृथ्वी तत्त्व है। गुदा से मूत्रेन्द्रिय तक जल है। मूत्रेन्द्रिय से नाभि तक अग्नि है। नाभि से हृदय तक मन, है। भ्रूमध्य से ऊपर परमात्मा है। अब शरीर के पृथ्वी तत्त्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को मन में और मन को परमात्मा में लीन होने की भावना करके परमात्मा में सो जाओ। जब प्रातः निद्रा टूटे तो परमात्मा से मन, मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी का भाग प्रकट हुआ—ऐसी भावना करो। यदि कोई ६ महीने इस अभ्यास को करे तो जाग्रत् अवस्था स्वप्न के समान हो जायगी और सुषुप्ति समाधि बन जायगी। जाग्रत अवस्था के सब दोष काम, क्रोध, लोभादि स्वप्न के समान भासने लगेंगे।'

कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे पास मन का बनाया संसार अधिक है और ईश्वर का बनाया संसार कम है। ईश्वर के बनाये संसार से छुटकारा पाने की तो आवश्यकता नहीं है; किन्तु अपने मन के बनाये संसार से छुटकारा पाना आवश्यक है। हम इस परिच्छिन्न शरीर के रूप में ही हैं, इसी धारणा को दूर करना है और इसीलिये यह विचार चल रहा है।

'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः॥

यह आत्मा जिसे तुम परोक्ष रूपमें जानते हो, यह तुम्हारा आत्मा ही वैश्वानर है। अत्यन्त तेजोमय द्युलोक तुम्हारा मूर्धा—मस्तक है।

"चक्षुर्विश्वरूप" विश्व को रूप दिखाने वाले सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं। जितने भी रूप दिखायी पड़ते हैं, सब प्रकार से दिखायी पड़ते हैं। सब रूप किरणों के ही घनीभवन हैं। जैसे वर्षा होते जल में सूर्य की किरणें पड़कर जब टेढ़ी हो जाती हैं, तब इन्द्र-धनुष दिखलायी देने लगता है, इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियों में आकर वक्रता प्राप्त होने से नाना रूप दीखने लगता है। नेत्र में आया ज्ञान रूप, कान में आया ज्ञान शब्द, नाक में आया ज्ञान गन्ध-इस प्रकार एक ही ज्ञान अनेक रूप हो जाता है।

जितने भी विषय प्रतीत हो रहे हैं, सब दृष्टिमात्र हैं। दृष्टि से भिन्न नहीं। इसका यह अर्थ है कि द्रष्टा और घट दोनों एक देश में हैं। हमको बाह्य घट का ज्ञान नहीं होता। हमको बुद्धि वृत्ति में जो घटाकार है, उसी का ज्ञान होता है। दृष्टि तो स्वतन्त्र ही है।

यदि एक साथ घट और पुस्तक दोनों प्रतीत हों तो हम कह सकते हैं कि घट पुस्तक नहीं और पुस्तक घट नहीं; किन्तु दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं, अतः दृष्टि ही घट या पुस्तक रूप में प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों का भेद भी दृष्टिमात्र है। भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न दृष्टि है और काल भी दृष्टिमात्र है। यह सृष्टि हमारी दृष्टि ने की और दृष्टि को हमने देह में परिच्छिन्न कर लिया, अत हम देह हैं, यह प्रतीत होने लगा। अतः देह से उठाकर दृष्टि को अब वैश्वानर-विराट् में ले चलना है। यह सूर्य ही वैश्वानर रूप अपना नेत्र है।

'प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा' अनेक मार्गों से चलने वाला वायु प्राण है। 'संदेहो बहुलो' यहाँ संदेह का अर्थ है देह का मध्यभाग यह बहुल-विस्तीर्ण आकाश है। 'बस्तिरेव रयि' रयि कहते हैं अन्न को, अतः अन्न का हेतु जल ही बस्ति अर्थात् मूत्र स्थान है और 'पृथिव्येव पादौ' यह पृथ्वी ही पाद-चरण है। इसी प्रकार अग्निहोत्र के आहवनीय अग्नि की कल्पना के रूप में यह सबका सब निरूपण है। वैश्वानर अग्नि है, अतः वह शेष रहने से मुख हो गया। इस प्रकार सात अंगों वाला यह सम्पूर्ण विश्व हमारा शरीर है।

मूल श्रुति में सप्ताङ्ग के साथ 'एकोनविंशतिमुख' कहा है। इन उन्नीस मुखों का वर्णन करते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान प्राप्ति के द्वार हैं। कर्ण से शब्द, नेत्र से रूप, त्वचा से स्पर्श, नासिका से गन्ध और रसना से रस का ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय कर्म करने के द्वार हैं। हाथ से कर्म होता है, पैर से चलते हैं, मूत्रेन्द्रिय से मूत्र तथा गुदा से मल त्याग का कर्म होता है और भोजन करने के लिए मुख है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मिल कर दस हो गयीं। ये परस्पर पूरक हैं। जैसे नेत्र कुछ देखना चाहते हैं तो पैर वहाँ ले जाते हैं। नासिका कोई पुष्प गन्ध चाहती है तो हाथ वह पुष्प नाक के पास ले जाते हैं। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियाँ ये एक दूसरे की पूरक हैं। शरीर के भीतर पाँच [illegible] व्यान, उदान

और समान। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों दोनों के पूरक ये प्राण हैं। प्राण न हो तो न कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी, न ज्ञानेन्द्रियाँ।

अन्तःकरण चतुर्विध है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। आजके मनोवैज्ञानिक तो मन के दो ही भेद मानते हैं-अन्तर्मन और बहिर्मन, फिर ये चारों क्यों यह समझने योग्य है। वस्तुतः मन की चार वृत्तियों को लेकर ही यह चार भेद किये गये हैं। इनमें से जब हम जागते रहते हैं, तब मन की चारो वृत्तियाँ काम करती रहती हैं। सपूर्ण अन्तःकरण को मन मानकर मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की इन वृत्तियों के अनुसार नाम रखें तो १-सकल्पात्मक मन २-सचालक मन ३-सस्कारात्मक मन और ४-निर्णायक मन, ये चार नाम होंगे। जाग्रत् अवस्था में निर्णायक मन अर्थात् बुद्धि की प्रधानता होती है।

जब हम स्वप्न देखते हैं, तब निर्णायक मन सोता होता है। उस समय केवल सकल्प-विकल्प होते हैं। यद्यपि सोचना तथा निर्णय करना स्वप्न में भी होता है; किन्तु उस समय प्रधानता अस्त-व्यस्त सकल्पों की ही अधिक होती है। जब हम घोर निद्रा में होते हैं, तब भी कोई हमारा नाम लेकर पुकारे तो हम जाग जाते हैं और दूसरे का नाम लेकर पुकारे तो हम नहीं उठते। यह काम संस्कारात्मक मन करता है। स्वप्न में बिना देखी-सुनी वस्तुएँ भी सस्कारात्मक मन से आकर दीखती हैं। सुषुप्ति में रक्त प्रवाह चलता है, पेशी-नस चढ़ते हैं। यह सचालक मन का काम है। समाधि में सम्पूर्ण मनोनिरोध होने पर रक्तप्रवाह, श्वास की गति बन्द हो जाती है। पेशादि नहीं चढ़ते। संकल्पात्मक मन को ही मन, संस्कारात्मक मन को चित्त निर्णायक मन को बुद्धि और सचालक मन को अहंकार कहा जाता है। समाधि और सुषुप्ति का विचार करने के कारण ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक मन के केवल दो भाग करते हैं।

इस प्रकार दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अतःकरण के भेद मिलकर उन्नीस हो गये। जैसे हम मुख से भोजन ग्रहण करते हैं, वैसे ही ये उन्नीस उपलब्धि के द्वार हैं, अतः इन्हें मुख कहा गया है। बहिरग पदार्थ बाह्य करणों से-इन्द्रियों से और अतरग पदार्थ अन्तःकरणादि से ग्रहण होते हैं। इनमें भी पचीकृत पचमहाभूत और अपचीकृत पचमहाभूत का भेद है। पचीकृत पचमहाभूत का अर्थ है कि पृथ्वी में आधा भाग पृथ्वी का और शेष आधे में जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इसी प्रकार सब में आधा उसका स्वय का भाग और शेष आधे में चार सम्मिलित हैं। यह शरीर पचीकृत पचमहाभूतों से बना है। इसलिये इन्द्रियगोलक नेत्र, कर्ण, जिह्वादि ये पचीकृत पचमहाभूतों से बने हैं। गोलक का अर्थ है रहने का स्थान इन गोलकों में रहनेवाली इन्द्रियाँ और मन अपचीकृत पचमहाभूतों के हैं। वस्तुतः इन्द्रिय वृत्ति को ही मन कहते हैं। मन जिस समय जिस इन्द्रिय गोलक में आता है, उस समय मन का ही नाम वह इन्द्रिय हो जाता है। मन एक समय एक ही नियम को ग्रहण करता है। किन्तु बारी-बारी से वह पाँचों इन्द्रियों के

विषय ग्रहण कर लेता है । मन में यदि पाँचो महाभूत न हों तो वह पाँचो विषय ग्र नहीं कर सकता । इन्द्रिय तो केवल अपने विषय ही ग्रहण कर सकती हैं । नेत्र सुन न और कर्ण देख नहीं सकते । इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय गोलकों में एक-एक मह भूत की प्रधानता है और मन में वे पाँचों हैं ।

इस प्रकार ये उन्नीस मुख पंचीकृत पंचमहाभूत तथा अपंचीकृत पंचमहाभू दोनों से बने हैं ।

इस प्रकार वर्णित यह वैश्वानर ऊपर वर्णित मुखों से शब्दादि स्थूल विषयों क उपभोग करता है, इसलिए इसे श्रुति ने 'स्थूलभुक्' कहा है ।

यह इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण का वर्णन तो व्यष्टि का वर्णन हो गया; किन्तु यो पहले ही सप्ताङ्ग बता आये हैं । अतएव पहले उस सप्ताङ्ग विराट् के रूपमें अपने को सोचकर तब देखो कि तुम्हारी इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण का कैसा रूप है । तब विराट् का वर्णन अपने आप स्पष्ट हो जायगा ।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों जैसे व्यष्टि में होते हैं, वैसे ही समष्टि में भी होते हैं । पहले जो सप्ताङ्ग बताये गये, वे विराट् के ही अंग हैं । विराट् के साथ स्थूल की एकता होगी । प्राज्ञ की एकता ईश्वर के साथ होगी । अतः यहाँ सप्ताङ्ग के वर्णन से तो विराट् का वर्णन है और मुखों के रूपमें हिरण्यगर्भ का वर्णन है । ये तैजस के मुख व्यष्टि के नहीं, हिरण्यगर्भ के मुख हैं । जैसे जाग्रत् का अन्तःकरण और स्वप्न का अन्तःकरण भिन्न नहीं है, वैसे ही विराट् के अन्तःकरण रूप हिरण्यगर्भ का यहाँ वर्णन है । यह समूची विश्वसृष्टि के प्राण, अपान, इन्द्रियादि का वर्णन है ।

सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ और स्वप्न का अभिमानी तैजस ये दोनों जाग्रत अवस्था में विश्व से एक होकर रहते हैं । इसीलिये प्राज्ञ के द्वारा अनुभूत सुषुप्ति तथा तैजस के द्वारा अनुभूत स्वप्न का स्मरण विश्व को होता है । बिना कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर व्यवहार नहीं कर सकता । अतः कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर की सब विशेषतायें स्थूल शरीर में जाग्रत् अवस्था में रहती हैं । उन विशेषताओं सहित ही स्थूल शरीर का वर्णन किया जा सकता है । लेकिन जब सूक्ष्म शरीर का वर्णन करेंगे तो स्थूल शरीर की विशेषता छोड़ देंगे । कारण शरीर के वर्णन में सूक्ष्म शरीर की विशेषता भी छोड़ देंगे ।

स्थूलभुक्' यहाँ जो भोक्ता है, वह वास्तव में प्राज्ञ ही है । प्राज्ञ ही जाग्रत् में विश्व से एक होकर भोक्ता बना हुआ है । तैजस ही उन्नीस मुख का है । सप्ताङ्ग विश्व तैजस, प्राज्ञ का एक ही है । लेकिन बहिष्प्रज्ञ केवल विश्व में है । तैजस में नहीं है । विश्व और तैजस दोनों के सप्ताङ्ग एक हैं, दोनों के उन्नीस मुख एक हैं। दोनों में भेद यह है कि विश्व बहिष्प्रज्ञ है और तैजस अन्तःप्रज्ञ है । विश्व में स्थूल भूत हैं और तैजस में

सूक्ष्म भूत हैं। तैजस का 'एकोनविंशति मुख' ही विश्व का मुख है और तैजस हिरण्यगर्भ एक हैं, तब महाङ्ग कह देने से तैजस भी व्यष्टि नहीं, समष्टि हो गया हिरण्यगर्भ हो गया।

आभासवाद की प्रक्रिया से यहाँ अन्तर पड़ता है, क्योंकि आभासवाद में विश्व, तैजस, प्राज्ञ व्यष्टि के अभिमानी हैं। लेकिन दृष्टि सृष्टिवाद तो एकजीववाद की प्रक्रिया है। उसमें तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ समष्टि सृष्टि को लिये हुए हैं।

वेदान्त तो चिन्तन के लिये है। ये इन्द्रियाँ क्या हैं? इन्द्रिय का अर्थ है इन्द्र की वस्तु। इन्द्र कौन? इन्द्र का अर्थ है द्रष्टा। इन्द्र द्रष्टा और इन्द्रिय दृष्टि। द्रष्टा के पास देखने का जो करण-साधन है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। जिन कारणों से हम बाहर देखते हैं, वे बहिरिन्द्रिय और जिनसे भीतर देखते हैं वे अन्तरिन्द्रिय। इसी का नाम बहिष्प्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ है।

प्रज्ञा ही इन्द्रिय है। अपने से भिन्न को देखे तो प्रज्ञ और अपने से अन्य को न देखे तो चेतन। उस समय उसमें देश, काल, वस्तु का कोई परिच्छेद नहीं है। वह परिपूर्ण है। जहाँ ज्ञान का कुछ विषय होता है, वहाँ ज्ञान का ही नाम प्रज्ञा है।

ज्ञानी को भी पदार्थ दीखते तो हैं; किन्तु बाधित होकर दीखते हैं, मिथ्यात्व के निश्चय के साथ दीखते हैं। इसीलिये भेद दीखने पर भी ज्ञानी के लिये वह भेद नहीं है। वह ब्रह्म स्वरूप है। अज्ञानी को जिस समय कुछ भी विषय नहीं हो रहा है, उस समय भी उसके चित्त में सम्पूर्ण भेद का बीज बैठा है। अज्ञान की समाधि भी भेदात्मक है। ज्ञानी का व्यवहार भी अभेद स्वरूप है। ज्ञानी की दृष्टि में अन्तर और बाहर का भेद नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है।

सुख-दुःख भी भीतर के विषय हैं। इनको बाहर कभी किसी ने नहीं देखा। इनकी लम्बाई-चौड़ाई, इनका भार या रंग किसी ने देखा है? इनकी कोई आकृति नहीं। सुख-दुःख वस्तु के आकार नहीं मन के आकार हैं। सब से अन्तरंग 'अहं' है। 'अहं' साक्षीभास्य है। सुख-दुःख की प्रतीति 'अहं' को ही होती है। पाप पुण्य भी बुद्धिस्थ सुख-दुःख ही है। जिसमें फलरूप से सुख आरोपित है, वह पुण्य और जिसमें फलरूप से दुःख आरोपित है वह पाप। आगामी सुख-दुःख बीज रूप से पुण्य-पाप में व्यवस्थित हैं। मैंने पुण्य किया-इस प्रकार कर्म का कर्तृत्व 'अहं' में आया। कर्म का फल हुआ कर्तृत्व और इस कर्तृत्व के भोग का फल है भोक्तृत्व। अहं कर्ता-अहं भोक्ता -इसमें जैसे भोक्तृत्व फल है, वैसे ही कर्तृत्व भी फल है। अन्तःकरण में कर्म के फल रूपमें 'अहं कर्ता' इस प्रकार की वृत्ति होती है।

जहाँ हम कर्मेन्द्रियों को अपनी समझते हैं, वहाँ कर्ता बनते हैं और जहाँ ज्ञानेन्द्रियों को अपनी समझते हैं, वहाँ ज्ञाता बनते हैं। जहाँ अन्तरिन्द्रियों को अपनी समझते हैं, वहाँ भोक्ता बनते हैं। केवल सद्रूप परिच्छिन्न सत् में तादात्म्य कर्तृत्व का जनक है। परिच्छिन्न

चित् में तादात्म्य ज्ञातृत्व का जनक है और परिच्छिन्न आनन्द में तादात्म्य भोक्तृत्व का जनक है। कर्मेन्द्रियों की उपाधि से कर्ता, ज्ञानेन्द्रियों की उपाधि से ज्ञाता और मन-बुद्धि की उपाधि से भोक्ता। सदंश के अज्ञान से कर्तृत्व, चिदंश के अज्ञान से ज्ञातृत्व तथा आनन्दांश के अज्ञान से भोक्तृत्व, यह तीन प्रकार की भ्रान्ति अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के अज्ञान से हो रही है। अतः इस देह में न कर्ता है, न ज्ञाता है, न भोक्ता है। इस देह का ज्ञान मेरा ज्ञान नहीं। देह का कर्म मेरा कर्म नहीं। देह का भोग मेरा भोग नहीं। अपने स्वरूप के ज्ञान से ऐसा अनुभव होता है।

स्वरूप के अज्ञान से यह सारा उपद्रव है। अतः इस अज्ञान को मिटाना अपना कार्य है। अज्ञान ही कारण शरीर है। कारण शरीर में अज्ञान रहता है ऐसा नहीं। जहाँ अज्ञान होता है, वहाँ कार्य-कारणभाव कल्पित होता है। जैसे स्थाणु के अज्ञान से उसमें पुरुष का भ्रम हुआ। यह पुरुष स्थाणु से नहीं, अज्ञान से आया। अज्ञान से उत्पन्न वस्तु सचमुच उत्पन्न नहीं होती, उसका भ्रम होता है। अतः अज्ञान कारण शरीर है अर्थात् शरीर का कारण है तो शरीर की वस्तुत. उत्पत्ति हुई ही नहीं। स्थूल और सूक्ष्म शरीर हम अज्ञानवश मान रहे हैं। इनकी प्रतीति मात्र है और यह प्रतीति व्यावहारिक है। व्यावहारिक का अर्थ यह है कि घड़े में गंगाजल हो तो घड़ा पवित्र और शराब हो तो अपवित्र; किन्तु यह पवित्र-अपवित्रपना व्यावहारिक है। वस्तु सत्य की दृष्टि से घड़ा केवल मिट्टी है।

यहीं एक बात स्पष्ट कर देना है कि अद्वैत ज्ञान के आधार पर व्यवहार चलाने की बात भावुकता है। 'सब में एक ही परमात्मा है, अतः सबसे समान व्यवहार करो।' यह बात सोच-समझकर नहीं कही जाती। अपने शरीर में ही नेत्र, कर्णादि से समान व्यवहार क्या सम्भव है? माता, बहिन, पुत्री, पत्नी से समान व्यवहार कैसे होगा? व्यवहार तो सब भेदज्ञान के आधार पर होता है और तत्त्व अभेद स्वरूप है। व्यवहार विशेष में, सगुण में होता है। निर्गुण में, निर्विशेष में व्यवहार नहीं होता। अतः व्यवहार तो सामाजिक मर्यादा के अनुसार होना चाहिये। पाप-पुण्य, सत्कर्म-दुष्कर्म का निश्चय सामाजिक मर्यादा के अनुसार होता है।

कोई कर्म न स्वरूप से पाप होता है, न पुण्य। जिस व्यक्ति के लिये, जिस अवस्था में जो कर्म विहित है, वह पुण्य और जो अविहित है, वह पाप। जैसे सन्ध्या करना पाप है या पुण्य? यज्ञोपवीतधारी द्विजाति सन्ध्या न करे तो पाप और यज्ञोपवीत-त्यागी सन्यासी के लिये? उसे तो निषिद्ध ही है। इसी प्रकार गृहस्थ समय पर अपनी स्त्रीसे सहवास करे तो पाप नहीं और वही पुरुष सन्यासी हो गया—अब पुरुष वही और स्त्री वही, किन्तु सहवास पाप हो गया। अतः पुण्य-पाप का निश्चय शास्त्र के अनुसार होता है। परमार्थ वस्तु तो निर्विशेष है। उसमें न गुण है, न दोष। शास्त्र के द्वारा अधिकारी के अनुसार गुण दोष का विधान हुआ है और यह सब व्यवहार इस अधिकारी भेद के आधार पर ही चलता है। देश, काल, वय, अवस्था, पात्र, शक्ति के अनुसार

धर्माधर्म की व्यवस्था होती है। कर्म को अच्छा या बुरा अथवा वस्तु को अच्छी या बुरा मानना भूल है। अन्तःकरण में उस कर्म का जो प्रभाव पड़ता है, उसे देखना चाहिये। क्योंकि कर्म तो केवल साधन है। इदमाकार वृत्ति साधनरूपा वृत्ति है और अहमाकार वृत्ति फलरूपा वृत्ति है। यह पुण्य कर्म है इस प्रकार वह कर्म साधन हुआ। कर्म करने पर 'मैंने पुण्य किया, मैं पुण्यात्मा' यह अहमाकार वृत्ति फल हुई। यह सब का सब साक्षीभास्य है। व्यष्टि में से, परिच्छिन्न में से इस अहमाकार वृत्ति को पृथक् करना ही उसे समष्टि के रूप में समग्र विश्व के रूप में अनुभव करना। इस ही समष्टि वैश्वानर हैं।

विश्व के समस्त मनुष्यों-प्राणियों को अनेकों प्रकार से सञ्चालित करने के कारण इसे वैश्वानर कहते हैं। ये जो पृथक्-पृथक् प्राणी प्रतीत होते हैं, ये सब जीवाभास हैं। ये जीव नहीं हैं। जैसे स्वप्न में जो बहुत से प्राणी दीखते हैं, वे जीवाभास होते हैं, वैसे ही ये जीवाभास हैं। इनका सञ्चालन करनेवाला एक वैश्वानर है।

दूसरी व्युत्पत्ति की—यह सम्पूर्ण विश्व ही नर है, यह विश्वनर ही वैश्वानर है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार जैसे 'रक्षस' 'राक्षस' हो जाता है, वैसे ही विश्वनर शब्द वैश्वानर हो गया।

यह जितने पिण्ड-शरीर हैं, उनमें आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं है। आत्मा एक ही है। जैसे सब घटाकाश महाकाश से एक हैं, वैसे ही सबके सब जीव वैश्वानर विश्वात्मा के भीतर ही हैं। अलग-अलग दीखने पर भी सब वही है। यह वैश्वानर प्रथम पाद है। गणना कारण की ओर से होनी चाहिये थी और तब प्रथम तुरीय फिर प्राज्ञ, तैजस के क्रम से विश्व तक आना था, किन्तु जहाँ हमको पहुँचना है, वहाँ से गणना प्रारम्भ नहीं होती। जहाँ से हम चलते हैं, वहाँ से गणना प्रारंभ होती है।

पहले इस विश्व को समझ लेने पर ही इसके आगे तैजस समझ में आवेगा, इसलिए विश्व को प्रथम समझना आवश्यक है। इसको प्रथम पाद कहने का यही कारण है। परमात्मा की ओर यह प्रथम चरण रखना है। देह को छोड़कर विश्वात्मा में आना, यह हुआ प्रथम पाद।

अब शंका करते हैं कि मूल प्रसङ्ग तो था 'अयमात्मा ब्रह्म' अपनी आत्मा ही ब्रह्म है और फिर उस प्रत्यगात्मा के चतुष्पादपने का वर्णन प्रारम्भ कर के उसमें द्युलोक को मूर्धा, आकाश को मध्यभाग, सूर्य को नेत्र—इस प्रकार सप्ताङ्ग बताने लगे। यह द्युलोक, आकाश, सूर्यादि जो प्राकृत हैं, इन्हें आत्मा का अङ्ग बतलाने लगे। यह कैसे?

यह दोष नहीं है। एकजीववाद की प्रक्रिया को समझने के लिये यह आवश्यक है कि देह को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, ऐसा विचार किया जाय। एकजीववाद में परोक्षसत्ता नहीं मानी जाती। अज्ञात पदार्थ कुछ नहीं है। जो है, सब ज्ञात है।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

अतः यदि लय करना है तो वाणी से सूचित समस्त इन्द्रियों को मन में लय करो। मन न हो तो इन्द्रियाँ रहेंगी ? कोई इन्द्रिय नहीं रहेगी। अतः मन से भिन्न इन्द्रिय नहीं हैं, यह मन में इन्द्रियों का लय हुआ।

मन को ज्ञान में लीन करो। मन क्या है—संकल्प-विकल्प रूप स्फुरणा ही तो मन है। जितना सकल्प-विकल्प होता है, सब ज्ञात वस्तु का ही होता है, अज्ञात का तो होता नहीं। सकल्प सदा सविषयक होगा। जहाँ बुद्धि नहीं ज्ञान नहीं, वहाँ मन नहीं। अतः ज्ञान से भिन्न मन कुछ नहीं है।

ज्ञान क्या है ? पृथक् पृथक् शरीरों में जो बुद्धि है, वह समष्टि बुद्धि से भिन्न नहीं है। समष्टि बुद्धि का अर्थ है महत्तत्त्व। यदि समष्टि में बुद्धि न होती तो पृथक्-पृथक् शरीरों में ज्ञान कहाँ से आता ? अतः ज्ञान को महदात्मा में लीन करना चाहिये।

सम्पूर्ण संकल्प और सम्पूर्ण विशेष बुद्धियों को शान्त करके जब हम अपने आप में बैठते हैं, तब दीखता है कि अपना आपा कितना विशाल है। यह ईश्वर है, यह जीव है, यह जगत् है, यह सब जिसने कहा वह मैं हूँ।

ईश्वरास्तित्व निर्णेता त्वं ततोऽसि महेश्वरः ।
गुरोर्योग्यत्व निर्णेता त्वं ततोऽसि गुरोर्गुरुः ॥

ईश्वर है, यह निर्णय किसने किया ? हमने। ये गुरु बनाने योग्य हैं, इस प्रकार गुरु की योग्यता का निर्णय किसने किया ? हममें यह पशुत्व तो तब आता है जब अस्थि, मांस, चर्म के देह के साथ अपने 'मैं' को बाँधकर बैठते हैं।

अतएव द्युलोक को मूर्धा, पृथ्वी को पैर, जल को मूत्रस्थान, अग्नि को मुख, वायु को श्वास, सूर्य को नेत्र, आकाश को मध्यदेह बतलाना दोष नहीं है। यह सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, यही प्रथमपाद है। यह परमात्मा को पाने का प्रथम प्रयास है।

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च आधिदैविक है। इसके प्रत्येक पदार्थ के अधिष्ठाता देवता हैं। वाणी का अधिदेवता अग्नि, नेत्र का अधिदेवता सूर्य, इस प्रकार समस्त पदार्थों के अधिदेवता हैं। इस प्रकार इस आधिभौतिक प्रपञ्च को आधिदैविक जगत् सहित आत्मा ने चतुष्पाद रूप में कहा है। केवल एक देह की दृष्टि से आत्मा चतुष्पाद नहीं है।

पंचीकृत पंचमहाभूत और उसका कार्य जगत् विराट् का शरीर है। अतः यह विश्वात्मा-वैश्वानर विराट् से पृथक् नहीं है। सम्पूर्ण आकाश विराट् का शरीर है तो आकाश में जो शरीर हैं, वे विराट् के शरीर से भिन्न कैसे होंगे ! सूर्य-चन्द्र विराट् के

नेत्र हैं और विराट् की आत्मा हमारी आत्मा है, अतः विराट् के नेत्र सूर्य-चन्द्र हमारे नेत्र हैं। इस प्रकार विराट् पुरुष का वर्णन हमारा ही वर्णन है।

इस प्रकार अपने को पहले विराट् से एक मानकर तब दूसरे पाद के रूप में हिरण्यगर्भ को अपना स्वरूप, तृतीयपाद के रूप में अव्याकृत को अपना रूप और चतुर्थपाद के रूप में तुरीय अनन्त आनन्द रूप में अवस्थिति हो जाने से समस्त प्रपञ्च का उपशम होकर अद्वैत भाव की सिद्धि हो जायगी।

इस स्थूल देह, इसके अन्तःकरण और कारण शरीर को मेरा मानते रहने से तो प्रपञ्च बना रहेगा। किन्तु सम्पूर्ण विश्व को अपना स्थूल शरीर, समष्टि सूक्ष्म को अपना सूक्ष्म शरीर, सम्पूर्ण कारण को अपना कारण शरीर मानने से प्रपञ्च का उपशम होकर तुरीय तत्त्व में स्थिति होजायगी। अद्वैतावस्था प्राप्त होजायगी।

आभासवाद में तीन सत्ता मानते हैं—१-व्यावहारिक २-प्राति भासिक ३-पारमार्थिक। अलग-अलग शरीर और उनमें अलग-अलग मन, बुद्धि, जीव, यह व्यावहारिक सत्ता है।

दृष्टिसृष्टिवाद में केवल दो सत्ता मानते हैं—१-प्रातिभासिक २-पारमार्थिक। व्यावहारिक सत्ता कोई वस्तु नहीं है। ये अलग-अलग शरीर, मन, बुद्धि, जीवादि केवल प्रतीत होते हैं, ये व्यवहारिक नहीं हैं, प्रातिभासिक हैं। स्वप्न के दृश्यों के समान ही जाग्रत् में जगत् का भी दृश्य प्रतीतिमात्र है। जैसे स्वप्न का सारा व्यवहार बिना किये प्रतीत होता है, वैसे ही समष्टि का सारा व्यवहार भी बिना किये प्रतीत हो रहा है। तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धक द्वैत के उपशम होने पर ही अद्वैत की—'मैं परिपूर्ण ब्रह्म हूँ' इसकी अनुभूति होती है।

यह मनुस्मृति का वचन भाष्य में उद्धृत किया गया है। मनुस्मृति में आया है—

'सर्वं भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥'

यह दृश्यमान सृष्टि क्या है? यह भूतों की सृष्टि है। जैसे श्मशान में भूत-प्रेत नाचते दीखें, वैसे ही यह दीखता भर है। ये जितने भूत-प्राणि-पदार्थ दिखाई पड़ रहे हैं, इनमें सर्व रूप से एक मैं ही हूँ और ये सब के सब प्राणि पदार्थ मुझ में ही हैं। सब मुझ में हैं, सब में हूँ। इससे एकत्व हो गया। इसका यह भी अर्थ हुआ कि विश्व और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं—

'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।'

ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण विश्व है। आत्मा ही पूरा विश्व है।

जो ऐसा देखते हैं, वह परिच्छिन्न आत्मा का यजन कर देता है। यह बात गीता में भी आयी है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

'तत्' पदार्थ सर्व में अनुस्यूत है । 'त्व' पदार्थ भी व्याप्त है । अतः 'तत्' तथा 'त्व' पदार्थ का एकत्व सिद्ध हो गया ।

अब भाष्यकार श्रुति प्रमाण दे रहे हैं । यह ईशावास्योपनिषद् की श्रुति है—

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।'

भूत शब्द का अर्थ है, चराचर रूप से जो कुछ प्रतीत हो रहा, वह सब, क्योंकि भूत शब्द पंचभूतों का और प्राणियों का भी वाचक है । अतः यह जीव-अजीव सृष्टि जितनी भी प्रतीत हो रही है, उसे जो अपने में देखता है—जैसे स्वप्नसृष्टि अपने में-द्रष्टा में होती है, वैसे ही यह सृष्टि भी अपने में ही प्रतीत हो रही है ।

ततो न विजुगुप्सते

जिसने ऐसा जान लिया उसे किससे ग्लानि होगी ? किसके प्रति संशय होगा ? शरीर में जो केश, नख, कफ, मूत्रादि हैं, वे शरीर में हैं तब तक तो उनसे घृणा होती है । इसका अर्थ हुआ कि हम जिस वस्तु को अपने से बाहर कर देते हैं, वह अपवित्र हो जाती है । लेकिन जब अपने से बाहर कुछ है ही नहीं, अपने से भिन्न किसी की सत्ता ही नहीं तब अपवित्रता, घृणा, गन्दगी तुम्हारा स्पर्श कैसे कर सकेगी ? जब तुम अपने से किसी को भिन्न समझोगे, तभी वह तुम को काटेगी मारेगी ।

'ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद ।
क्षत्र तं परादाद्' इत्यादि ।

ब्राह्मण को जो अपने से भिन्न समझता है, ब्राह्मण उसका शत्रु है । क्षत्रिय को जो अपने से भिन्न समझता है, क्षत्रिय उसका दुश्मन है । अपने से पृथक् जो सत्ता होगी, वह यही चाहेगी कि यह न रहे । तुम चाहोगे दूसरी वस्तु रखकर उसे उपभोग्य बनाना । इसीलिये लोभ बढ़ता है । 'संसार का सब धन मेरे पास आजाय ।' लेकिन भेद दृष्टि में लोभ कभी पूरा नहीं होगा । वह सदा अपूर्ण रहेगा और एकत्वदर्शी पूर्ण है । कोई वस्तु कहीं रहे, कहीं जाय, वह तो उसमें ही स्थित है । उसके लिए मोह कहाँ ? यह मोह और शोक मनके खेल हैं और भेद दर्शन से आते हैं ।

'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।'

एकत्व दृष्टि हो गयी तो कहाँ मोह, किसका शोक ? यदि सम्पूर्ण दृश्य जगत् में एक ही आत्मा का बोध होगा तो—

ऐसी अवस्था में अपने शरीर से परिच्छिन्न ही प्रत्यगात्मा को देखोगे ।

वस्तुतः शरीर से परिच्छिन्न कोई वस्तु नहीं है । क्या जन्म के साथ जो मिट्टी

शरीर में थी, वह शरीर में है ? वह तो पता नहीं कब की निकल चुकी। प्रतिदिन नवीन-नवीन मिट्टी शरीर में प्रवेश कर रही है। इसी प्रकार शरीरस्थ जल, उष्णता, वायु आदि बाहर निकलते हैं और बाहर से प्रतिक्षण शरीर में आ रहे हैं। शरीर का प्रत्येक तत्त्व समष्टि से एक है। जैसे चौका अलग करने के लिये कोयले से एक रेखा खींच लेते हैं, वैसे ही मन से एक रेखा खींच ली है 'यह मेरा शरीर, यह मैं,' लेकिन यह रेखा सर्वथा मन की कल्पित है। मन की कल्पित रेखा को सत्य मानकर यदि तुम स्वदेह परिच्छिन्न प्रत्यगात्मा को देखोगे तो उपनिषद्-सिद्धान्त तुम्हारी बुद्धि में नहीं आवेगा। यहाँ तो सांख्यादि के समान मानना होगा। उपनिषद् का सिद्धान्त है आत्मा का एकत्व। अपौरुषेय ज्ञान के द्वारा यह बात प्राप्त हुई है कि आत्मा एक है।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि श्रुति का तात्पर्य आत्मा का एकत्व है, यह बात तो केवल शांकरसिद्धान्त की है। रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्कादि अन्य आचार्य तो ऐसा नहीं मानते। अतः यह बात तो एक सम्प्रदाय विशेष की हुई। इसमें देखने की बात यह है कि न्यायकर्ता महर्षि गौतम, वैशेषिक के आचार्य कणाद, पूर्वमीमांसा के आचार्य जैमिनि, योगाचार्य पतञ्जलि, सांख्याचार्य कपिल जब अपने मतों की पुष्टि के लिये वेदान्त-दर्शन अर्थात् भगवान् व्यास के उत्तरमीमांसा का खण्डन करते हैं। क्योंकि अन्य दर्शनों के मतों का निराकरण किये बिना न्याय आदि किसी भी दर्शन की पुष्टि तो नहीं। अतः प्रत्येक दर्शन को दूसरे सब दर्शनों के मतों को पूर्वपक्ष बनाकर उनका खण्डन करना पड़ता है। इस प्रकार इन दर्शनाचार्यों ने वेदान्त-दर्शन का क्या सिद्धान्त मानकर उसका खण्डन किया, यह हम देखें तो वेदान्त के सिद्धान्त का ठीक पता लग जायगा। इस प्रकार देखेंगे तो सभी दर्शनाचार्यों ने वेदान्त का सिद्धान्त आत्मा और ब्रह्म की एकता मानकर ही उसे पूर्वपक्ष बनाया है।

जो दर्शन जिसका प्रतिपादन करने चला है, उस विषय में उसी दर्शन का मत प्रामाणिक है। प्रमाण के प्रतिपादन में न्याय दर्शन, विशेष के प्रतिपादन में वैशेषिक दर्शन, आत्मा अनात्मा के विवेक में सांख्यदर्शन, मन की एकाग्रता के प्रतिपादन में योगदर्शन, धर्मानुष्ठान में पूर्वमीमांसा दर्शन, उपासना में देवर्षि नारद तथा शाण्डिल्य के भक्तिदर्शन प्रमाण हैं। इसी प्रकार सत्य वस्तु के प्रतिपादन में भगवान् व्यास का उत्तरमीमांसा दर्शन (वेदान्त) प्रमाण है।

अतः तत्त्व के प्रतिपादन में वेदान्त ही प्रमाण है। और वेदान्त की यह बात ध्यान में बैठा लेनी चाहिये कि 'एक के ज्ञान से ही सबका ज्ञान होगा।' यदि जगत् के मूल में एक ही वस्तु न हो तो एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे होगा?

'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'

जिसके देखने, सुनने, समझने पर सब देखा, सुना, समझा हो जाता है, वह

अपना आत्मा ही है। क्योंकि वह हम न हों, दूसरा हो तो वह एक नहीं हो सकता। तब तो 'वह' और उसे मानने वाला 'मैं' यह दो हो जायेंगे। अतः वह अपना आत्मा ही है।

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।'—ब्रह्मसूत्र

प्रतिज्ञा और दृष्टान्त को देखते हुये प्रकृति भी ब्रह्म ही है। प्रतिज्ञा तो है कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है और दृष्टान्त है मिट्टी या सोने का कि जैसे मिट्टी के सब विकार मिट्टी को जानने से जान लिये जाते हैं अथवा सोने के सब विकार सोने को जानने से जान लिये जाते हैं। इस दृष्टान्त का उपरोध न हो—इससे ब्रह्म ही उसका उपादान कारण है, यह बात निश्चित करनी पड़ेगी। अतः परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

यदि उपनिषद् का सिद्धान्त भी भेद प्रतिपादक ही मानें तो सांख्य आदि दर्शनों से उसमें कोई विशेषता नहीं रह जायगी। फिर वेदान्त-दर्शन की पृथक्ता का प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

सम्पूर्ण उपनिषदों का सर्वात्मैक्य प्रतिपाद्यत्व ही अभीष्ट है। योगदर्शन और सांख्यदर्शन केवल 'त्व' पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं और भक्तिदर्शन केवल परमात्मा का—'तत्' पदार्थ का प्रतिपादन करता है। लेकिन केवल परमात्मा के ज्ञान या केवल आत्मा के ज्ञान से अद्वैत ज्ञान नहीं होगा। इसलिये उपनिषद् आत्मा या परमात्मा के प्रतिपादक नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा के एकत्व के प्रतिपादक हैं। क्योंकि आत्मा और परमात्मा के एकत्व के ज्ञान के बिना अविद्या-निवृत्ति नहीं होगी।

इसलिये यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि इस देह को 'मैं' मानने वाला जो इसके भीतर अध्यात्मपुरुष बैठा है, उस का द्युलोक सिर है, पृथ्वी पैर है, आदि सप्तांग कहकर विराट् से एकत्व सूचित करके समष्टि का अभिमानी सूचित किया। समष्टि के अभिमानी से उसका एकत्व बतलाया। अब इस विषय में प्रमाण देते हैं।

'तुम्हारा सिर कट कर गिर जायगा।' यह वक्ता (याज्ञवल्क्य) ने कहा। इसमें वक्ता का तात्पर्य सिर कट कर गिरने से नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'तुम्हें स्वर्ग नहीं मिलेगा।' अतः सिर द्युलोक है,-यह बात यहाँ भी उपनिषद् के वक्ता ने सूचित की है।

विश्वका विराट् के साथ यहाँ जो एकत्व का प्रतिपादन है, तैजस के साथ हिरण्यगर्भ का और प्राज्ञ का अव्याकृतात्मा के साथ एकत्व का वर्णन है, यह अलग-अलग नहीं है। यह तो पृथक्-पृथक् अभिमान को नष्ट करने के लिए है। देहाभिमान नष्ट करने के लिए विश्वाभिमान, सूक्ष्मदेह का अभिमान अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्व के अभिमान को नष्ट करने के लिए हिरण्यगर्भ से तैजस का एकत्व और व्यष्टि के अहंकार को दूर करने के लिए प्राज्ञ का अव्याकृत आत्मा से एकत्व बताया है।

यह उपनिषद् की विशेष प्रणाली है कि सर्वत्र उपाधि को पृथक् करके निर्विशेष की एकता का प्रतिपादन करते हैं। निर्विशेष एक ही होता है। जहाँ एक से दूसरे का भेद होगा, वहाँ किसी विशेषता को लेकर ही भेद होगा। एकत्व होता है वहाँ जहाँ दोनों में पृथक् गुण-धर्म की विशेषता नहीं होती।

अब ग्रन्थ में विश्व और विराट् की एकता बतलायी। जाग्रत् अवस्था का अभिमानी विश्व और समष्टि की सृष्टि-अर्थात् सम्पूर्ण जाग्रत् का अभिमानी विराट्। अत जब विश्व और विराट् को एक कहते हैं तो विश्व का अर्थ परिच्छिन्न देह का अभिमानी नहीं होता। विश्वका अर्थ है विराट्। चेतन की दृष्टि से उसे विराट् कहते हैं और जड़ की दृष्टि से सामान्य लोग उसे विश्व कहते हैं। प्रकृति की दृष्टि से जिसे महत्तत्व कहते हैं, चेतन की दृष्टि से उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। प्रकृति की दृष्टि से जिसे अव्याकृत कहते हैं, चेतन की दृष्टि से बोलने पर उसी को ईश्वर कहेंगे।

ईश्वर के विषय में हम सोचते हैं कि इस शरीर में इसके अभिमानी बनकर बैठे हम तो जीव हैं और सम्पूर्ण विश्वका सञ्चालक ईश्वर कहीं सातवें आसमान में बैठा है, किन्तु यह विचार भ्रान्त है। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर इसी शरीर म विद्यमान है। जो वस्तु जहाँ न हो, वहाँ तो वह किसी क्रिया से बनायी या लायी जायगी, किन्तु वहाँ हो और हम पहिचानते न हों तो ज्ञान से-पहिचान से उसकी प्राप्ति होगी। अत ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से मानी जाती है। देह में अन्तर्यामी रूप से ईश्वर है। जहाँ देह है, वहीं विश्व है और जहाँ विश्व है, वहीं विराट् है। महत्तत्व-समष्टि बुद्धि देह में भी है क्योंकि समष्टि से कोई व्यष्टि पृथक् रह नहीं सकता। अत हिरण्यगर्भ भी यहीं है। अव्याकृत प्रकृति भी इस शरीर में है, तब ईश्वर भी हैं ही। इन सब का निषेध भी होने से ब्रह्म भी यहीं है। तात्पर्य यह कि विराट्, हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी और ब्रह्म अन्य देश में मानने से सब के सब देशपरिच्छिन्न हो जायँगे। ये यहाँ हैं तो इनकी उपलब्धि भी यहीं होती है।

यह विश्व और विराट् का एकत्व उपलक्षण है। उपलक्षण का अर्थ है सङ्केत-तैजस और हिरण्यगर्भ तथा प्राज्ञ और ईश्वर के एकत्व का यह संकेत है।

कुल तीन ही अवस्थायें हैं। समाधि का अन्तर्भाव सुषुप्ति म ही है। समष्टि की सुषुप्ति का ही नाम महाप्रलय है। तुरीय-अवस्था नहीं, वह तो तत्त्व है। वह तीनों अवस्था नहीं, वह तो तत्त्व है। वह तीनों अवस्थाओं में व्याप्त है। जो लोग सुषुप्ति का अज्ञान में लय मानते हैं, उनके लिये यह प्रश्न बन जाता है कि ब्रह्मज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हो गया, उसकी सुषुप्ति में लय कहाँ होता है?

जीवन्मुक्त की सुषुप्ति तुरीयावस्था है। जीवन्मुक्त का भाषण शास्त्र है। उसका आचरण धर्म है। मनोराज्य भगवल्लीला है और उसका स्वरूप ब्रह्म है। व्यवहार का मूल

भेद ज्ञान है। अभेद ज्ञान न प्रवर्तक है, न निवर्तक। क्योंकि सब एक ही है तो 'यह करो, यह न करो' को अवकाश कहाँ है? अज्ञानी का धर्माधर्म कर्तृत्वपूर्वक होने से फलोत्पादक है और ज्ञानी का आचरण कर्तृत्वपूर्वक नहीं होनेसे फलोत्पादक नहीं है।

'दोषबुद्धयोभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥'
—श्रीमद्भागवत

ज्ञानी पुरुष निषिद्ध कर्म नहीं करता, किन्तु निषिद्ध कर्म करने में दोष है, यह समझ कर उसका त्याग नहीं करता और विहित कर्म करता है, किन्तु विहित कर्म करने में गुण है —पुण्य है, ऐसा मानकर उसे नहीं करता। बालक के समान ज्ञानी की सहज प्रवृत्ति होती है।

'यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥—श्रीमद्भागवत

छोटे बड़े सब प्राणियों में पचभूत प्रविष्ट दीखते हैं— पर प्रविष्ट नहीं भी हैं। क्या शरीर बनने पर उसमें मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश प्रविष्ट हुए? नहीं, वे तो पहले से थे। शरीर तो उनमें ही एक आकृतिमात्र बना। अतः परिच्छिन्न देह को पाच— भौतिक दृष्टि से पचमहाभूतों से एक कर दो। अब पचभूतों का अभिमानी पृथक् और उन में किसी एक आकृति का अभिमानी पृथक् रहेगा क्या? इस प्रकार स्थूल देह को समष्टि के साथ एक करने से अभिमानी का एकत्व भी प्रतिपादित हो जाता है।

यहाँ मधुब्राह्मण उद्धृत करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् का एक अश मधुब्राह्मण है। 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु।' यह श्रुति कहती है कि यह पृथ्वी सम्पूर्ण प्राणियों का मधु है अर्थात् जीवों के समष्टि प्रारब्ध से पृथ्वी बनी है। जीवों का प्रारब्ध दो प्रकार का होता है–समष्टि प्रारब्ध और व्यष्टि प्रारब्ध। यह शरीर, शरीर का रग-रूप, सुख-दु:ख व्यष्टि प्रारब्ध से बने हैं और पृथ्वी, नदियाँ, पर्वत ऋतुएँ आदि समष्टि प्रारब्ध से बनी हैं।

व्यवहार में कर्म अनादि प्रवाह रूप से नित्य है। कर्म के फल से संस्कार होता है, संस्कार से वासना होती है और वासना से फिर कर्म होता है। कर्म में अपना कर्तृत्व मानने से हम उसका फल भोगने के लिये बँधते हैं। सृष्टि अनादि प्रवाह रूप से चल रही है। इसमें से 'मैं' को उठा लो और छूट जाओ।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।

किसी भी वस्तु को 'अहं' रूप से ग्रहण करना जन्म है [illegible] व्य के उपलब्धि के स्थानों में जो द्रव्य की उपलब्धि की योग्यता रहती है, [illegible] रण से उसमें अत्यन्त विस्मृति अर्थात् पूर्व शरीर का सर्वथा विस्मरण मृत्यु है। [illegible] में भोग देने

वाला प्रारब्ध समाप्त होगया और दूसरे देह में भोग देने वाले प्रारब्ध का अभी उदय नहीं हुआ, इतना ही समय मृत्यु का है ।

'तत् पञ्चत्वमहम्मानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ।'—श्रीमद्भागवत

अहम् के रूप में किसी द्रव्य को देखना उत्पत्ति है । इसीका नाम जन्म है । यदि द्रव्य में सत् बुद्धि होगी तो उपादेय बुद्धि भी होगी और तब उसके साथ अहंता भी होगी । अतः जब ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान होगा, तभी इस प्रपञ्च की निवृत्ति होगी । क्योंकि तब प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने से उससे 'अहम्' भाव छूट जायगा ।

मधुब्राह्मण ने कहा कि पृथ्वी सबकी बनायी है—सबके प्रारब्ध से बनी है और सब प्राणी पाञ्चभौतिक होने से पृथ्वी के बनाये हैं । इस पृथ्वी में जो तेजोमय पुरुष है, वह अमृतमय है और शरीर में जो अध्यात्म पुरुष है, वह भी तेजोमय, अमृतमय है । अतः शरीर में रहने वाला पुरुष—आत्मा और पृथ्वी में समष्टि में रहने वाला पुरुष ब्रह्म ये दोनों एक हैं । यह पृथ्वी और शरीर दोनों न तेजोमय हैं, न अमृतमय हैं । ये परतः प्रकाश्य हैं । अतः ज्ञान के विषय मात्र हैं—विनाशी हैं । अतः दृश्य होने से—विकारी होने से—परप्रकाश्य होने से समष्टि रूप पृथ्वी और शरीर मिथ्या हैं ।

चौथा मन्त्र

आत्मा का द्वितीय पाद–तैजस

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञानेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय" (बृ० उ० ४।३।९) इति। तथा "परे देवे मनस्येकीभवति" (प्र० उ० ४।२) इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" (प्र० उ० ४।५) इत्याथर्वणे।

इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तः–प्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयःपाद–स्तैजसः ॥ ४ ॥

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात् सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्। अथ वा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—

हम देह नहीं हैं, व्यष्टि नहीं हैं, विराट् हैं। सम्पूर्ण विश्व हमारा शरीर है। यह परमात्मा की प्राप्ति की ओर प्रथम पाद था। अब दूसरा पाद उठावें। दूसरा पाद है स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म में चलना।

यदि स्थूल ही व्यष्टि नहीं है, तो सूक्ष्म व्यष्टि है यह बात तो अपने आप समाप्त हो गयी। भेद की अधिक सम्भावना स्थूल में ही रहती है। सूक्ष्म मन का आधार स्थूल स्थूल आकाश का आधार सूक्ष्म मन होगा! स्थूल का आधार सूक्ष्म होता है, सूक्ष्म का आकाश होगा या आधार स्थूल नहीं हो सकता।

उपाधि की अनेकता से द्रष्टा अनेक होगा या नहीं? उपाधि की अनेकता से प्रमाता तो अनेक हो जायगा, किन्तु द्रष्टा अनेक नहीं होगा। अब विचार करो कि अन्त:करण की उपाधि देश में है या काल में। देशकी कल्पना ही अन्त:करण में है। जब अन्त:करण है, तब लम्बाई-चौड़ाईरूप देश भासता है। सुषुप्ति में देश कहाँ प्रतीत होता है? स्वप्न में जैसे अन्त:करण आकाश की सृष्टि कर लेता है, वैसे ही जाग्रत् में भी आकाश की सृष्टि इसी ने की है। अर्थात् यह स्वयज्योति है। अतः मन में आकाश है, आकाश में मन नहीं है।

यह स्थूल शरीर मन में है या शरीर में मन है? शरीर आकाश के एक भाग में है और आकाश मन में है तो शरीर भी मन में है। स्वप्न में हम जो अपना शरीर और पूरा संसार देखते हैं, वह सब मन में ही तो होता है। इसी प्रकार जाग्रत् का शरीर और ससार भी मन ही है। इस शरीर में जो मन प्रतीत हो रहा है, वह अन्त:करणाभास है। इस देह में जो जीव प्रतीत हो रहा है, वह जीवाभास है। यही परमात्मा की ओर दूसरा पाठ उठाना है कि सम्पूर्ण सूक्ष्म समष्टि मेरा सूक्ष्म शरीर है और उसका अभिमानी तैजस मैं हूँ।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन कार्यालय के समान पृथक्-पृथक् स्थान हैं। इनमें से जाग्रत् तो दूकान के समान है। कर्म करो और उस कर्म का फल प्राप्त करो। स्वप्न प्रयोगशाला के समान है। वहाँ हम प्रयोगशाला के समान धरती, आकाशादि सब बना लेते हैं और नाना प्रकार के अनुभव करते हैं। जाग्रत् में हम जो कुछ देखते सुनते हैं, मन पर उसका संस्कार पड़ता है और उसी के अनुसार हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न संस्कार-जन्य है। लेकिन जाग्रत् भी संस्कार जन्य ही है। पूर्व जन्म के संस्कार ही हम इस जन्म में जाग्रत् में देख रहे हैं। स्वप्न और जाग्रत् दोनों वासनात्मक हैं। इस तैजस के रहने का स्थान स्वप्न है। सुषुप्ति तीसरा स्थान है। यह सोने की — विश्राम करने की स्थली है। विश्राम के लिये हम वहाँ पहुँचते हैं।

जाग्रत् की प्रज्ञा—बुद्धि के पास अनेक साधन हैं। नेत्र, कर्ण, नासिकादि इन्द्रियाँ उसके साधन-करण हैं। ये सब साधन बाह्य विषयों को भी प्रकाशित करते-ग्रहण करते हैं।

यह निरूपण जाग्रत् को स्वप्न और स्वप्न को जाग्रत् के समान समझाने के लिये है। जाग्रत् स्थूल है और स्थिर भासता है और स्वप्न स्थिर नहीं भासता, इतना ही वैधर्म्य इन दोनों में है। जाग्रत् में बुद्धि बाह्य पदार्थों को विषय बनाती प्रतीत होती है।

'मनः स्पन्दनमात्रा' लेकिन यह बाह्य प्रज्ञा मन का स्पन्दन रूप ही है। 'मन. स्पन्दनमात्रा.' का तात्पर्य है कि बाह्य विषय कोई पदार्थ नहीं हैं, वे मन की स्फुरणा मात्र हैं। जाग्रत् का ज्ञान भी मन की स्फुरणा ही है यह अवधारणा है। इसी प्रज्ञा का मन पर संस्कार पड़ जाता है। जो अपने समय में अपने को जाग्रत् दिखावे, वह स्वप्न है। यह

स्वप्न दम्भावस्था है, क्योंकि जैसा है उससे भिन्न अपने को दिखाती है। इस समय जाग्रत् है, वह भी तो ऐसी ही अवस्था है। वह भी स्वप्न के समान ही है।

जाग्रत् अवस्था में हम जो कर्म करते हैं, उसके संस्कार मन पर पड़ जाते हैं। वही स्वप्न में दिखलायी देते हैं। जैसे कोई कपड़े को रँग दे, इसी प्रकार मन संस्कारों से रँगा हुआ स्वप्न में प्रतीत होता है। लेकिन ये संस्कार इसी जन्म के नहीं होते। पूर्व जन्म के भी संस्कार होते हैं। इसीलिये स्वप्न में ऐसी बातें भी दीखती हैं जो इस जन्म में देखी-सुनी नहीं हैं। स्वप्न में संस्कारों का असम्बद्ध मेल भी हो जाता है। जैसे मनुष्य के शरीर पर हम घोड़े का सिर देखते हैं। स्वप्न में उन कर्मों का फलभोग भी हो जाता है, जिनमें जाग्रत् में फल देने जितनी शक्ति नहीं होती। इस प्रकार स्वप्न भी जाग्रत् के समान ही है और यहाँ भी कर्मफल का भोग प्राप्त होता है। सत्त्वगुण प्रधान जाग्रत् अवस्था, रजोगुण प्रधान सुषुप्तावस्था भी कुछ लोग मानते हैं। आयुर्वेदज्ञ वात-पित्त-कफ की प्रधानता से तीनों अवस्थायें मानते हैं और स्वप्न को पित्त प्रधान मानकर फिर उसमें भेद करते हैं कि यदि स्वप्न में जल दीखे तो कफ की, अग्नि दीखे तो पित्त की और अपने को उड़ते देखें तो वात की वृद्धि समझनी चाहिये। शकुन-शास्त्र भी स्वप्न के फल का विचार करते हैं।

यह सब वेदान्त-विचार का विषय नहीं है। स्वप्न किसने दिया, उसका क्या फल होगा आदि हमारे विचार के विषय नहीं हैं। विचार का विषय यह है कि जिस देश-काल में, जिस रूप में स्वप्न दिखायी देता है, वह देश-काल-वस्तु सत्य नहीं हैं। वे जगत् में नहीं हैं। स्वप्न 'बाह्यसाधनानपेक्ष' है। उसमें जो वस्तुएँ हैं, जो कार्य दीखते हैं वे इस जगत् के किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखते। स्वप्न का घड़ा यहाँ की मिट्टी से नहीं बना और स्वप्न में जो अग्नि लगी दीखती है, उसे यहाँ के दमकल बुझा नहीं सकते। अविद्या, काम और कर्म इन तीनोंका ही नाम संसार चक्र है। अविद्या सबके मूल में बैठी रहती है। कामना से कर्म और कर्म से फिर कामना, यही चक्र है।

धार्मिक कहते हैं कि धर्म को शुद्ध कर दो तो कर्म शुद्ध होने से वासना शुद्ध होकर परमात्मा की प्राप्ति हो जायगी। उपासक कहते हैं कि वासना को शुद्ध करो—भगवत्प्राप्ति की वासना करो। इससे कर्म शुद्ध होंगे, कर्म शुद्ध होने से संस्कार शुद्ध होंगे और भगवत्-प्राप्ति हो जायगी। योगी चित्तवृत्ति-निरोध करने को कहते हैं। समाधि से संस्कार अत्यन्त अभिभूत हो जायँगे। अत वासना और कर्म-प्रवृत्ति क्षीण हो जायगी। वेदान्त कहता है कि मूलमें बैठी अविद्या जब तक निवृत्त नहीं होगी, तब तक संसार-चक्र से छुटकारा नहीं मिलेगा।

अविद्या क्या है? अपने स्वरूप से भिन्न अन्य को मानना अविद्या है। अपने से भिन्न मानते ही उसमें हेय उपादेय बुद्धि होगी और तब यह चाहिये—यह नहीं चाहिये,

ऐसी कामना होगी और कामना के अनुसार कर्म होंगे। कामना के अनुसार प्रयत्न-कर्म होगा तो उस कर्म का संस्कार भी अन्तःकरण पर पड़ेगा ही। इस प्रकार जब तक अन्य की प्रतीति होगी, संसार नहीं छूटेगा। अविद्या, काम और कर्म से मनुष्य प्रेरित हो रहा है। इन्हीं की प्रेरणा से स्वप्न की सृष्टि जाग्रत् के समान प्रतीत होती है।

एक दम बचपन में कोई वस्तु देखी थी। वर्षों तक उसका स्मरण नहीं आया। सहसा वह स्मरण आती है और स्वप्न में दीखती है अथवा स्वप्न में दीखती है, तब स्मरण आती है। वह स्मृति इतने वर्ष कहाँ थी? जैसे आप टेप रेकार्ड में देखें तो कुछ दीखेगा नहीं, किन्तु मशीन पर चढ़ाने पर रेकार्ड में भरे शब्द निकलने लगते हैं, ऐसे ही हमारे भीतर देखे, अनुभव किये विषयों के इस जन्म के और पिछले जन्मों के संस्कार छिपे पड़े हैं। माता-पिता-पितामह आदि के संस्कार भी इन्हीं के साथ हैं। इनमें से कोई कभी स्वप्न में निकल आवे, यह सर्वथा सम्भव है। ऐसा भी होता है कि आज जो वसिष्ठ, भारद्वाज आदि गोत्र में हैं, उनमें उन ऋषियों के ज्ञान का कोई बीज आ गया हो। अब तक जो परम्परा उन तक आयी, उसमें कोई संस्कार सुप्त रूप में लाखों वर्ष से चलता आया और सहसा जाग पड़ा। अतः स्वप्न में कहाँ तक वर्तमान संस्कार हैं और कहाँ तक पूर्व जन्म या पूर्व पुरुषों के संस्कार, यह निर्णय असम्भव है।

स्वप्न विवर्त है अर्थात् है नहीं, किन्तु संस्कार से प्रतीत हो रहा है। यह जाग्रत् भी विवर्त है, क्योंकि एक अद्वय तत्व में संस्कार के कारण प्रतीत हो रहा है। इसीलिये कहा कि स्वप्न जाग्रत् के समान प्रतीत हो रहा है।

यहाँ श्रुति उद्धृत की आचार्य ने। 'सर्वा' का अर्थ है साधन सम्पत्ति, उससे जो युक्त है, वह हुआ 'सर्वावान्'। समस्त साधनों से युक्त जो यह लोक है—यह देह है—जिसमें नेत्रादि इन्द्रिय हैं, शब्दादि विषय हैं, इन सबकी मात्रा लेकर स्वप्न में सो जाते हैं।

सम्पूर्ण विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मनमें लीन हो जाती हैं।

ऐसा प्रलाप करके अर्थात् मन में इन्द्रियों का अन्तर्भाव करके ये देव स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करते हैं। ये देव हैं, क्योंकि इन्हीं के प्रकाश में सब दीखता है। यह अपना प्रकाश ही तो है जिसमें सूर्य-चन्द्र दीखते हैं, मन-बुद्धि दीखती है, जिसमें सुषुप्ति भी प्रकाशित होती है। स्वप्न में ये आत्मदेव अपनी महिमा का अनुभव करते हैं अर्थात् देश, काल, वस्तु कुछ न होने पर ये वहाँ देश, काल और पूरे विश्व की सृष्टि कर लेते हैं।

श्रुतिने 'अन्तःप्रज्ञ' कहा है। इन्द्रिय गोलक की अपेक्षा भीतरी होने से मन की वासना रूपी प्रज्ञा को अन्तःप्रज्ञ कहा गया है। इन्द्रिय गोलक तो स्वप्न में रहते नहीं हैं। वहाँ जो वस्तु है, केवल वासना है। यह वासना ही आच्छादक-पर्दा भी है। हम

यहाँ द्रष्टा को न देखकर-वासना को देखते हैं। अपने ऊपर तो कोई पर्दा है नहीं। दृष्टि पर ही आवरण है। एकजीववाद की दृष्टि से विचार करने पर 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ के मध्य में संसार रूपी आवरण आता है। यह आवरण विचार न करने के कारण दृष्टि पर है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति है। इसमें रज्जु देखना है तो रज्जु और नेत्र के मध्य जो प्रतीत होता सर्प है, उसे विचार के द्वारा हटाना होगा। रज्जु पर तो कोई आवरण है नहीं।

अब यदि रज्जु उपहित चैतन्य को देखना है तो वह कहाँ दीखेगा? दीखे तो दृश्य हो जाय –जड़ हो जाय। चैतन्य का साक्षात्कार अन्य रूपमें नहीं 'अहम्' रूपमें ही होगा। अतः स्वप्न में जो वासनामयी प्रज्ञा है, यह अपनी ही प्रज्ञा है। यह संसार मेरा है अतः मैं विश्व हूँ। स्वप्नप्रज्ञा मेरी है, अतः मैं तैजस हूँ।

केवल प्रकाश स्वरूप में जो विषयी रूप से रहता है, उसे तैजस कहते हैं।

यह प्रश्न उठा कि स्वप्न में तो चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि कोई तैजस तत्व रहता नहीं, फिर स्वप्न द्रष्टा को तैजस क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर है कि विषय शून्य प्रकाश स्वरूप प्रज्ञा का नाम ही तेज है, उसमें जो विषय रूप से रहता है—वासनायुक्त प्रज्ञा में जो विषयी रूप से रहता है, उसका नाम तैजस है।

विश्व भी प्रज्ञा का ही भोग है और तैजस भी प्रज्ञा का भोग है तो दोनों में अन्तर क्या है? इसका उत्तर दे रहे हैं। ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित केवल ज्ञान का नाम प्रज्ञा नहीं है। जहाँ तक ज्ञान में ज्ञान का अभिमानी ज्ञाता और ज्ञान का विषय है, वहीं तक प्रज्ञा है। प्रज्ञा तो जाग्रत् में भी वही है और स्वप्न में भी वही है। यदि एक बुद्धि न हो तो जाग्रत् स्वप्न का स्मरण ही न हो। ऐसी अवस्था में विश्व और तैजस का भेद इसलिये किया जाता है कि विश्व को (जाग्रत् में) तो तैजस के अनुभव (स्वप्न) की स्मृति होती है; किन्तु तैजस को (स्वप्न में) विश्व के अनुभव (जाग्रत्) की स्मृति नहीं होती। अतः विश्व कार्य का अभिमानी है और तैजस सूक्ष्म कारण का अभिमानी है। विश्व और तैजस का भेद केवल विषय-भेद से किया जाता है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था में स्थूल पदार्थ प्रज्ञा का भोग्य है और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म विषय प्रज्ञा का भोग्य है। भोग्य कहीं विषय नहीं होता, भोग्य तो प्रज्ञा ही होती है। वृत्ति ही भोग्य होती है। बिना वृत्ति के किसी विषय का बोध नहीं होता। वस्तु का रूप, रस, गन्धादि भोग्य नहीं बनता। रूपाकार, गन्धाकार वृत्ति भोग बनती है। अतः जब प्रज्ञा ही भोग्य है, तब प्रज्ञा का भेद क्यों? इसका उत्तर देते हैं—

यहाँ केवल वासनामात्र प्रज्ञा है। उसमें स्थूल विषय नहीं हैं। अतः यह जाग्रत् के भोग से पृथक् है। प्रविविक्त का अर्थ है पृथक्।

दूसरी सब बातें समान हैं। अर्थात् विश्व के सात अंग ही तैजस के हैं और ही उन्नीस मुख इसके भी हैं।

केवल दोनों के भोग पृथक्-पृथक् हैं। विश्व बहिष्प्रज्ञ है और तैजस अन्तःप्रज्ञ। वह स्थूलभुक् है और यह प्रविविक्तभुक्। उसका स्थान जाग्रत् है, इसका स्वप्न। यह तैजस द्वितीय पाद है।

तत्त्व का अर्थ वास्तविकता और उसका अप्रबोध अर्थात् उसे ठीक न समझना, यही सुषुप्ति का लक्षण है। यही अज्ञान-निद्रा है।

किसी वस्तु को देखने और न देखने, इन दोनों में ही उस वस्तु को ठीक न समझना रहता है। अतः अज्ञान तो दर्शन-अदर्शन दोनों वृत्तियों में समान रूप से रहता है। जाग्रत् तथा स्वप्न में पदार्थ दीखते हैं और सुषुप्ति में नहीं दीखते, किन्तु अज्ञान तीनों अवस्थाओं में रहता है। अतः अब दर्शनवृत्ति-रूप स्वप्न और जाग्रत् को पृथक् कर के अदर्शनवृत्ति रूप सुषुप्ति का विभाग करने के लिये आगे का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

जाग्रत् और स्वप्न में दृश्य देखते हैं। इस दर्शनवृत्ति में भी आत्मा है और सुषुप्ति में जब इस अदर्शनवृत्ति में भी आत्मा है। दर्शन और अदर्शन दोनों वृत्तियाँ आत्मा की नहीं हैं। अतः इन दोनों वृत्तियों का अपवाद करके साक्षी रूप से आत्मा का बोध होता है।

ब्रह्म विदित से भी दूर और अविदित से भी दूर रहता है। विदित है जाग्रत् और स्वप्न तथा सुषुप्ति है अविदित। इस विदित-अविदित को छोड़ कर जो रहता है, वह साक्षात् ब्रह्म है। विदित-अविदित को छोड़कर स्वतः सिद्ध तुरीय पद की आत्म रूप से प्राप्ति हो जाती है।

'अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभज्यते—'

अथवा दर्शन-अदर्शन, विदित-अविदित दो अवस्थायें न मानकर तीन अवस्थायें मान लें—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। दृष्टि-सृष्टिवाद में तो दो सत्ता मानते हैं, द्रष्टा और दृश्य, अथवा पारमार्थिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता। किन्तु आभासवाद में तीसरी व्यावहारिक सत्ता भी मानते हैं, अतः तीन अवस्थायें मानकर भी विवेचन होना चाहिये।

जाग्रत् स्थान, स्वप्न स्थान और सुषुप्ति स्थान ये तीन तत्त्व के न जानने की अवस्थायें हुईं। यह तत्त्वाप्रबोध क्या है? किसी वस्तु का वह मूल द्रव्य जिसके बिना उस वस्तु

की सत्ता न रह सके, तत्त्व है। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा नहीं रहता, अतः घड़े का तत्त्व मिट्टी है। अब यह जो कुछ इन्द्रिय-मन आदि से जाग्रत् या स्वप्न में देखते हैं, यह नाम रूप है। इस नाम-रूप का मूलाधार क्या है, यह जानते नहीं हैं। यही जाग्रत् और स्वप्न में तत्त्व का अप्रबोध हुआ। सुषुप्ति में अदर्शन-वृत्ति है; किन्तु उस वृत्ति का जो मूलाधार तत्त्व है, उसे कहाँ जानते हैं? अतः सुषुप्ति में भी तत्त्व का अप्रबोध है।

'मोह निसा सब सोवनिहारा।'

यह तत्त्व का अप्रबोध ही सुषुप्ति है। तत्त्व के अप्रबोध में प्रतीत जाग्रत् और स्वप्न भी सुषुप्ति का ही विलास है। जागना है तत्त्व को समझना। अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों में जहाँ समानरूप से तत्त्व का अप्रबोध है, वहाँ सुषुप्ति की विशेषता बतलाने के लिए जाग्रत् और स्वप्न से उसका विभाग करते हैं।

* पाँचवां मन्त्र *

आत्मा का तृतीय पाद—प्राज्ञ

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

यत्र यस्मिन् स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न कञ्चन कामं कामयते । न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते । तदेतत् सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः ।

स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहः सप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते । अत एव स्वप्नजाग्रन्मनः स्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीवाविवेकरूपापन्नानीति प्रज्ञानघन इत्युच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव । एव शब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः ।

मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव । अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, "एषोऽस्य परम आनन्दः" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः ।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः । बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः । भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः । सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते । अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः, इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति । सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जिस अवस्था में सोया पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई

स्वप्न देखता है, यह जो एकीभूत प्रज्ञानघन होकर आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता और चेतोमुख है, यह प्राज्ञ आत्मा का तीसरा पाद है।

जिस स्थान या समय में सोया हुआ न तो कोई स्वप्न ही देखता है और न किसी भोग की इच्छा ही करता है, वह है सुषुप्ति। इसमें व्यष्टि की दृष्टि से देखो तो स्थान हृदय है, क्योंकि सुषुप्ति हृदय में होती है। स्वप्न अवस्था कण्ठ में और जाग्रत् अवस्था नेत्र में होती है। समष्टि की दृष्टि से देखो तो जिस कारण वस्तु में, जिस काल में मनुष्य बीजावस्था को प्राप्त हो जाता है। न कुछ स्वप्न दिखायी पड़ता और न किसी भोग की इच्छा रहती, उसका नाम सुषुप्ति है।

यहाँ सुषुप्ति बीजावस्था रूप से निर्दिष्ट है। यह मन अध्यात्म है। इसकी बीजावस्था दिखायी देती है। मन का अधिदेवता चन्द्रमा है। मनका उपादान सात्विक पंचतन्मात्रा हैं। क्योंकि मन स्वप्न में पाँचों विषय रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श को प्रगट करके उनका भोग करता है और इन्द्रियों के माध्यम् से भी पाँचों विषयों का ग्रहण करता है। इन्द्रिय गोलक एक-एक तन्मात्रा के कार्य हैं, अतः वे एक ही विषय ग्रहण कर सकते हैं। अब देखो कि गहूँ अधिभूत है। यह गहूँ मन का ही अधिभूत रूप है। क्योंकि अन्न खाने से मन बनता है। तात्पर्य यह कि सभी दृश्य विषय मन के अधिभूत रूप हैं। गेहूँ बीजावस्था में होता है, अंकुर बनता है, बढ़कर पौधा होता है, फूलता है, फलता है। इतनी अवस्थाओं में बदलता है, किन्तु हमको उसका कोई सुख दुःख नहीं होता। गहूँ का अधिदेव चन्द्रमा है। वह कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी पूर्ण दीखता है और कभी दीखता ही नहीं। उसके परिवर्तन से भी हमें सुख दुःख नहीं होता।

अब यह शरीर अधिभूत है। इसमें मन अध्यात्म है और उस मन में जो उसका देवता चंद्रमा है, वह अधिदैव है, क्योंकि अधिदैव न हो तो मन कोई कार्य कर ही न सके। *अब होना यह चाहिये कि हम जैसे अधिभूत अन्न और अधिदैव चन्द्रमा के घटने* बढ़ने से सुखी-दुःखी नहीं होते, उसी प्रकार अध्यात्म के भी घटने-बढ़ने से सुखी-दुःखी न हों। अर्थात् मन जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में चाहे जहाँ जाय, हम एकरस रहें। ये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति मन की ही स्फुरित-अस्फुरित अवस्थायें हैं।

सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं के समान अन्यथा ग्रहण रूप स्वप्न दर्शन अथवा किसी प्रकार की कामना सर्वथा नहीं है। यहां स्वप्न और जाग्रत् दोनों को अन्यथा ग्रहण रूप बताया गया है। क्योंकि दोनों अवस्थाओं में ही 'स्व' का ही अन्य रूप में ग्रहण होता है। चैतन्य को ही जड़ जानते हैं। एक को ही अनेक जानते हैं। इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों में काम-भोग हैं, लेकिन सुषुप्ति में न स्थूल भोग है, न सूक्ष्म भोग।

ये आत्मदेव स्वभावतः परिव्राट् हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों को जानते रहते

किन्तु थकते नहीं। इनमें से किसी एक स्थान पर टिकने नहीं और कोई स्थायी ी भी नहीं बनाते।

विश्व ब्रह्मचारी है-सेवाप्रधान है। तैजस गृहस्थ है—आगे-पीछे का बहुत विचार रखता है और प्राज्ञ वानप्रस्थ है—वहाँ भोग नहीं है, किन्तु द्वैत का बीज है। यह सुषुप्ति थान है प्राज्ञ का।

ये दो स्थान स्वप्न और जाग्रत् केवल मन के स्पन्दन हैं। इनमें मन हिलता है और जितना द्वैत प्रपञ्च है, सब का सब मन का स्पन्दन-मन की स्फुरणा ही है, क्योंकि समाहित चित्त में-समाधि में प्रपञ्च नहीं रहता। संसार असमाहित-विक्षिप्त चित्त में ही दीखता है और विक्षिप्त चित्त की बात प्रामाणिक नहीं हो सकती। यह द्वैत प्रपञ्च वैसा ही प्रतीत होता है, जैसी मन की स्फुरणा हो। अज्ञान की निवृत्ति न होने से मन के स्फुरणात्मक रूप का परित्याग भी नहीं होता। लेकिन जैसे रात्रि के अन्धकार में सब वृक्ष, सब भवनादि रहते हैं, पर उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, वे प्रतीत नहीं होते, इसी प्रकार सुषुप्ति में अज्ञानावरण के कारण प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती, किन्तु प्रपंच यथास्थान रहता है। अज्ञान से ग्रस्त होने के कारण अन्धकारग्रस्त के समान प्रपञ्च एकाकार हो जाता है। इस एकाकारता को घनीभूत होना कहते हैं।

अतएव स्वप्न-जाग्रत् की जो मन की स्फुरणायें हैं, वे प्रज्ञान हैं। सुषुप्ति में ये स्फुरणायें एकाकार हो जाती हैं-घनीभूत हो जाती हैं। यह अवस्था अविवेक रूप होने के कारण-प्रज्ञानघन सी प्रतीत होने से प्रज्ञानघन कही गई है।

जैसे रात्रि में अन्धकार के कारण सब पृथक्-पृथक् पदार्थ एकाकार हुए जान पड़ते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में यह प्रज्ञानघन होता है।

मूल श्रुति में 'प्रज्ञानघन एव' यह शब्द है। इसमें 'एव' शब्द यह सूचित करने के लिये है कि प्रज्ञान के अतिरिक्त वहाँ कोई भिन्न जाति की-जड़ वस्तु नहीं है।

यहाँ सुषुप्ति में प्राज्ञ आनन्दमय है। आनन्द न कहकर आनन्दमय क्यों कहा? विषय-विषयीभाव में बार-बार अपनी आकृति बदलते रहना यह मन का कष्ट है। विषय-विषयी भाव में स्पन्दित होने का प्रयास न करना पड़े, यह दुःख का अभाव हुआ। सुषुप्ति में इस दुःख का अभाव होने से आनन्दमय कहा गया। स्वप्न या जाग्रत् में मन ही कभी विषय बनता है, कभी विषयी बनता है। भोक्ता और भोग्य दोनों मन की स्फुरणायें हैं। स्वयं ही कभी विषय और कभी विषयी हम बनते रहते हैं। संसार के सभी लोग इस भ्रम से दुःखी हैं। सुषुप्ति में यह आयास न होने से वह आनन्दमय है।

आनन्दमय का अर्थ है आनन्दप्राय अर्थात् शुद्ध आनन्द नहीं। क्योंकि अविद्या से वहाँ का आनन्द ग्रस्त है। सुषुप्ति में आनन्द है, परन्तु आत्मा का स्वरूप ही है—ऐसा ज्ञान नहीं है यही अविद्या है। इसलिये सोकर उठने पर वह उस अवस्था का ही आनन्द था अब नहीं रहा ऐसी

भ्रान्ति होती है। यदि अज्ञान न होता तो मैं ही आनन्द था, हूँ और रहूँगा—यह निश्चय रहता।

भोग मे नश्वरता है और इन्द्रियों मे असामर्थ्य। भोग सदा बने नहीं रहेंगे। उनका सयोग-वियोग होगा और इन्द्रियों के द्वारा किसी भोग को सदा भोगा नहीं जा सकता। मन भी किसी एक भोग में ही सदा नहीं लगा रहता। अत. ससार के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति मे भोग कोई सच्चा-आत्यन्तिक सुख नहीं दे सकते। सच्चा सुख सूचित करने के लिये उसमें विशेषण लगाने पड़ते हैं कि सुख नित्य-अविनाशी होना चाहिये। सुषुप्ति के समान अज्ञात नहीं किन्तु ज्ञात-प्रकाशित होना चाहिये। विभु-अर्थात् देश काल-परिच्छिन्न नहीं होना चाहिये। नाम रूप से परिच्छिन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि नाम-रूप अनित्य हैं, उनसे होनेवाला सुख भी अनित्य होगा। नाम-रूप का आश्रय आधार होना चाहिये।

'मति न लखे जेहि मति लखे, सो मैं शुद्ध अपार' बुद्धि दृश्य या बुद्धिरूप नहीं किन्तु बुद्धि का द्रष्टा होना चाहिये। ऐसे सुख का स्वरूप है— अपार अर्थात् अनिर्वचनीय। वह मैं ही हूँ।

सुख जब अप्राप्त है तब पुरुष की इच्छा का विषय है और ज्ञात अर्थात् प्राप्त है तब पुरुष रूप ही है। सुषुप्ति में कोई पीड़ा नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई आयास नहीं, अतः यहाँ आनन्दमय-आनन्दप्राय है। वहाँ का सुख आत्यन्तिक नहीं है, इसी से आनन्द प्राय है, क्योंकि सुषुप्ति से जागरण होगा ही और जागते ही वहाँ का सुख समाप्त हो जायगा।

जैसे लोक में कोई बिना आयास-श्रम किये रहता हो तो कहते हैं कि ये बड़े आनन्द में हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति अत्यन्त अनायासरूपा स्थिति है, इसमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। अतः इसको आनन्दभुक् कहते हैं।

सभी आश्रमों मे श्रम करना पड़ता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों के लिये श्रम है। सन्यास तो आश्रम नहीं है। यह किसी क्रिया, योग या उपासना के लिये नहीं है। यह तो कैवल्यपद है। ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, ऋषभदेव, रैक्व आदि की जीवनी सन्यासी की जीवनी है। इसमें आचार्य लोग लोकोपकारी हैं अर्थात् दूसरों को इस पदपर पहुँचाने के लिये स्वय आयास स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुत सन्यास तो आश्रमातीत स्थिति है—परमानन्द है।

बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है कि सुषुप्ति ही प्राज्ञ का अनायासस्थितिरूप परमानन्द है।

स्वप्नादि अर्थात् स्वप्न और जाग्रत् में जो ज्ञान होता है, वह चित्त के द्वार से आता है, अतः उसे चेतोमुख कहते हैं।

स्वप्न और जाग्रत् दोनों मे चित्त होता है। चित्त न हो तो न जाग्रत् का अनुभव हो, न स्वप्न का। यह चित्त किसी का द्वार न होने पर भी द्वार बना है, इसलिये इसे चेतोमुख कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्न में जो चेतना आती है, वह सुषुप्ति में जो बीजभूत

चेतना है, उसीसे निकलती है। यदि सुषुप्ति में चेतना बीज रूप में न हो तो फिर जाग्रत् या स्वप्न में चेतना आवे ही कहाँ से? बीज में वृक्ष दीखता नहीं, किन्तु पीपल के नन्हें बीज में ही बड़ा-सा वृक्ष छिपा है। इसी प्रकार सुषुप्ति में चेतना दीखती नहीं, किन्तु बीज रूप से है।

बोध लक्षण अर्थात् केवल ज्ञानमात्र जो चेत है—चित्त है वही इसका मुख है। स्वप्नादि के आने का यही द्वार है। स्वप्न और जाग्रत् उस 'चेत' के द्वार से ही निकलते हैं।

अब प्राज्ञ शब्द को देखना है। प्राज्ञ का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञानवान्। स्वप्न और जाग्रत् को जानने वाला ज्ञान जिसके पास है, वह है प्राज्ञ।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान इसी को है, अतः इसे प्राज्ञ कहते हैं।

'सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम्'। 'मैं सुख से सोया था। कुछ मुझे पता नहीं था'—यह सुषुप्ति का अनुभव है और उस सुषुप्ति के अभिमानी को सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता प्राज्ञ कहा जा रहा है, ऐसा क्यों?

'मुझे कुछ पता नहीं था'—यह बुद्धि का अनुभव है। आत्मा तो सर्वावभासक है ही; किन्तु बुद्धि के साथ तादात्म्य करके बुद्धि का अज्ञान यहाँ अपने ऊपर ले लिया कि मुझे कुछ पता नहीं था। 'मैं सुख से सोया था' इसमें जो सुख का अनुसन्धान है यह स्वरूपभूत ज्ञान से है और 'कुछ नहीं जानता' यह बुद्धि का अज्ञान अपने ऊपर ले लिया गया है।

सुषुप्ति होने पर भी भूतपूर्व की अवस्था के अनुसार उसे प्राज्ञ कहते हैं। जैसे आज राज्य नहीं है, किन्तु जो पहले राजा थे, आज भी उनको राजा कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्न में सब कुछ जाननेवाला होने से सुषुप्ति में इसे प्राज्ञ कहते हैं। लेकिन यह प्राज्ञ शब्द का गौण अर्थ हो गया। नियम यह है कि जहाँ अभिधावृत्ति से अर्थ न हो सके, वहीं लक्षणा करना चाहिये। अतः भूतपूर्व गति से प्राज्ञ शब्द का अर्थ नहीं करना चाहिये। क्योंकि विश्व और तैजस का वर्णन तो कर ही चुके हैं। वही अर्थ प्राज्ञ का लेने से कोई ठीक संगति न होगी। अतः दूसरा अर्थ करते हैं:—

अथवा प्रज्ञप्तिमात्र—केवल ज्ञानमात्र इन्हीं का असाधारण रूप है, इसलिये इन्हें प्राज्ञ कहते हैं। सुषुप्ति में न तो जानने के लिये कोई विषय-ज्ञेय है और न 'मैं जानता हूँ' यह अभिमान ही है। ज्ञाता और ज्ञेय से रहित केवल ज्ञानमात्र वहाँ है।

एकजीववाद की दृष्टि से सुषुप्ति को देख लें। अज्ञान नहीं है, दृष्टि है। ईश्वर के ज्ञान के साथ अपने ज्ञान को जब तक मिला नहीं देंगे, तब तक अज्ञानी रहेंगे, क्योंकि जीव एक प्रकार से संसार को देखता है और ईश्वर दूसरे प्रकारसे। इनमें से ईश्वर का ज्ञान ही ठीक होगा, यह बात निर्विवाद है।

अब ईश्वर के ज्ञान का क्या रूप है ? अच्छा, ईश्वर की घड़ी में इस समय क्या समय है ? क्यों कि विभिन्न देशों की घड़ियों मे तो विभिन्न समय है, लेकिन ईश्वर के यहाँ तो दिन रात होता ही नहीं। पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमते हुए सूर्य के चारों ओर घूमने से पृथ्वी पर रात–दिन होते हैं। किन्तु ईश्वर तो कोटि कोटि ब्रह्माण्डों का साक्षी है। वहाँ रात–दिन, वर्ष, मास कैसा ? रात दिन नहीं तो सप्ताह, मास, वर्ष, कल्प कुछ नहीं अर्थात् काल की कल्पना ही वहाँ नहीं है। ईश्वर अकाल है, कालातीत है। अत ईश्वर के ज्ञान में काल नही है। ईश्वर का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, अतः काल कल्पित है।

हमारे लगभग चौवालीस लाख वर्ष की एक चतुर्युगी होती है। ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है। अपने दिन से ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु होती है। एक ब्रह्मा की पूरी आयु भगवान् विष्णु का एक पल और इस हिसाब से विष्णु की आयु उनके अपने सौ वर्ष के बराबर है। विष्णु की पूरी आयु भगवान् शकर का एक पल है। अब कोटि–कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिसके संकल्प हैं, उस निखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी ईश्वर मे काल अध्यारोपित ही तो होगा।

सृष्टि के मूल मे एक ही चेतना है और उसके सकल्प से सृष्टि हो गयी जैसे जादूगर के सकल्प से नाना पदार्थ दीखने लगते हैं। सृष्टि की सगति इस प्रकार ठीक लग जायेगी। सृष्टि की दूसरी कोई संगति लग नहीं सकती। अब जिसमे सृष्टि का यह सकल्प अध्यारोपित है, उसम काल की कोई कल्पना सम्भव है ? वहाँ हमारी घड़ी का कोई महत्त्व है ?

इसी प्रकार दिक् को ईश्वर के ज्ञान की दृष्टि से देखो। हम यहाँ हैं तो हममे अमुक व्यक्ति पूर्व है, अमुक पश्चिम है। ईश्वर तो व्यापक है, सब कहीं है। उसमे पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण का निर्देश कैसे सम्भव होगा ? अत ईश्वर में देश नहीं है। देश की कल्पना भी वहाँ नहीं है। हमारे लिये कुछ परोक्ष है, कुछ प्रत्यक्ष है। कुछ शरीर से बाहर है, कुछ भीतर है। ईश्वर के ज्ञान मे भी यह परोक्ष–प्रत्यक्ष, बाहर–भीतर का भेद क्या सम्भव है ? ईश्वर अपरोक्षज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ होने के कारण उसे किसी का अज्ञान होगा ही नहीं। व्याप्य–व्यापक, ज्ञाता–ज्ञेय का भाव ईश्वर में नहीं है। क्योंकि ईश्वर ही सर्व स्वरूप है।

अब इस एकजीववाद की दृष्टि से प्राज्ञ शब्द का अर्थ करो। दृष्टिसृष्टिवाद–एकजीववाद में प्राज्ञ ईश्वर है। आभासवाद का प्राज्ञ 'त्व' पद वाच्यार्थ है। लेकिन एकजीववाद मे व्यष्टि की सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ और समष्टि की सुषुप्ति का अभिमानी ईश्वर, यह भेद नहीं है। समष्टि के अभिमानी की सुषुप्ति का स्वरूप समझने के लिये ज्ञानी पुरुष की सुषुप्ति को लो। ज्ञान के कारण उसकी अविद्या तो निवृत्त हो गयी। अब

सुप्ति में उसकी बुद्धि का लय कहाँ होता है? तत्त्वज्ञानी की सुषुप्ति ही समाधि है। सुप्ति में लय होने के लिये अज्ञान नहीं है और शेष भी कुछ नहीं है, अतः प्रज्ञतिमात्र । ज्ञानी पुरुष की सुषुप्ति के समान ही प्राज्ञ का स्वरूप प्रज्ञिमात्र-प्रज्ञान है ।

प्राज्ञ से भिन्न जो दूसरे हैं विश्व और तैजस इनको तो विशिष्ट विज्ञान भी कहता । यह घट, यह पट आदि भेद ज्ञान को ही विशिष्ट ज्ञान कहते हैं।

ज्ञान में भेद नहीं होता । भेद विषय में होता है। वस्तुओं के भेद से उनके द के प्रकाशक प्रकाश में भेद नहीं होता । लेकिन हम वस्तु और प्रकाश-विषय और ज्ञान को एक कर देते हैं, तब घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि कहते हैं । यहाँ घट और पट ...। अलग-अलग हैं, उनके भेद को ज्ञान में आरोपित कर दिया ।

इसी प्रकार इन्द्रिय भेद से भी ज्ञान में भेद नहीं होता जैसे एक ही विद्युत बल्ब में प्रकाश, हीटर में गर्मी, पंखे में गति, रेडियो में शब्द और रेफ्रीजेरेटर में शीतलता देने लगती है और यन्त्रों के भेद से कार्य भेद होने पर भी विद्युत एक है, वैसे ही एक ही ज्ञान इन्द्रियों के भेद से अनेक प्रकार के कार्य करता है । ज्ञान में भेद नहीं है ।

ज्ञान में परोक्ष-अपरोक्ष का भेद भी नहीं होता । यह घड़ी प्रत्यक्ष है और आप इसे ले जायँ घर तो यहाँ यह परोक्ष हो जायगी । लेकिन प्रत्यक्ष और परोक्ष घड़ी हुई । जिसने जाना कि घड़ी प्रत्यक्ष है या परोक्ष है, वह ज्ञान तो हृदय में है और वह सदा अपरोक्ष है ।

✓इसी प्रकार ज्ञान में काल का भेद नहीं है । देश का भेद नहीं है । समाधि और विक्षेप का अर्थात् अवस्था का भेद भी नहीं है । विषय भेद से, इन्द्रिय भेद से, वृत्ति भेद से, देश-काल-अवस्था भेद से ज्ञान में भेद नहीं होता । ज्ञान तो ज्ञान है । भेद विषयों में, इन्द्रियों में, वृत्तियों में होता है ।✓

यह अखण्ड ज्ञान ही अपना स्वरूप है। इसमें जन्म नहीं-मृत्यु नहीं । शैशव, तारुण्य, वार्धक्य नहीं । ज्ञान में कार्य-कारण भाव नहीं है, क्योंकि अज्ञान से ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और ज्ञान से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर पहले और दूसरे ज्ञान में कोई भेद बताया नहीं जा सकता । ज्ञान में विरोध नहीं है । ज्ञान का नाश सम्भव नहीं, क्योंकि नाश का अनुभव भी ज्ञान ही होगा ।

जहाँ ज्ञान में कोई विशेषण लग जाय, वहाँ उसे विशिष्ट ज्ञान कहते हैं । विषय का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है, क्योंकि उस ज्ञान के साथ विशेषण लग जाता है-यह घट का ज्ञान, यह पट का ज्ञान आदि । जाग्रत् और स्वप्न में इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान है । वहाँ विशेषण का निषेध करके तब शुद्ध ज्ञान का बोध होता है, किन्तु सुषुप्ति में विशेषण नहीं है । वहाँ प्रज्ञान मात्र है ।

यह प्राज्ञ ही आत्मा का तृतीय पाद है ।

* छठवाँ मन्त्र *

प्राज्ञ का सर्वकारणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव । "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० उ० ६ । ८ । २) इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः । एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य । यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥ ६ ॥

यह सबका ईश्वर है । यह सर्वज्ञ है । यह अन्तर्यामी है । यह सब प्राणियों की उत्पत्ति और लयका स्थान होने से सबका कारण भी है ।

अपने स्वरूप में अवस्थित अर्थात् सुषुप्ति में यह जो प्राज्ञ है, यही सर्वेश्वर है । एकजीववाद की दृष्टि से सम्पूर्ण सृष्टि का महाप्रलय ही सुषुप्ति है और उसमें जो प्राज्ञ है, यही सर्वेश्वर है ।

स्वरूपावस्थ कहने का तात्पर्य यह है कि मन की उपाधि को छोड़कर चैतन्य को देखो, क्योंकि इसे यदि देह में ही देखोगे तो यह स्वतन्त्र नहीं होगा, और स्वतन्त्र न होने से ईश्वर भी नहीं होगा ।

सब शरीरों में आकाश एक है । वायु भी सबमें एक है । इसी प्रकार पंचतत्त्व की दृष्टि से देखने पर सब शरीर भी एक ही हैं । तत्त्व की दृष्टि से उपाधि में भी भेद नहीं है । स्वप्न में जो ब्राह्मण, चाण्डालादि दीख रहे हैं वे स्वप्नद्रष्टा के संकल्पमात्र हैं । उनमें भेद नहीं है । भेद की प्रतीति भेद का भ्रम मात्र है । जितना भी भेद है, मोह-द्वेषादि है, कार्य पर दृष्टि रखने से है । कारण पर दृष्टि डालते ही भेद नहीं रहता ।

एक ही प्राज्ञ है । वही सबका ईश्वर है । आधिदैविक सहित जितना भेद से उत्पन्न प्रपञ्च है, सबका ईश्वर प्राज्ञ ही है । सूर्य, चन्द्र, इन्द्र ब्रह्मा, रुद्रादि सब अधिदैव हैं ।

अधिदैव का अर्थ है समस्त देवता – सब पदार्थों तथा कार्यों के अधिदेवता और उनके आधिभौतिक पदार्थ तथा कार्य। यह जितना भेद प्रपञ्च है वह सब अर्थात् समस्त स्थूल एव सूक्ष्म विश्वप्रपञ्च। इसमें सम्पूर्ण ईश्वर सृष्टि आ गयी। इन सबका संचालक प्राज्ञ है।

यह जितना भेद दीखता है, यह जीवाभास को – जीव को ही तो दीखता है। अन्त करण कार्य है, इस कार्य अन्त करण की उपाधिवाला जीव है और कारणोपाधि वाला ईश्वर है। ईश्वर में भेदज्ञान नहीं है। क्योंकि भेदज्ञान परिच्छिन्न में है। यह सम्पूर्ण भेदज्ञान जीव को – व्यष्टि अन्त करण की उपाधि वाले जीवाभास को है। इस सम्पूर्ण भेद ज्ञात-विश्व का शासक सर्वेश्वर प्राज्ञ है अथात् समष्टि चेतन है।

'नैतस्माजात्य तरभूतोऽन्येषामिव।'

उस प्राज्ञ से भिन्न अन्य जाति की कोई वस्तु है ही नहीं। है, जैसा कि दूसरे मतवादी मानते हैं। ईश्वर भिन्न और सृष्टि भिन्न, ईश्वर चेतन और सृष्टि जड़, ऐसी बात नहीं है।

जैसे जो सृष्टि का–जाग्रत् का अभिमान करे वह विश्व। जो स्वप्न का अभिमान करे वह तैजस। इस प्रकार जो सुषुप्ति का अभिमान करे वह प्राज्ञ, ऐसा नहीं। प्राज्ञ में अभिमान के लिये दूसरा कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिये समझाने का यह क्रम लिया कि विश्व नहीं, तैजस है। तैजस नहीं, प्राज्ञ है। वास्तव में विश्व, तैजस, प्राज्ञ नहीं ईश्वर तो एक है। उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। वही तुरीय है। वही ब्रह्म है।

हे सौम्य! यह मन प्राण बन्धनवाला है। मन प्राण के साथ–चेतन के साथ बँधा है—एक है, और चेतन तो परिच्छिन्न है नहीं। अत मनके परिच्छिन्न होने की कल्पना भ्रम ही है। विश्व के भीतर मन नहीं है, मन के भीतर यह शरीर और सम्पूर्ण विश्व है, यह बात पहले बतायी जा चुकी है।

यह सर्वज्ञ है। अर्थात् जड़ नहीं, ज्ञाता है। जिस समय सृष्टि बीजरूप में रहती है, उस समय बीज को बनाये रखने वाला भी यही है और जिस समय सृष्टि अपने विस्तार म रहती है, उस समय भी सम्पूर्ण भेदों में अन्तर्यामी रूप से रहकर सबका सचालन करने वाला, सबका ज्ञाता यही है। अत इसे सर्वज्ञ कहा गया।

सृष्टि में जितनी भी क्रिया हो रही है, उसके भीतर एक नियमन है, यह बात भौतिक विज्ञान ने भी स्वीकार कर ली है। क्योंकि यदि सृष्टि की क्रिया म नियम न हो तो कोई अविष्कार नहीं होगा। सृष्टि के नियम को जानकर ही अणु विस्फोट करके उसका परिणाम पहले ही गणित करके निकाल लेते हैं। गणित से यह पता लगा लेते हैं कि अमुक द्रव्यों के मिश्रण से इतने समय में अमुक परिणाम होगा। यह सारा विज्ञान, ज्योतिष इसी बातपर अवलम्बित है कि सृष्टि म सर्वत्र नियम हैं। सृष्टि की व्यवस्था अनियन्त्रित नहीं है।

जब क्रिया होती रहती है, उस समय नियमन रहता है और क्रिया बन्द हो जाती है तब नियमन नहीं रहता, ऐसी बात नहीं है। नियमन उस समय भी रहता है। इस निष्क्रिय अवस्था के नियमन को लक्ष्य में रखकर ही सर्वेश्वर कहा गया है। सक्रिय अवस्था के नियमन को दृष्टि में रखकर अन्तर्यामी शब्द का प्रयोग है। यह सृष्टि का नियमन प्रकृति से ही हो रहा है; ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि नियमन में जो सर्वत्र व्यवस्थित गणित है, वह किसी उच्च बुद्धि को सूचित करती है जो इस नियम का सञ्चालन करती है। वही बुद्धि निष्क्रिय अवस्था में बीज को रोक रखती है और सक्रिय अवस्था में बीज का सञ्चालन करती है।

व्यक्तिगत जीवन में जाग्रत् और स्वप्न दोनों की बीजावस्था सुषुप्ति दिखलायी देती है। सुषुप्ति में सम्पूर्ण वृत्तियों का लय हो जाता है और सुषुप्ति में से ही समस्त वृत्तियों का पुनः उत्थान होता है। जिस समय ये वृत्तियाँ लय हो जाती हैं और जिस समय कार्यशील रहती हैं, दोनों ही अवस्थाओं में वृत्तियों के लय तथा उनकी सक्रियता का ज्ञाता कोई न कोई अवश्य है। यह ज्ञाता कोई अन्य होगा, ऐसा मानें तो उसे कल्पित कहना होगा, क्योंकि जिसका हमें किसी भी इन्द्रिय से, किसी भी करण से, कभी भी अनुभव नहीं होता, उसकी सत्ता मानना कल्पना ही तो होगी। लेकिन हम देखते हैं कि व्यष्टि में होनेवाली बीजावस्था एवं सक्रियता का ज्ञान हमें है। इसी से सुषुप्ति में भी हमारा नाम प्राज्ञ है। इसका यही अर्थ है कि जाग्रत्-स्वप्न के अभाव-निष्क्रिय अवस्था को हम जानते हैं। स्वप्न और जाग्रत् को हम जानते हैं, यह तो प्रत्यक्ष है। अतः हम सर्वज्ञ हैं।

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् तीनों के ज्ञाता होने के कारण तुम सर्वज्ञ हो। सुषुप्ति में जो प्राणादि की क्रिया है उसके और स्वप्न तथा जाग्रत् की क्रिया के नियन्ता होने के कारण तुम सर्वेश्वर हो। यह नियन्त्रण सब के भीतर बैठ कर होता है या पृथक् रहकर? बात अभी व्यष्टि की है, वह सुषुप्ति में उसके भीतर रहता है। स्वप्न में जो कुछ तुम देखते हो, वह स्वयं तुम बने हो। वहाँ का मनुष्य और वहाँ का वृक्ष-तुम स्वयं उन रूपों में हो। अतः उन सब में प्रविष्ट होकर उनका सञ्चालन कर रहे हो। सब में 'अनुप्रविश्य' रूप से सब का सञ्चालन करने के कारण तुम अन्तर्यामी हो। यह प्राज्ञ ही अन्तर्यामी है।

अब बात जाग्रत् की रह गयी। जैसा स्वप्न है, वैसा ही जाग्रत् है। व्यक्ति, अन्तःकरण और शरीर समष्टि से पृथक् हैं, यह भ्रम है। रोटी जब थाली में है तो वह अपने से भिन्न वस्तु और जब पेट में पहुँच गयी तो अपना स्वरूप, यह मान्यता अविचार के कारण है। यह शरीर जिसे हम अपना कहते हैं, इसमें समष्टि से पृथक् क्या है? मिट्टी, पानी, हवा, उष्णता, आकाश ये तो समष्टि से एक हैं। इनको छोड़ कर क्या और कुछ है? रोटी थाली में है तो, बीज रूप में है तो और पेट में है तो, वह या तो 'इदं' है—अपने से भिन्न है या फिर सर्वत्र 'अहं' अपना स्वरूप है। यही विचार की रीति है। यदि रोटी सर्वत्र 'इदं' है तो रोटी का परिणाम रोटी से बना शरीर भी

'इद' है। हम इससे भिन्न हैं और यदि रोटी 'अह' है तो सर्वत्र अह है। अपने से भिन्न तब कुछ नहीं।

इस प्रकार जब शरीर का अभिमान मिट जाता है तब सम्पूर्ण विश्व मे हूँ, यह निश्चय सरलता से हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व मैं हूँ तो रोटी न मुझसे बाहर है, न भीतर। मै ही हूँ। रोटी तो एक प्रतीतिमात्र है। उसका तो तत्त्वतः अस्तित्व ही नहीं है।

एक बार एक सज्जन ने मुझ से पूछा था कि 'हम जो शौच-लघुशका आदि करते हैं, वह सर्वव्यापक ईश्वर के ऊपर ही करते हैं। उससे वह अपवित्र होता है या नहीं?'

मैंने पूछा-'आप के पेट में मल भी है और मूत्र भी। वह इधर-उधर होता भी है। उससे आप अपवित्र होते हैं या नहीं?'

वे बोले-'जब तक पेट में है, तब तक हमारा अंग है। तब तक उससे हम अपवित्र नहीं होते। हमारे देह से बाहर आकर वह अपवित्र होता है।'

मैने फिर पूछा-'आपके शरीर में लाखों-करोड़ों जीव हैं। बहुत से कीड़े हैं शरीर मे। वे वही खाते और मलत्याग करते हैं। उससे आप अपवित्र होते हैं या नहीं?'

वे बोले-'शरीर के भीतर जो है, तब शरीर का अंग है तथा शरीर से बाहर आने पर अपवित्र।'

मैने कहा-'तब आप ईश्वर से कहीं बाहर जाकर मल-मूत्र करें और तब वह मल-मूत्र ईश्वर को लगे तो वह अपवित्र हो। अभी तो आप और आपका मल-मूत्र भी ईश्वर के पेट में ही हैं। ईश्वर इतना बड़ा है कि उसके पेट मे आप नन्हें कृमि जितने भी नहीं हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यष्टि और समष्टि का भेद सर्वथा कल्पित है। ईश्वर की दृष्टि से देखो तब व्यष्टि की सत्ता ही नहीं रहेगी।

पंचदशी और विचारसागर की प्रक्रिया यह है कि व्यष्टि का विवेक और समष्टि का विवेक अलग-अलग करो। व्यष्टि में पञ्चकोष और समष्टि मे पञ्चभूत का विवेक करो। पञ्चभूत के कारण की उपाधि से उपहित चैतन्य ईश्वर, और पञ्चकोष कार्य की उपाधि से उपहित चेतन जीव। अब अविद्या से रहित जीव और माया से रहित ईश्वर के एकत्व का बोध महावाक्य से होगा।

दूसरी प्रक्रिया एकजीववाद-दृष्टिसृष्टिवाद की है कि अपने व्यष्टि देह को समष्टि से एक करदो। स्थूल समष्टि मेरा स्थूल शरीर है-मै विश्व हूँ। इस प्रक्रिया का आधार यह है कि जो वस्तु जिसके बिना न रहे, वह वस्तु उससे अभिन्न होती है। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा नहीं रह सकता, अतः घड़ा मिट्टी से अभिन्न है। इसी प्रकार हमारा देह समष्टि वायु में श्वास लिये बिना, समष्टि जल के सेवन बिना, समष्टि अन्न, अग्नि एवं

आकाश के बिना नहीं रह सकता, अतः वह समष्टि से अभिन्न है।

समष्टि की ज्ञानशक्ति के बिना किसी में ज्ञान रह नहीं सकता। अतः व्यष्टि की ज्ञानशक्ति भी समष्टि से अभिन्न है। भक्ति सिद्धान्त है कि व्यष्टि समष्टि के आधीन है। शरीर चाहे ज्ञानी का हो या अज्ञानी का, वह समष्टि के आधीन ही रहेगा।

"उम दारु योषित की नाई।
सबहिं नचावत राम गुसाई॥"

भक्तों का कहना है कि व्यष्टि जीवन समष्टि के सर्वथा आधीन है। इसी बात को स्थूल रूपमें कहे तो देहस्थ पचभूत बाह्य पंचभूत के वशवर्ती हैं, यह बात स्पष्ट दीखती है।

भाग्यवादी पूर्वमीमासक कहते हैं कि जीवन निर्वाह प्रारब्धाधीन है। प्रारब्ध अर्थात् पूर्व कर्म के संस्कार। प्रत्येक अवस्था में व्यष्टि देह स्वतन्त्र नहीं है। यह समष्टि के आधीन है।

शरीर का भार मान ले, दो मन है। अब पृथ्वी से ऊपर के वातावरण में जाने पर वह पॉच सेर रह जायगा और तीसरे वातावरण में-वायुहीन शून्य में उसमें वजन ही नहीं रहेगा। शरीर एक मध्यम प्रकाश मे दीखता है। घने अन्धकार में नहीं दीखेगा और तीव्रतम प्रकाश में भी नहीं दीखेगा। अब भौतिक विज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि वस्तुओं का रूप-रंग, लम्बाई-चौड़ाई, गुरुत्वादि सब आपेक्षिक हैं। शरीर का अस्तित्व भी अपेक्षा से ही है और जिसकी अपेक्षा से है, उस अपेक्षा से यह भिन्न नहीं है। अतः हम जो अपने 'अहं' को पृथक् रखते हैं, यह सर्वथा अज्ञान है। यह पूर्णता के साथ एक ही है।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥' —श्रीमद्भगवद्गीता

यह गुण दृष्टि हुई और :-

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुमिच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥' —श्रीमद्भगवद्गीता

यह कर्म दृष्टि हुई।

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥' —श्रीमद्भगवद्गीता

ईश्वर को दृष्टि में रखकर कहा गया—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' —श्रीमद्भगवद्गीता

इस सब का अभिप्राय यह है कि हमारा यह अहंकार कि हम पृथक् कर्ता हैं—भोक्ता हैं, हमारी स्वतन्त्र सत्ता है—स्वतन्त्र ज्ञान है—स्वतन्त्र आनन्द है, यह भ्रम है। वस्तुतः सर्व के साथ हमारी सत्ता एक है। सर्व के साथ हमारा ज्ञान एक है। सर्व के साथ हमारा आनन्द एक है।

जितने दुःख दारिद्र्य, राग-द्वेष, लोभ-मोह, शोक-भ्रम आदि हैं, वे सब अपने को इस खण्डित-परिच्छिन्न शरीर में ही बाँध लेने के कारण हैं। विचार करके देखने पर देह रूप में हमारा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व पूर्ण के रूप में ही है। अतः हमारा स्थूल रूप स्थूल-समष्टि से भिन्न नहीं है और सूक्ष्म रूप सूक्ष्म-समष्टि से भिन्न नहीं है। कारण रूप कारण-समष्टि से भिन्न नहीं है। यह कारण-समष्टि प्राज्ञ है। यह प्राज्ञ सर्वेश्वर है, सर्व-नियन्ता है और सर्वान्तर्यामी है।

इसलिये कहा गया कि सम्पूर्ण भेदों के साथ जगत् को उसी ईश्वर ने उत्पन्न किया, अतः वह सब का कारण—सर्वयोनि है।

कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर को तटस्थ माना है। तटस्थ चेतन ईश्वर का अभिप्राय यह है कि वह केवल द्रष्टा है। जैसे गंगा बहती जा रही है और कोई किनारे खड़ा प्रवाह को देख रहा है। प्रवाह में पुष्प भी जाते हैं, शव भी जाते हैं, किन्तु वह केवल देखता रहता है। इसी प्रकार तटस्थ चेतन ईश्वर का संसार के कार्यों में कोई लगाव नहीं। वह देखनेवाला मात्र है। जैसे कुम्हार ने घड़ा बना दिया, ऐसे ही ईश्वर ने सृष्टि बनाई। अब कोई घड़े को रखे या पटके। लेकिन वैदिक ईश्वरवाद ऐसा नहीं है। संसार से जो सर्वथा पृथक् ईश्वर है, उससे हमारा क्या सम्बन्ध? उस असंग से हमारा संग कैसे हो सकता है?

वेदान्तियों को भी प्रायः भ्रम हो जाता है कि हम असंग हैं और सृष्टि हम से पृथक् है। अरे! तुम असंग हो तो संगवान् कौन है? तुम चेतन हो तो जड़ कौन है? तुम केवल तुरीय हो तो ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ कौन हैं? तात्पर्य यह कि पूर्णत्व को समझने के लिये प्रथम तो इसका पृथक्करण आवश्यक होता है, किन्तु समझ लेने पर—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।' —श्रीमद्भगवद्गीता

अमृत भी मैं और मृत्यु भी मैं—सत् भी मैं और असत् भी मैं। मुझसे पृथक् कुछ नहीं है।

यहाँ ईश्वर केवल तटस्थ, निमित्त कारण नहीं है। वही उपादान भी है। घड़े को बनाने वाले कुम्हार के समान ईश्वर नहीं है। वह कुम्हार भी है और जिस मिट्टी से घड़ा

बना, वह मिट्टी भी है। उपादान को समझ लेना चाहिये। घड़े का उपादान मिट्टी है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह पूरा पृथ्वी घड़े का उपादान है। कुम्हार ने जितनी मिट्टी से घड़ा बनाया, घड़े में जो सेर दो सेर मिट्टी लगी केवल वह सेर दो सेर मिट्टी घड़े का उपादान है। ससार का उपादान ईश्वर है, उसका तात्पर्य है कि ससार में जो भी कुछ है, यह दृश्य और यह देह भी, यह सब स्वय ईश्वर बन गया है। इस सबका मसाला ईश्वर है। यह शरीर भी ईश्वर और इसमें 'अह' रूप से स्फुरित होनेवाला चैतन्य भी ईश्वर ही है।

इस प्रकार यह ईश्वर प्राज्ञ सर्वयोनि है अर्थात् सबका उपादान कारण है। यह सबका उपादान कारण क्यों है?

क्योंकि यही समस्त प्राणियों का उत्पत्ति और लय स्थान है। इसी से प्राणियों की उत्पत्ति होती है और इसी में प्राणियों का लय होता है, इसलिये यह सबका उपादान कारण है।

मिट्टी से घड़ा बना और फूटा तो मिट्टी बच रही। स्वर्ण में एक आकृति बना दी तो उस का नाम आभूषण हो गया। पत्थर में एक आकृति गढ दी तो वह मूर्ति हो गयी। इनमें घड़े का उपादान कारण मिट्टी, आभूषण का उपादान कारण स्वर्ण और मूर्ति का उपादान कारण पत्थर है। इनमें आकृति बनाने वाला निमित्त कारण है।

जब जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् होते हैं तब एक में आकृति बनायी जाती है और एक आकृति को बनाता है। इसलिये जिसमें आकृति बनायी जाती है, वह उपादान कारण और जो आकृति बनाता है, वह निमित्त कारण होता है। लेकिन जहाँ चेतन ही उपादान कारण है, वहाँ उसे दूसरा बनावे इसकी आवश्यकता नहीं है। अत वही निमित्त कारण भी है। इस प्रकार जहाँ निमित्त कारण और उपादान कारण दोना एक होते हैं, वहाँ आकृति बनायी हुई नहीं होती वह कल्पित होती है।

इसे ठीक से समझना चाहिये। आपको एक आकृति बनानी है। अब यदि आकृति अपने से बाहर बनानी है तो आप मिट्टी, स्वर्ण, पत्थर, लकड़ी या कागज पर उसे बनावेंगे, किन्तु यदि अपने मे ही बनानी है तो केवल उस आकृति की कल्पना मात्र करेंगे।

अब यदि हमारा उपादान कारण सर्वज्ञ-ज्ञानस्वरूप चेतन है तो वह अपने में आकृति बनाने के लिये दूसरे की अपेक्षा नहीं करेगा। अपने आप में स्वय ही वह आकृतियों की कल्पना कर लेगा। अत यह ईश्वर अपने आपको ही समस्त नाम-रूपात्मक प्रपञ्च के रूप में अनुभव कर रहा है। सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पनामात्र है-स्फुरणामात्र है-ज्ञानमात्र है। चैतन्य अनेक नहीं हो सकता, क्योंकि अनेकता तभी होती है जब देश, काल और वस्तु वास्तविक हो। लेकिन देश, काल, वस्तु ज्ञान से ही प्रकाशित हैं। ज्ञान

के होने से हैं और ज्ञान न हो तो उनका भान नहीं हो सकता। अतः देश, काल, वस्तु ज्ञान से भिन्न नहीं है। भेद मात्र ज्ञान द्वारा प्रकाश्य है, ज्ञान का प्रकाशक नहीं है। ज्ञान से ही भेद प्रतीत होता है, अतः ज्ञान से भिन्न भेद की सत्ता नहीं है। जब ज्ञान से भिन्न भेद की सत्ता नहीं है, तब ज्ञान अखण्ड होगा। ज्ञान एक होगा, अनेक नहीं।

सत् स्वरूप ज्ञान क्षणिक नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान में क्षणिकता की धारा नहीं हो सकती। क्षणिकता की धारा जहाँ होगी, वहाँ काल होगा। जहाँ काल नहीं है, वहाँ क्षणिकता भी नहीं है। जहाँ देश नहीं है, वहाँ विषय-विषयी भाव और जड़ चेतन का भाव नहीं है। इस प्रकार देश, काल, और वस्तु से ज्ञानमात्र वस्तु अपने में ही सम्पूर्ण आकृतियों का अपरिच्छिन्न स्वयसिद्ध अद्वितीय अनुभव कर रही है।

'एकोऽहं बहुस्याम्'

'मैं एक से अनेक हो जाऊँ'—यह उसका सकल्प है। यह यदि जड़ होता तो एक रूप से बहुत से रूपों में रूपान्तरित हो जाता, उसमें परिणाम होता; किन्तु वह चेतन है—निर्विकार है अतः उसमें रूपान्तर नहीं है, रूपान्तर का भानमात्र है। इस प्रकार एक अखण्ड परम ब्रह्म ज्ञानस्वरूप परमात्मा से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

जहाँ प्राज्ञ और सर्वेश्वर की एकता का बोध हुआ, सम्पूर्ण सृष्टि अपना सकल्पमात्र हो गयी। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप है। ये शब्द, स्पर्शादि इन्द्रियों की वृत्तियाँ हैं। इन्द्रियों की सत्ता मन के आधीन है। अतः यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मक प्रपञ्च चाहे स्थूल सृष्टि के रूप में हो या सूक्ष्म देव सृष्टि के रूप में—सकल्पमात्र है—ज्ञान मात्र है। यह ब्रह्म का तृतीय पाद है।

गौडपादीय कारिका

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

अत्रैतस्मिन् यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति—

माण्डूक्य उपनिषद् में कुल बारह मन्त्र हैं। उनमें से अब तक छः मन्त्र आ चुके हैं। इन मन्त्रों में साधनभूत तीन पादों का वर्णन हुआ है। अब इन तीन पादों का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए श्री गौड़पादाचार्य की कारिका के आगे के श्लोक हैं। जो बात मन्त्रों में बतायी गयी है, वही बात आगे के इन श्लोकों में स्पष्ट की गयी है।

पहिले थोड़ा सा परिचय इन कारिकाओं का दे लें। माण्डूक्य उपनिषद् को तो सब लोग—सब सम्प्रदाय प्रमाण मानते ही हैं, कारिकाओं को भी वैष्णवाचार्यों ने प्रमाण माना है। जैसे माण्डूक्य उपनिषद् में चार प्रकरण हैं, वैसे ही कारिकाओं में भी चार प्रकरण हैं, क्योंकि कारिका तो उपनिषद् के अनुसार हैं। इनमें से आगम प्रकरण की कारिकाओं को कई वैष्णवाचार्य श्रुति मानते हैं और शेष तीन प्रकरण की कारिकाओं को श्रीगौड़पादाचार्यकृत मानते हैं। कारिकाओं में 'इति वेदान्त निश्चयः' स्पष्ट आता है। यह भी आता है 'यह बात बुद्ध ने नहीं कही।' इतने पर भी कई बौद्धाचार्य कारिकाओं को अपना ग्रन्थ मानते हैं।

शांकर सम्प्रदाय के अनुसार चारों प्रकरणों की ही कारिकायें श्री गौड़पादाचार्यकृत है। श्री गौड़पादाचार्य के शिष्य श्री गोविन्दपाद और श्री गोविन्दपाद के शिष्य भगवान् आदिशङ्कराचार्य हुए। शङ्कराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने भाष्यवार्तिक में और नैष्कर्म्यसिद्धि में कारिकाओं को उद्धृत किया है। श्री गौड़पादाचार्य भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास जी के पुत्र श्री शुकदेवजी के शिष्य हैं। अतएव शुकदेवजी का जो सिद्धान्त श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित हुआ है, वही अजातवाद है। उसी का सार संग्रह इस माण्डूक्य कारिका में है।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥१॥

सम्बन्धियों की अनुकूलता से उसे राग तथा प्रतिकूलता से द्वेष हो जाता है। इस प्रकार सब में राग-द्वेष होने से एक दूसरे का तिरस्कार, स्पर्धा, क्रोध, हिंसादि दोष आगये हैं।

मैंने एक महात्मा से पूछा-'आप लोग समझाते तो हैं कि तुम देह नहीं हो, किन्तु जब कोई देह का अपमान करता है तो बहुत दुःख होता है।'

महात्मा बोले-'यदि कोई मनुष्य कूड़ा फेंकने के स्थान पर बैठ जाय और कोई उस पर कूड़ा फेंक दे तो दोष किसका है-बैठने वाले का या कूड़ा फेंकनेवाले का? जो गन्दी नाली में जाकर बैठेगा, उस पर गन्दगी ही तो बहेगी। यह मल-मूत्र, हड्डी-मांस, चर्म-स्नायु, कफ-पित्त, रक्त-मांस का लोथड़ा देह है। इस देह में 'अहं' करके जब तुम बैठोगे तो तुम्हें अपमान और दुःख छोड़ कर और क्या मिलेगा? यह क्या कोई पूज्य स्थान है कि इसमें अहंता करके बैठने वाले की पूजा हो? अतः देह में अहंता करने वाले का तिरस्कार होना तो स्वाभाविक है। यह तिरस्कार इसलिये उचित भी है कि इससे समझ आवे कि मैं किस गन्दे स्थान पर बैठा हूँ।'

हमने जो देह को 'मैं' मान लिया, यही जीवन की सबसे बड़ी भूल है। यही सबसे बड़ा दुःख है। अब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का विवेक किया गया तो उसका अभिप्राय यह निकला कि हम देह नहीं हैं, देह से भिन्न हैं। हम देह से भिन्न हैं और सम्पूर्ण विश्व हमारा स्वरूप है। यह प्रथम पाद-अवस्थात्रय विवेक की पहिली शिक्षा है। अब इसमें दम्भ, दर्प, अभिमानादि आसुरी सम्पत्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। किसी को सताने का अवकाश ही नहीं है। अब देह को लेकर होनेवाला दुःख, संघर्ष समाप्त हो गया।

दूसरा पाद-दूसरी शिक्षा है कि तैजस भी विभु है। शरीर को छोड़ दें, तब भी मनोवृत्तियाँ दुःख देती हैं। अब इस शिक्षा में कहा गया कि तुम एक देह में सीमित मन नहीं हो। विश्व की समस्त सूक्ष्मता तुम्हारी हैं। सबके विचार, सबके मत, सबके संकल्प हमारे। अब किसी विचार या संकल्प का विरोध करने की आवश्यकता नहीं रही। मतभेद मूलक विवाद और दुःख दूर हो गया।

तीसरा पाद-तीसरी शिक्षा है कि प्राज्ञ भी विभु है। समष्टि में जो आनन्द है, विश्राम है, निद्रा है, समाधि है- यह सब प्राज्ञ है और वह अपना स्वरूप है। इसलिये यह हो, यह न हो यह आग्रह मिट गया। एक अन्तःकरण अमुक अवस्था में रहे, अमुक अवस्था में न रहे, यह आग्रह चला गया। इस प्रकार अवस्था विशेष के रहने न रहने का दुःख भी चला गया।

जाग्रत् अवस्था में जब हम काम करते हैं तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों कार्य करते हैं। स्वप्नावस्था में विश्व काम नहीं करता, प्राज्ञ और तैजस काम करते हैं। सुषुप्ति में

विश्व और तैजस दोनों प्राज्ञ में लय हो जाते हैं । इसलिये सुषुप्ति में स्वप्न या जाग्रत् का स्मरण नहीं है। सुषुप्ति से स्वप्न में अर्थात् प्राज्ञ से तैजस में आने पर सुषुप्ति का स्मरण होता है । जाग्रत् में–तैजस से विश्व में आने पर सुषुप्ति और स्वप्न दोनों का स्मरण होता है ।

अब आत्मा को देखें तो वही जाग्रत् में है । यह देख रहे हैं, सुन रहे हैं, छू रहे हैं—यह आत्मा ही है । देखने, सुनने वाला आत्मा है और अन्य के रूपमें देखा, सुना जाने वाला भी अपना आपा ही है। स्वप्न में भी यह आत्मा रहता है और सुषुप्ति में भी रहता है । तीनों अवस्थाओं में आत्मा–अपना स्वरूप–'मैं' रहता है, किन्तु अवस्थायें तो एक के समय दूसरी रहती नहीं हैं । अतः तीनों अवस्थाओं में रहनेवाली वह वस्तु–आत्मा ही तुरीय तत्त्व है ।

यह तुरीय वस्तु जाग्रत्-स्वप्न–सुषुप्ति में, विश्व–तैजस–प्राज्ञ में, ध्याता-ध्यान ध्येय में सत्त्व रज-तम में, प्रमाता-प्रमाण प्रमेय में अर्थात् समग्र त्रिपुटी में है। उसी का नाम परमात्मा है । यह तीनों में है और तीनों में नहीं है ।

श्रुति में एक दृष्टान्त दिया है कि एक बहुत बड़ी सरिता में एक महामत्स्य है। वह मछली कभी बीच धारा में रहती है और कभी किनारों पर रहती है । कभी एक किनारे पर और कभी दूसरे किनारे पर। किनारे पृथक् हैं, धारा पृथक् है और मछली उनसे पृथक् है । तीनों स्थानों पर रहने से मछली तीन नहीं होगयी । मछली एक ही है। मछली नदी में पानी से अलग है, अतः दोनों किनारों और धारा से असंग है। इसी प्रकार जब एक ही चेतन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों में आता है तो वह तीनों से पृथक् है और तीनों से असंग है ।

इस प्रकार प्रतिसन्धान करने से आत्मा की असंगता का अनुभव होता है । जाग्रत् में स्वप्न और सुषुप्ति का स्मरण होता है, तब यह स्पष्ट है कि मैं स्वप्न और सुषुप्ति से पृथक् हूँ । जाग्रत् को छोड़कर मैं स्वप्न या सुषुप्ति में चला जाता हूँ, इसलिये जाग्रत् से भी अलग हूँ । तीनों अवस्थाओं की मुझे स्मृति होती है, अतः मैं तीनों अवस्थाओं में एक हूँ । यह अनुभवसिद्ध वस्तु हुई ।

यह ज्ञान परम सम्पत्ति है । इससे बड़ी, इससे पवित्र, इतनी उच्चकोटि की दूसरी कोई सम्पत्ति नहीं । सम्पत्ति उसे कहते हैं जो सुख का साधन बने। स्वर्ण जवाहर, मकान–मोटर आदि जिन्हें सम्पत्ति कहा जाता है, उनके विषय में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ये सुख के साधन नहीं हैं । क्योंकि जिनके पास ये सब हैं, क्या वे सुखी हैं? क्या उनके चित्त में शान्ति है? अतः इस भौतिक सम्पत्ति का सुख से कोई सम्बन्ध दीखता नहीं ।

यह भौतिक सम्पत्ति जहाँ है–वहाँ सुख हो ही, यह नियम नहीं है। यह नियम भी नहीं है कि जहाँ यह सम्पत्ति न हो, वहाँ दुःख ही हो । बिना इस सम्पत्ति के भी बहुत

से लोग सुखी हैं। सुख इस सम्पत्ति के बिना भी रहता है। इस सम्पत्ति में सुख है, यह बात अज्ञान से मानी हुई है।

अब प्रश्न उठा कि सुख का किस सम्पत्ति से सम्बन्ध है? इसका सम्बन्ध है एकता, समता और असंगता से। यही वास्तविक सम्पत्ति है। तत्त्वदृष्टि से एकता, चित्तभूमि में समता और व्यवहार में असंगता। जब नाना प्रकार के व्यवहार करते हुए भी उसमें आसक्ति न हो, व्यवहार में विभिन्न विषम आचरण करते हुए भी चित्त में समता हो, संयोग-वियोग, अपने-पराये, सुख-दुःख, मान-अपमान-सबमें समता हो और भेद दीखने पर भी उसे प्रतीतिमात्र समझ लिया गया हो, तब दुःख का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

जैसे गंगा का प्रवाह है, जैसे वायु चलती है, जैसे पृथ्वी है, ऐसा असंग जीवन होना चाहिये। पृथ्वी पर कितने लोग उत्पन्न होते-मरते हैं, वायु में कितनी सुगन्ध-दुर्गन्ध मिलती है, गंगा में पुष्प और मुर्दे दोनों बहते हैं। इनमें जो असंगता है, वही असंगता जीवन में आने दो।

यह राग-द्वेष स्थायी कहाँ है? आज जिससे बहुत राग जान पड़ता है, कल उसी से द्वेष हो जाता है। आज जिस से शत्रुता हुई, कल वही मित्र बन जाता है। सुषुप्ति में कहाँ राग-द्वेष रहता है? अपने में हम व्यर्थ एक प्रवहमान भाव को आरोपित करके सुखी-दुःखी होते हैं।

स्थूल जीवन में ही राग द्वेष की यह स्थिति है कि वे आज हैं, कल नहीं। अब अपने विश्व जीवन की दृष्टि से देखो। अथवा विश्व के मूल में जो संकल्प है, उस ईश्वर की दृष्टि से देखो तो संसार में बन्धन कहाँ है? राग-द्वेष कहाँ है?

किसी समय जीवन में दुःख आवे तो कल्पना करना कि उसके दो वर्ष पश्चात् यह दुःख कितना रहेगा। दो घंटे पीछे ही वह उतना नहीं रहेगा। दुःख हल्का होता चला जाय और सुख का विकास होता जाय, यही जीवन का नियम है। दुःख आता है बाहर से, अतः वह क्षीण होता जायगा और अपना स्वरूप आनन्दरूप है, अतः व्यवहार में असंगता होनी इष्ट है।

शुद्धि-अशुद्धि, धर्म कर्म, कोई भी भाव, कोई भी अवस्था, कोई भी नाम-रूप ऐसा नहीं, जो आत्मा के साथ स्थिरता से जुड़ा रहे। ये सब आगत क्षणिक हैं। आते-जानेवाले हैं। सूर्य के प्रकाश में कितने कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते-मरते हैं; किन्तु सूर्य का प्रकाश ज्यों का त्यों है। इसी प्रकार स्वयंप्रकाश द्रष्टा आत्मा सबसे पृथक् है, सबमें एक है। सबसे असंग है। सर्वथा शुद्ध है।

शुद्धि-अशुद्धि कहाँ होती है? जहाँ एक वस्तु दूसरी में मिल जाय, वहाँ अशुद्धि होती है। जहाँ दूसरी वस्तु ही नहीं, वहाँ अशुद्धि नहीं होती।

असंगता भी दो प्रकार की होती है। एक तो दूसरी वस्तु हो और उससे असग हो। जैसे जल में कमल है। जल है और कमल भी है, किन्तु कमल जल से असंग है। लेकिन स्वप्न में द्रष्टा असग है का तात्पर्य यह है कि वहाँ दृश्य मिथ्या है। उस मिथ्या दृश्य का अधिष्ठान स्वप्न का द्रष्टा स्वप्न के दृश्यों की सत्ता न होने से असग है। इसी प्रकार आत्मा अद्वितीय होने से असग है। क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं।

अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के विवेक से यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन तीनों में रहने वाला द्रष्टा एक है। वह इन तीनों से विलक्षण है। तीनों से असग है—परिस्थितियों मे असस्पृष्ट और शुद्ध है।

इसी को और स्पष्ट समझलो। गीता में भगवान् ने कहा है कि:—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥"

सुख-दुःख देने वाले शीत-उष्ण आदि तन्मात्राओं के स्पर्श अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सब अनित्य हैं और आने-जाने वाले हैं। धर्म-अधर्म रूप क्रिया, धर्म-अधर्म के जनक हेयोपादेय अज्ञान-मूलक राग-द्वेष, इनका फल सुख-दुःख और इनके कर्ता-भोक्तापने का अभिमान, यह सब जाग्रत् और स्वप्न मे रहते हैं, सुषुप्ति में नहीं रहते। सुषुप्ति में इनकी निवृत्ति हो जाती है।

हमारे धर्म-अधर्म, राग-द्वेष, सुख-दुःख ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के भिन्न-भिन्न हैं, अतः इनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध स्वरूप इन जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं से पृथक् होकर शुद्ध, और शुद्ध होकर असग है तथा तीनों अवस्थाओं में वह एक है। अवस्थाओं के विवेक से आत्मा का एकत्व, शुद्धत्व असगत्व तथा अवस्थाओं से पृथक्त्व ये चार बातें सिद्ध हुई।

ये तीनों अवस्थायें आत्मा मे कल्पित हैं। इनका अध्यारोप आत्मा को समझने के लिये किया गया है। आप सोचें कि सुषुप्ति अनुभव सिद्ध है क्या? 'मैं सुख से सोया था' यह ज्ञान जिसे हुआ, जिसको सुषुप्ति का अनुभव हुआ, वह तो सोया नहीं था। सो गया होता तो अनुभव कैसे करता? जो सो गया था उसने अनुभव नहीं किया और जिसने अनुभव किया वह सोया नहीं था। सच बात यह है कि बुद्धि के साथ तादात्म्य करके बुद्धि की सुषुप्ति हम अपने में आरोपित कर लेते हैं। अब यदि बुद्धि और अनुभव को पृथक् कर दें तो बुद्धि सो गयी थी, उसे अपने सो जाने की स्मृति नहीं हो सकती और अनुभव सोया नहीं था। अतः सुषुप्ति स्मृतिरूपा नहीं है। अपने में कल्पित आरोपित है।

'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।'

द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, यह श्रुति कहती है। अब मृत्यु को लें, तो मृत्यु की स्मृति भी नहीं होती। 'मैं मर गया था' ऐसा स्मरण किसी को नहीं होता। देह के साथ तादात्म्य करके 'मैं मरूँगा' यह भय होता है। यह भय कोई सच्चा नहीं है, कल्पना है। यह कल्पना क्यों हुई? दूसरों को मरते देख कर; क्योंकि अपने मरने का अनुभव तो कभी किसी को होता नहीं; किन्तु दूसरों को मरते आपने कहाँ देखा? मरते देखा है केवल देह को। लेकिन देह मरता तो नहीं। देह पञ्चभूत है और मरने के बाद पञ्चभूत ही रहता है। आत्मा या जीव देखा नहीं। अतः आत्मा के अज्ञान से ही मृत्यु की कल्पना हम करते हैं। तात्पर्य यह निकला कि अग्रहण का नाम ही मृत्यु है। अग्रहण का नाम ही सुषुप्ति है।

अब स्वप्न और जाग्रत् को लें। स्वप्नकाल में जाग्रत् की स्मृति नहीं होती और जाग्रत् में स्वप्न झूठा प्रतीत होता है। अतः स्वप्न से जाग्रत् का और जाग्रत् से स्वप्न का बाध हो गया। ये दोनों अवस्थायें भानमात्र-प्रतीतिमात्र हैं। प्रपञ्च के अस्तित्व में यही दोनों अवस्थायें प्रमाण हैं और दोनों का बाध हो गया तो पूरे प्रपञ्च का बाध होगया। केवल साक्षी तटस्थ रह गया। इस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ का विवेक तुरीय के ज्ञान तक ले जाने के लिए है।

अब जाग्रत् अवस्था को ही लो तो इसमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों हैं और हम तुरीय के तुरीय हैं इसमें भी। यही बात अब आगे कही जा रही है :—

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः :—

अब श्री गौड़पादाचार्य की कारिका का यह जो अगला-दूसरा श्लोक है, वह जाग्रत् अवस्था में ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों का अनुभव होता है, यह बात बतलाने के लिये है।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः॥ २॥

दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। "इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" (बृ. उ. ४।२।२) इति श्रुतेः। इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः। आदित्यान्तर्गतो वैराजः आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः। नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देह स्वामी। न स्वतो भेदानभ्युपगमात्। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे०उ० ६।११) इति श्रुतेः।" क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत।" (गीता १३।२)

'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।' (गीता १३।१६) इति स्मृतेः। सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य। दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्न

इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति। यथात्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव।

आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति; मनो व्यापाराभावात्। दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते; तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानम्। "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" (छा०उ०४।३।३) इति तेः।

'प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते।' (छा० उ० ४।३।३) इति श्रुतेः

तैजसो हिरण्यगर्भो मनः स्थत्वात्। "लिङ्गं मनः" (बृ० उ० ४।४।६) "मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ० उ० ५।६।१) इत्यादि श्रुतिभ्यः।

ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते। तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथमव्याकृतता ?

नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्। यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः। परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम्। तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य।

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः।' (छा० उ० ६।८।२) इति श्रुतेः।

ननु तत्र 'सदेव सोम्य' (छा०उ० ६।२।१) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्।

नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः। यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् "नेति नेति" (बृ०उ० ४।४।२२, ४।५।१५) "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै. उ. २।९) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्" (के. उ. १।३) इत्यवक्ष्यत् "न सत्तन्नासदुच्यते" (गीता १३।१२) इति स्मृतेः।

निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, बीजाभावाविशेषात्।
ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात् सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः।

अत एव "अक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २।१।२)। "सबाह्याभ्यन्तरो

ध्यज.' (मु० उ० २।१।२)। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (त० उ० २।९)। "नेति नेति" (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः। तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धजाग्रदादि-रहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति। बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ॥ २ ॥

देह शब्द संस्कृत में 'दिह् उपचये' धातु से बना है। इसका अर्थ है ढेर अर्थात् हड्डी, मांस, स्नायु, रक्त, कफ, मेद आदि की एक राशि को देह कहते हैं। जैसे पहिया एञ्जिन, कल-पुर्जे आदि की एक राशि-विशेष को मोटर कहते हैं। यह देह नाम कल्पित है।

इस साढ़े तीन हाथ के हस्तपादादियुक्त विमान में ही परमात्मा बैठा है। उसे यहीं ढूँढना है—

'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष परः॥'—गीता

अब इस शरीर में परमात्मा का अन्वेषण करना है। इसी अन्वेषण के लिये कहा-'त्रिधा देहे व्यवस्थित' देह में वह चेतन तीन प्रकार से स्थित है। इसीको भगवान् भाष्यकार स्पष्ट करते हैं :-

जब हम जाग्रत् अवस्था में दाहिने नेत्र में आकर सृष्टि का अनुभव करते हैं तो हमारी संज्ञा विश्व होती है।

इस समय हम बाहर घड़ी को देख रहे हैं तो यहाँ होकर देख रहे हैं? यह नेत्र पद केवल नेत्र का वाचक नहीं है। यह कर्ण, नासिका, त्वचादि ज्ञानेन्द्रियमात्र का वाचक है। अर्थात् हम ज्ञानेन्द्रियों में बैठ कर उनके द्वारा जगत् के विषयों का अनुभव करते हैं। यहाँ दक्षिण नेत्र प्रधान होने से उसे इन्द्रियों के उपलक्षण रूप में कहा गया है।

जब हम बाहर के अधिदैव के प्रकाश का सहारा लेकर अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि वरुण, अश्विनीकुमारादि इन्द्रियों के अधिदेवताओं के आश्रय से बाहर के विषयों का अनुभव करते हैं तब हमारा नाम विश्व होता है।

जब हम बाहर के प्रकाश का सहारा नहीं लेते, भीतर ही विषयों को देखते हैं तो हमारा नाम तैजस होता है। आप मन में जो वृन्दावन, कलकत्ता, दिल्ली आदि की कल्पना करते हैं, वहाँ के दृश्य देखते हैं, वहाँ बाहर का कौन सा प्रकाश है? वहाँ के सब दृश्यों को आप स्वयं प्रकाशित करते हैं।

जब हम बाहर या भीतर कहीं किसी प्रकाश का आश्रय लिए बिना कुछ नहीं देखते, तब हमारा ही नाम प्राज्ञ होता है।

इन्ध का अर्थ है दीप्तिगुण। यह दक्षिण नेत्र में बैठने वाला पुरुष दीप्तिगुण-प्रकाश-स्वरूप है। नेत्र में बैठकर जो द्रष्टा बना है और सूर्य में प्रकाशक रूप से स्थित है, दोनों एक ही हैं।

हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता है और क्षेत्रज्ञ द्रष्टा जो दक्षिण नेत्र में बैठने वाला है, यह देह का स्वामी है। ये दोनों पृथक्-पृथक् है, ऐसी बात नहीं है।

क्योंकि इस चैतन्यस्वरूप में भेद नहीं है। केवल उपाधि के भेद से चैतन्य में भेद प्रतीत होता है।

श्रुति स्पष्ट कहती है कि एक ही देवता समस्त प्राणियों में छिपा है। प्राणी तो पृथक् पृथक् हैं, किन्तु उनमें प्रकाशात्मा एक ही है।

ये जो प्राणी पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, यह जिसमें दिखायी पड़ रहे हैं, उसमें भी नहीं हैं और जो देख रहा है उसमें भी नहीं हैं। द्रष्टा और अधिष्ठान की एकता का बोध न होने से ये दिखायी पड़ रहे हैं।

जैसे यह घड़ी दीख रही है। यह आकाश में दीख रही है अथवा धातु में दीख रही है और ज्ञान के प्रकाश से दीख रही है। जब तक आकाश या धातु रूप अधिष्ठान पृथक् और देखने वाला पृथक् है, तभी तक घड़ी दीखती है।

स्वप्न में जो आकाश या पदार्थ दीखते हैं, वे द्रष्टा से पृथक् नहीं होते। यहाँ द्रष्टा ही अधिष्ठान है, वही उन पदार्थों के रूप में बन गया है और उनका प्रकाश भी वही है। इसी प्रकार जाग्रत् में भी द्रष्टा ही अधिष्ठान है, किन्तु यह ज्ञात न होने से भेद दीख रहा है।

जब हमने अपने को देश में परिच्छिन्न माना तो दूसरे परिच्छिन्न देश में घड़ी दीखी। जब हमने अपने को काल में परिच्छिन्न माना तो दूसरे परिच्छिन्न काल में घड़ी दीखी। जब हमने अपने को वस्तु के रूप में परिच्छिन्न माना तो दूसरी परिच्छिन्न वस्तु के रूपमें घड़ी दीखी। जब घड़ी से उपहित चैतन्य से जब तक हमारा एकत्व नहीं होगा, तब तक हम पृथक् और घड़ी पृथक् बनी रहेगी। लेकिन घड़ी का ज्ञान हमें कब होगा, जब घड़ी अवछिन्न चैतन्य से हम वृत्ति के द्वारा एकत्व प्राप्त करेंगे। यहाँ वृत्त्यारूढ चैतन्य परिच्छिन्न है। यदि हम समझ लें कि वृत्ति के द्वारा चैतन्य में परिच्छेद नहीं होता और वस्तु के द्वारा भी परिच्छेद नहीं होता तो अपनी अपरिच्छिन्नता को जान लेने पर अपने अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप में द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय दोनों बाधित हो जायेंगे। अखण्ड अपरिच्छिन्न सत्ता में न घड़ी पृथक् है, न घड़ी का ज्ञाता।

अपनी परिच्छिन्नता की स्वीकृति अविवेक से है। इसी अविवेक से अपरिच्छिन्न चेतन की कल्पना हुई है। इसे दूर कर देने पर एक परिपूर्ण परमात्मा-ब्रह्म ही रहता है।

भूत-भवन्तीति भूतानि अर्थात् जो होते हैं, उनका नाम भूत है। एक वस्तु बनायी जाती है और एक वस्तु ज्यों की त्यों रहती है। बनायी हुई वस्तु के नियन्त्रण की प्रक्रिया का नाम आरम्भवाद है। अर्थात् भगवान् ने सृष्टि बनायी।

होने की प्रक्रिया का प्रतिपादन परिणामवाद है। अर्थात् स्वयं भगवान् सृष्टि बन गया।

सत्य वस्तु के प्रतिपादन का नाम विवर्तवाद है। भगवान् ही है। सृष्टि कुछ नहीं है। सृष्टि केवल प्रतीति है।

जहाँ अधिष्ठान जड़ होता है, वहाँ द्रष्टा पृथक् होता है, किन्तु :—

"जहाँ होइ चेतन आधारा। तहाँ न द्रष्टा होवइ न्यारा॥"

जहाँ अधिष्ठान चेतन है, वहाँ द्रष्टा चेतन होने से अधिष्ठान से अभिन्न है।

अब यहाँ एक बात ठीक समझने की है। जो अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हैं, उनमें अधिकांश बुद्धि में अहं भाव करके बैठे हैं। 'ब्रह्म को जानने वाली बुद्धि मेरी' जहाँ यह भाव है, वहाँ ब्रह्मज्ञान कहाँ है ? वहाँ तो ब्रह्म ज्ञाता परिच्छिन्न हो गया। ज्ञाता बनकर बैठने पर अन्त:करण का त्याग नहीं हुआ। अतः ऐसे लोग या तो योग में लगते हैं या उपासना में। अन्त:करण में 'मैं-मेरापन' रखना ही तो जीवत्व है। वस्तुत: ब्रह्मज्ञान-ब्रह्मस्वरूप का अन्त:करण से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें तो दृश्य की भाँति अन्त:करण भी आरोपित है।

अन्त:करण का भी बाध हो जाना चाहिये। उसकी सत्ता बनाये रख कर ब्रह्म-स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ। प्राज्ञ, तैजस, विश्व-सब मैं ही हूँ। यह सब दृश्य प्रपञ्च, स्वर्ग-नरक मुझ में ही कल्पित हैं। मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं। यह कोई भावना, स्थिति या वृत्ति नहीं है। यह तो सत्य वस्तु है।

तुम पहिले बद्ध थे, जीव हो गये थे और अब ज्ञान से मुक्त हुए-यही तो भ्रम है। तुम ज्यों के त्यों हो। तुम मुक्त ही थे। इसे तुमने जान लिया-बस। ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ करता, केवल अविद्या की निवृत्ति होती है। वृत्तिज्ञान भी अविद्या निवृत्त करके बाधित हो जाता है।

ब्रह्मनिष्ठ की निष्ठा नहीं है। निष्ठा तो अन्त:करण की, व्यक्ति की वस्तु है। उसका स्वरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अविद्या निवृत्त करके यह निश्चय-विवेक स्वयं बाधित हो जाता है। अतः यह जो चैतन्य है, वह एक है। उसमें भेद नहीं है।

उपनिषदों में महावाक्यों द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन हुआ है, गीता में इस आधे श्लोक द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। इसमें 'भारत' सम्बोधन अधिकारी की योग्यता सूचित करता है। भरतवंश में उत्पन्न होनेके कारण आनुवंशिक योग्यता और 'भा' प्रतिभा में 'रत' अर्थात् बुद्धि प्रेमी-विचारवान्। यह मौलिक योग्यता हो गयी।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इसमें 'क्षेत्रज्ञ' 'त्वम्'-पदार्थ और 'माम्' 'तत्'पदार्थ है और दोनों के समानाधिकरण से एकता तथा 'विद्धि' से ज्ञान। जो क्षेत्रज्ञ है वह मैं और जो मैं हूँ सो क्षेत्रज्ञ, इस बात की भावना नहीं करनी है, इसे जानो। इस प्रकार आत्मा-परमात्मा की एकता का प्रतिपादक होनेके कारण यह महावाक्य हो गया।

इसमें एक विशेषता है 'चापि' अर्थात् भी। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' क्षेत्रज्ञ भी मुझे समझो। इस श्लोक का स्पष्ट तात्पर्य गीता के तेरहवें अध्याय में ही है –

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥"

यह शरीर हो गया क्षेत्र और इस क्षेत्र में रहकर इसे जाननेवाला—द्रष्टा है क्षेत्रज्ञ। क्षेत्रज्ञ-द्रष्टा क्षेत्र का वर्णन करके क्षेत्रज्ञ का वर्णन करना चाहिये था, किन्तु क्षेत्रज्ञ का स्वरूप सब समझ नहीं सकते, इसलिये साधन का वर्णन किया।

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।' इत्यादि

अब इसे समझना चाहिये। अमानित्व ज्ञान है और मानित्व अज्ञान है। अदम्भित्व ज्ञान है और दम्भित्व अज्ञान है। यही बात सबके साथ हुई। साधारण लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि जहाँ मान न हो वह अमान, उस अमान का अभिमानी अमानी। इस अमानी का भाव हुआ अमानित्व। लेकिन यह परम्परा संगत नहीं है। अमानीपने में जो स्थिति है, उसका नाम ज्ञान नहीं है। किसी वस्तु के मान को ही मान कहते हैं। मानी उसे कहेंगे जो एक परिणाम में रहनेवाली वस्तु को अपनी मान ले। इस देह को अपना मानना हुआ मान। इस मानका सर्वथा निषेध हुआ अमानित्व। अर्थात् अपने में मान का और मानीपने के अभिमान का और उस अभिमान के भाव का भी निषेध करने पर अमानित्व होगा।

यहाँ यह विचार करने की बात है कि भगवान् ने गीता के इस तेरहवें अध्याय के प्रारम्भ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ इन दो बातों के निरूपण की प्रतिज्ञा की थी। साधन बतलाने की बात तो की नहीं थी। लेकिन क्षेत्र का निरूपण करके बीच में ही साधन का वर्णन उन्होंने किया। फिर बारहवें अध्याय में इन साधनों का निरूपण हो चुका है। तब ये निरूपण यहाँ क्यों हैं?

बारहवें अध्याय तथा तेरहवें अध्याय के साधन एक नहीं हैं। बारहवें अध्याय में 'तत्' पदार्थ की प्रधानता है और तेरहवें अध्याय में क्षेत्रज्ञ का वर्णन 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' आदि के द्वारा किया गया है। यह ज्ञेय रूप में जो ब्रह्म का वर्णन है, वही क्षेत्रज्ञ है।

'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।'

इसने द्वारा स्पष्ट कह दिया कि दृश्य जगत् में बाहर वही चर-अचर सब है और

प्राणियों के भीतर क्षेत्रज्ञ भी वही है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्म से अभिन्न है।

यहाँ चार बातें ध्यान में रखने की हैं:—१-क्षेत्र सहिष्णु है, अनित्य है और क्षेत्रज्ञ नित्य है। २-क्षेत्र विकारी है 'सविकारम्' और क्षेत्रज्ञ निर्विकार है। ३-जो विकारी है, वह मिथ्या और जो निर्विकार है वह सत्य। ४-जो मिथ्या है, वह अपने अधिष्ठानस्वरूप सत्य से भिन्न नहीं है। इस प्रकार गीता का तेरहवाँ अध्याय महावाक्य के अर्थ का निरूपण ही है।

गीता का चौदहवाँ अध्याय जीवन्मुक्ति का निरूपण है। क्योंकि चौदहवें अध्याय में गुणों की अवस्था तथा विलास का वर्णन करके आत्मा को गुणातीत बताया। गुणों की किसी भी अवस्था से आत्मा का कुछ बिगड़ता नहीं, यह प्रतिपादित किया।

बारहवें अध्याय में भक्ति 'तत्' पदार्थ का अनुसन्धान है। तेरहवें अध्याय का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विवेक आत्मा-अनात्मा का विवेक है और चौदहवें अध्याय में जीवन्मुक्ति का निरूपण है।

तीसरा प्रमाण भी भगवान् भाष्यकार ने गीता का ही दिया। यह प्रमाण भी तेरहवें अध्याय का ही है। यहाँ यह बात जान लेना चाहिये कि आचार्य गण गीता को स्मृति ग्रन्थ की कोटि में मानते हैं।

जगत् के मूल में जो तत्त्व है, वह भूतों में-प्राणि-पदार्थों में अविभक्त है; किन्तु विभक्त की भाँति प्रतीत होता है।

वस्तु बनी है, हुई, की गई—यह तीन स्थिति हैं। इसमें बनना आरम्भवाद, होना परिणामवाद और है-विवर्तवाद है। वैशेषिक, न्याय आदि आरम्भवादी हैं। सांख्य, योग आदि प्रकृतिपरिणामवादी हैं। पूर्वमीमांसा कर्मपरिणामवादी है। श्रीरामानुजादि ब्रह्मपरिणामवादी हैं। बौद्ध शून्य अथवा विज्ञानपरिणामवादी हैं। अद्वैत वेदान्त विवर्तवादी है।

विवर्तवाद का तात्पर्य है कि कोई वस्तु बनायी नहीं गई। वस्तु कोई हुई नहीं। बनायी गई और हुई ज्ञात होती है। यह भी ज्ञात होता है कि ऐसे बनायी गई या ऐसे बनी। इसमें ज्ञात होना तो असन्दिग्ध है और ऐसी बनी या ऐसे बनायी गई, यह सन्दिग्ध है। यह केवल सन्दिग्ध ही नहीं, विपर्यय —मिथ्या ज्ञान है; अतः ज्ञान स्वतः प्रमाण है और ज्ञान सापेक्ष्य पदार्थ परतः प्रमाण हैं। ज्ञान के बिना उनकी सिद्धि नहीं होती, अतः ज्ञान से भिन्न उनकी सत्ता नहीं है।

इस प्रकार ये जितने प्राणी-पदार्थ पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, ये प्रतीत होते हैं। इनमें जो अविभक्त है वही मूल तत्त्व है क्योंकि है के बिना होना नहीं हो सकता।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

जो वस्तु है, वह नित्य है। उसका अभाव नहीं हो सकता। वह न उत्पन्न होती, न मिटती। जो वस्तु नहीं है —जो असत् है उसका भी जन्म-मृत्यु नहीं है, क्योंकि वह कभी होती ही नहीं। इसका तात्पर्य हुआ कि जन्म मृत्यु दोनों अपदार्थ हैं, ये कोई तत्त्व नहीं। केवल प्रतीत होते हैं। जन्म-मृत्यु प्रतीत होते हैं, किन्तु सिद्ध नहीं होते। अत सत्य-असत्य रूप से निर्वचनीय नहीं, अनिर्वचनीय है। जो वस्तु अनिर्वचनीय होती है, वह अपने स्वरूप से भिन्न नहीं होती, क्योंकि अपने से भिन्न 'इदम्' तभी होगा, जब उसका निर्वचन हो।

जितने प्रतीत होनेवाले पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप मन वाणी से अगोचर जो वस्तु है, वही विभक्त जैसी प्रतीत होती है। पृथक्-पृथक् है नहीं, केवल पृथक्-पृथक् जान पड़ती है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि वेदान्त सिद्धान्त में ईश्वर-प्राज्ञ का, हिरण्यगर्भ और तैजस-क्षेत्रज्ञ का, विराट्, और विश्व का भेद स्वीकृत नहीं है। भेद केवल ऐन्द्रियक है—प्रातीतिक है। एक ही वस्तु है जो अपने को विश्व, तैजस, प्राज्ञ के रूपमें तथा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर के रूपमें प्रतीत करा रही है। स्वय इन रूपों में स्फुरित हो रही है। स्फुरण के अतिरिक्त भेद नाम की कोई वस्तु नहीं है।

यद्यपि विश्व सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान रूप से ही है फिर भी विषयों को देखकर संस्कार के आधान में विशेषता दाहिने नेत्र में होने से वहाँ विश्व का निर्देश है।

हम लोगों पर सुने माव का उतना संस्कार नहीं पड़ता, जितना देखे का पड़ता है। इसी प्रकार नासिका से सूँघ कर, त्वचा से छूकर तथा रसना से चखकर भी हम उतना संस्कार नहीं ग्रहण करते, जितना देखने का संस्कार पड़ता है। इससे निष्कर्ष निकला कि नेत्र में हमारी उपस्थिति अधिक है। वैसे यहाँ दक्षिण नेत्र सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है।

इन्द्रियों के विषय में दो दार्शनिक मत हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। एक मत तो यह कि इन्द्रियाँ विषयों के पास जाकर उनको ग्रहण करती हैं और दूसरा यह कि विषय इन्द्रियों के पास जाते हैं, तब उनका ग्रहण होता है।

ज्ञानेन्द्रियों की पूर्ति कर्मेन्द्रियों द्वारा होती है। ज्ञानेन्द्रिया को जो विषय प्राप्त करने की इच्छा होती है, कर्मेन्द्रियाँ उसके लिये क्रियाशील होती हैं। अत कर्मेन्द्रिय उनकी सचालक हैं, भृत्य हैं। वस्तु को बाहर से कर्मेन्द्रिय लाती हैं और ज्ञानेन्द्रिय उन्हें भीतर पहुँचाती हैं। बुद्धि उनकी प्राप्ति, भोग तथा भोगजन्य सुख का अभिमान करती है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान बुद्धि में है।

अब ये इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का संस्कार ले जाकर भीतर छोड़ देती हैं। कर्म के द्वारा भी संस्कार पड़ता है और ज्ञान के द्वारा भी सब संस्कार चित्त में एकत्र होते हैं।

जब हम दाहिने नेत्र में आकर बाहर का रूप देखकर नेत्र बन्द कर लेते हैं और नेत्र

बन्द करके उसी रूप का स्मरण करते हैं, तब वह रूप भीतर होता है। जैसे स्वप्न में वस्तु सत्यरूप होती है, भीतर होती है, वैसे ही जाग्रत् में भी वह स्मरणरूप एवं संस्काररूप तथा भीतर होती है। बाहर रूप देखने वाला तो विश्व हुआ और स्वप्न में उस रूप को देखनेवाला तैजस हुआ। इसका तात्पर्य हुआ कि बाहर नेत्र में बैठ कर देखने वाला विश्व और भीतर मन में बैठकर देखनेवाला तैजस है। अब यह देखना है कि जाग्रत् में बाहर नेत्र द्वारा जिसने रूप देखा वह विश्व और जो नेत्र बन्द करके स्मरण करता है भीतर मन में वह तैजस पृथक्-पृथक् हैं क्या? ऐसा नहीं है। जो मैं बाहर रूप देखता हूँ, वही मैं नेत्र बन्द करके उसका स्मरण भी करता हूँ। अतः मन में बैठकर स्मरण करने वाला गया स्वप्न देखने वाला तैजस भी विश्व ही है।

जो जाग्रत् के दृश्य देखने वाला है, वही स्वप्न के दृश्य भी देखता है। दृश्य-भेद एवं अवस्था-भेद होने पर भी द्रष्टा में भेद नहीं है।

पृथक्-पृथक् इन्द्रियों से पृथक्-पृथक् विषयों का अनुभव करते हुये भी अनुभव करने वाला एक है। विषयों में बाहर-भीतर का भेद होने पर भी हम एक हैं। विषय तो जो कल था, आज नहीं; किन्तु उनका अनुभव करनेवाला मैं कल भी था, आज भी हूँ। अर्थात् मुझ में आज-कल का कालकृत भेद नहीं है।

हम लोग भूल से संस्कारों के अविचार के कारण जकड़े हैं। संस्कार सभी अवि-चार जन्य हैं। मूल तत्त्व असंग है। उस पर कोई संस्कार पड़ता ही नहीं। उस असंसारी को हमने संस्कारयुक्त मान लिया और तब एक संस्कार को धोने-दूर करने को दूसरे संस्कार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

'विषिण्वन्तीति विषयाः'

जो वस्तु हमको भीतर से बाहर खींचे और बाहर अपने साथ आबद्ध करे, उसे विषय कहते हैं। हमारे ज्ञान स्वरूप को जो नाम-रूप बना दे, वह विषय। विषय का अर्थ पदार्थ। हम विषयों को ही बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यह केवल ज्ञानमात्र है, यह बात समझ नहीं पाते। इसीलिये हमें भोग में सुख जान पड़ता है और हम यह नहीं समझते कि सुख पदार्थ से नहीं, अपने भीतर से आता है। सुख हमारे मन का ही आकार है।

हम कर्मों को, इन्द्रियों को, अपनी वृत्तियों को, कर्ता-भोक्ता को, भावना को और स्थिति को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इन परिच्छिन्न पदार्थों में हमारी महत्ता हुई है। इनमें हम बँधे हैं। इनको छोड़ना नहीं चाहते। इन[illegible]को नहीं समझते। इसीलिये अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप का बोध नहीं।

साधन में रुचि होने पर भी हम शरीर में ही [illegible] शरीर को ही भोक्ता बनाना चाहते हैं। जैसे कर्म अर्पित करते थे, [illegible] को समझता है,

वैसे ही योगी या उपासक मन को सजाता है। एक अन्तःकरण को ही सजाने का यह मन प्रयास होता है। स्थूल देह और सूक्ष्म देह से वैराग्य न होने के कारण हमारा ज्ञान भी व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है। यह व्यक्तिनिष्ठा बड़े-बड़े विचारशीलों को भी परमात्मा में स्थिर नहीं होने देती। बार बार देहाभिमानी बनाती है।

लेकिन जहाँ श्रुतिज्ञान भी अविद्या को निवृत्त करके बाधित हो जाता है, वहाँ कोई स्थिति, कोई अभ्यास, कोई अवस्था, इष्ट या अनिष्ट नहीं हो सकती।

इस अवस्था की प्राप्ति के लिये ही यह विश्व, तैजस, प्राज्ञ का विवेक चल रहा है। इसमें विश्व, और तैजस का एकत्व प्रतिपादित करके अब प्राज्ञ से उसके एकत्व का प्रतिपादन भाष्यकार करते हैं—

सुषुप्ति में सब व्यापारोपराम हो जाता है, तब घनप्रज्ञ प्राज्ञ रहता है। जाग्रत् में जब हम बाह्य विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, तब तो विश्व रहता है। जाग्रत् में ही जब नेत्र बन्द करके मन के द्वारा अनुभूत विषयों का चिन्तन करते हैं तो यह अवस्था स्वप्न के समान ही अन्तःप्रज्ञ हो जाती है। यह अन्तःप्रज्ञ तैजस है। अतः विश्व ही इस अवस्था में तैजस कहा जाता है। अब जाग्रत् में ही जब हम इन्द्रियों से किसी विषय का अनुभव नहीं करते और चित्त में भी किसी विषय का चिन्तन नहीं करते तो समस्त व्यापारोपराम हो जाने पर जाग्रत् में ही सुषुप्ति के समान अवस्था हो जाती है या नहीं? उस समय प्रज्ञा—वृत्तियाँ घनीभूत हो जाती हैं। मन का स्पन्दन होता नहीं। यही अवस्था प्राज्ञ की है। अतः प्राज्ञ भी विश्व से अभिन्न है। विश्व का ही नाम यहाँ प्राज्ञ हो गया है।

मन का स्पन्दन होता है, तभी संसार दृष्टि पड़ता है। श्रीमद्भागवत में जाग्रत् के मिथ्यात्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है—

'पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।'

जब कोई पुरुष अयुक्त होता है—अपने स्वरूप में नहीं स्थित होता, मन के स्पन्दन को अपने में मान लेता है, तब उसे नाना अर्थों की प्रतीति होती है। मन के चञ्चल होने से–मनके इन्द्रियों में आकर बैठने से बाह्य दृश्य की प्रतीति होती है। मन नेत्र में न आवे तो रूप नहीं दीखेगा, मन त्वचा में न आवे तो स्पर्श नहीं होगा। जाग्रत् अवस्था में और स्वप्नावस्था में भी मन चञ्चल होता है, इसी से विषयों की प्रतीति होती है।

किसी वस्तु की चञ्चलता से जो वस्तु या रूप प्रतीत होता है, वह मिथ्या होता है, जब जलती लकड़ी वेग पूर्वक घुमायी जाती है तो एक अग्नि की गोल रेखा दीखती है। यह गोल अग्नि झूठी प्रतीति है। बिजली का पंखा पूरे वेग पर घूमता है तो जैसे मध्य में पत्तियाँ हों ही नहीं, इस प्रकार ऊपर की छत दीखती है। यह छत का दीखना

भ्रम है, क्योंकि मध्य में पत्ते की पत्तियां बार-बार आ रही हैं। इसी प्रकार एक अखंड सत्ता हमारे मनकी चंचलता से अनेक प्रतीत हो रही है।

जाग्रत् और स्वप्न में जो नानात्व की प्रतीति है, वह भ्रम है। सत्ता तो एक है, अखंड है। नानात्व के इस भ्रम को जब हम सच्चा मान लेते हैं तब उसमें गुण-दोष, अच्छा-बुरा, राग-द्वेष आदि बुद्धि हो जाती है। फिर उससे सुख-दुःख होने लगता है।

बुद्धि के साथ ही भेद का उदय होता है और बुद्धि के शान्त होने पर भेद भी शान्त हो जाता है, यह हम सबका प्रतिदिन का अनुभव है। इस प्रकार जब 'अहम्' वृत्ति उदय होती है, तब प्रपञ्च प्रतीत होता है और 'अहम्' वृत्ति उदय नहीं होती तो प्रपञ्च प्रतीत नहीं होता। अतः 'अहम्' वृत्ति से भिन्न यह प्रपञ्च कुछ नहीं है।

जाग्रत् और स्वप्न में तो संसार प्रतीत होता है; क्योंकि उस समय मनका स्पन्दन है; किन्तु जब मन का स्पन्दन नहीं होता तब —'तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाव स्थानम्' हृदय में ही बिना किसी भेद के प्राज्ञ रूप से अवस्थान होता है। श्रुति कहती है :—

प्राण उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियों को ढक देता है। उस समय किसी विषय का दर्शन या स्मरण नहीं होता। उस समय प्राण अव्याकृत अवस्था में रहता है। सुषुप्ति में प्राज्ञ प्राण से एक होकर रहता है। अब देखो तो विश्व विराट् से और तैजस हिरण्यगर्भ से एक है और दोनों मन में स्थित हैं।

तैजस हिरण्यगर्भ मन में स्थित है। 'मन ही लिङ्ग शरीर है।' 'यह हिरण्यगर्भ पुरुष मनोमय है' इत्यादि श्रुतियों से तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता प्राप्त होती है।

यहाँ प्रश्न उठा कि सुषुप्ति में तो प्राण व्याकृत रूपसे रहता है। उसी में इन्द्रिय, मन आदि करण लीन रहते हैं। उस प्राण को अव्याकृत क्यों बता रहे हो?

व्याकृत का अर्थ है विशेष आकृतिवाला। सुषुप्ति में लोगों के प्राण पृथक्-पृथक् रहते हैं। ऐसी दशा में अव्याकृत के साथ- ईश्वर के साथ प्राण की एकता कैसे होगी?

व्याकृत प्राण को अव्याकृत कहना यह दोष नहीं है। क्योंकि जागने वाले की दृष्टि से तो सोते पुरुषों की श्वास पृथक्-पृथक् चल रही है। उसके लिए सोने वालों के शरीर पृथक्-पृथक् हैं। श्वास-प्रश्वास का काल, श्वास-प्रश्वास का स्थान पृथक्-पृथक् है और श्वास-प्रश्वास का परस्पर भी पार्थक्य है; किन्तु जो सो रहा है, उसकी दृष्टि में प्राण पृथक्-पृथक् नहीं है।

जब प्राणाभिमान का उदय होता है, तब तो प्राण की आकृति, उसकी क्रिया पृथक्

का अभिमान रहने पर भी अपने प्राण के पार्थक्य की प्रतीति नहीं रहती। अतः जैसे परिच्छिन्न अभिमानी पुरुषों के भी प्राण का लय होने पर प्राण अव्याकृत हो जाता है, उसी प्रकार प्राणाभिमानियों के भी सुषुप्ति में अविशेष रूप से सो जाने के कारण उस समय उनका प्राण अव्याकृत होता है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। उस समय सम्पूर्ण प्रसव-बीजात्मकता उसमें रहती है। उस अवस्था में एक जो उसका अध्यक्ष होता है, वह अव्याकृत अवस्था में होता है। ये जो परिच्छिन्नता के अभिमानी अध्यक्ष हैं, ये सब उस दशा में ईश्वर से एक हो जाते हैं। इसीलिये यह बात कही गयी कि सुषुप्ति में प्राण में प्रज्ञा का घनीभाव हो जाता है। इन सब युक्तियों से प्राज्ञ और ईश्वर का एकत्व सिद्ध है।

प्रश्न उठा कि जहाँ नाम-रूप नहीं है, वह अव्याकृतावस्था है। उस अव्याकृतावस्था को प्राण क्यों कहते हो? इसका उत्तर देते हैं कि दूसरे स्थानों पर तो प्राण शब्द का अर्थ पाँच वृत्ति ही है, किन्तु यहाँ प्राण शब्द का अर्थ अव्याकृत श्रुति के अनुसार है।

हे सोम्य! यह मन प्राण के साथ बँधा है। यहाँ मन का अर्थ अन्तःकरण। अन्तःकरणोपहित चेतन-जीव यहाँ शब्द से लक्षित किया गया है। प्राण शब्द से यहाँ बीजावस्था से युक्त चेतन निर्दिष्ट है। जब सम्पूर्ण द्वय का प्रलय हो जाता है-सम्पूर्ण प्रपञ्च बीजावस्था में पहुँच जाता है, उस नाम रूप हीन बीजावस्था—अव्याकृत को यहाँ प्राण कहा है। सम्पूर्ण जगत् के बीज की उपाधि को अपने में स्वीकार करके—अपने में लीन करके स्थित ईश्वर प्राण है और अपने में अन्तःकरण की उपाधि स्वीकार करनेवाला जीव है। यह जीव प्राण अर्थात् ईश्वर के साथ बँधा है। श्रुतिमें इसका सुन्दर विवेचन है—

'यथा सूत्रेण प्रबद्धः शकुनिः दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा स्वबन्धनमेवोपाश्रयते'

जैसे एक पक्षी को सूत से बाँध कर सूत का दूसरा सिरा लकड़ी में बाँध दिया है। वही इधर-उधर उड़ता-फड़फड़ाता है; किन्तु उसे तब तक शान्ति नहीं मिलती जब तक वह उड़ना-फड़फड़ाना त्याग कर जहाँ बँधा है, उसी लकड़ी पर बैठ न जाय इसी प्रकार यह जीवात्मा अपने अन्तर्यामी के साथ बँधा है। जब यह उस अन्तर्यामी ईश्वर को छोड़कर बाहर दौड़ता है, संसार में नाना कामनाओं के पीछे भागता है तो इसे केवल अशान्ति-दुःख मिलता है। इसे सुख शान्ति तभी मिलेगी जब अन्तर्यामी के पास आकर यह शान्त बैठ जाय।

यहाँ एक बड़े तथ्य को श्रुति ने व्यक्त किया कि पृथक्-पृथक् शरीर तो अपने-अपने अन्तःकरणों के द्वारा प्रेरित होते हैं और अन्तःकरण अपने कारण-ईश्वर के साथ आबद्ध है।

अब सुख शान्ति के लिये हम संसार के विषयों में प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ हम

सुख-शान्ति पा नहीं सकते। संसार में कोई ऐसा भोग नहीं, जिसे हम बराबर भोगते रह सकें। हम चौबीस घंटे भी लगातार एक भोग का सुख नहीं ले सकते। क्योंकि हम जहाँ बँधे हैं, उसे छोड़कर फड़फड़ा रहे हैं, अतः हमें लौटना पड़ता है।

जब हम बाह्य विषयों में सुख चाहते हैं तो वहाँ क्षणिक सुख की कल्पना हम भले करलें, हमें वहाँ से लौटना पड़ेगा। वहाँ लौटना पड़ेगा जहाँ से मन चला था, जहाँ जाकर सो जाना है। वहीं स्थायी सुख शान्ति है। वह अवस्था सुषुप्ति है। वहाँ मन प्राण में सोता है। यह प्राण बीजावस्थायुक्त चेतन है—ईश्वर है।

यहाँ प्राण शब्द का अर्थ बीजावस्थायुक्त चेतन—सगुण ब्रह्म क्यों? निर्गुण ब्रह्म क्यों नहीं? यह प्रश्न उठेगा।

यह सद्ब्रह्म का प्रसग है अर्थात् सत्तामात्र ब्रह्म जिसमें नाम, रूप, क्रिया, भोग आदि कुछ नहीं, केवल 'अस्ति' मात्र। उस देश, काल, वस्तु के भेद से रहित ब्रह्म को ही प्राण शब्द से कहा गया है। अतः प्राण शब्द का अर्थ शुद्ध ब्रह्म न करके सगुण ब्रह्म क्यों किया जाय? इसका उत्तर देते हैं।

यह दोष नहीं है कि प्राण शब्द से हमने सगुण ब्रह्म को ही लिया। प्राण शब्द सकारण ब्रह्म का वहाँ वाचक है, यह ठीक है; किन्तु माया की उपाधि से युक्त ब्रह्म का ही यहाँ वर्णन है। वहाँ प्राण शब्द वाच्य ब्रह्म बीजात्मक है। सुषुप्ति में, प्रलय में, समाधि में या मूर्च्छा में जो सत् मात्र ब्रह्म रहता है, उसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च का बीज रहता है।

यह ठीक है कि 'सदेव सोम्य' द्वारा श्रुति ने यहाँ सत्तामात्र ब्रह्म का वर्णन किया है, किन्तु जीव की समस्त उपाधियों के बीजात्मक रूप का परित्याग किये बिना ही यहाँ सत् पदार्थ को प्राण कहा गया है। क्योंकि जब हम सो कर उठते हैं तो सुषुप्ति से पूर्व का स्मरण होता है। पर्यों पूर्व की वस्तु स्मरण आती है। यह स्मृति यदि बीजरूप से कहीं नहीं थी तो जाग्रत् कैसे हुई? कोई सस्कार हमारे हृदय पर कभी पड़ा और बीज-रूप से रह गया, अतः वह अब स्मृति के रूप में जाग्रत् हुआ। यह सस्कार बीजरूप से सुषुप्ति काल में भी था। उस समय नष्ट होगया होता तो स्मृति के रूप में जाग्रत् न होता। इससे सिद्ध हो गया कि सुषुप्ति में सस्कारों के बीज रहते हैं।

इसी प्रकार हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण वृत्तियों की बीजावस्था होती है। सुषुप्ति में सस्कार बीजावस्था में रहते हैं और स्वप्न तथा जाग्रत् में वासना के रूपमें अंकुरित हो जाते हैं। बार-बार जन्म-मृत्यु, बार-बार निद्रा-जागरण बिना बीजावस्था स्वीकार किये बन नहीं सकता। अतः सुषुप्ति और प्रलय दोनों में बीज रहते हैं। कल्पना, साधना, उपासना, वासना आदि सबका बीज सस्कार रूप से सुषुप्ति में विद्यमान रहता है। आत्मा-नुभूति के द्वारा जिस बीज का बाध होता है, उसे बीज स्वीकार किये बिना जागरण

उपासना मार्ग सगुण निराकार अथवा साकार ईश्वर को स्वीकार करके चलता है और पूर्वमीमांसक तो सगुण ईश्वर को भी स्वीकार नहीं करते। वे कर्म की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह कर्मनिष्ठा जीव के कर्म स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके होती है और उपासना सिद्धान्त में जीव ईश्वर-परतन्त्र है, यह स्वीकार किया जाता है। इन दोनों में ही सबीजावस्था बनी रहती है।

तत्त्वज्ञान में जो आत्मा का स्वरूप है उसमें स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य दोनों आरोपित हैं। क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। ज्ञान से बीज का ही दाह हो जाता है। ज्ञान से बीज दग्ध होता है, यदि सुषुप्ति में भी निर्बीजता मानें तो ज्ञान व्यर्थ हो जायगा। अतएव सबीज ब्रह्म को ही लक्ष्य करके सत् ब्रह्म को प्राण शब्द से कहा गया है और समस्त श्रुतियों में सबीज को ही कारण बतलाया गया है।

जब शुद्ध ब्रह्म का वर्णन करना होता है तो दूसरे प्रकार से वर्णन किया जाता है। उस समय कहते हैं 'नेति-नेति'। 'इति' शब्द इदन्ता बोधक है। जिसको 'सत्' कह सके वह 'इद' है और जिसको 'असत्' कह सकें वह भी 'इद' है। जिसको 'सदसत्' कह सकें वह भी 'इद' और जिसे 'सदसत् भिन्न' कह सकें वह भी 'इद'। अर्थात् वस्तु का वर्णन चार प्रकार से होता है—है, नहीं है, है भी और नहीं भी है तथा है-नहीं दोनों से भिन्न है। लेकिन यह परमात्मा इन चारों में नहीं आता। अतः उसका वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा इन चारों बातों का ज्ञाता है।

जो भी परमात्मा को ढूँढने चलेगा, किसके द्वारा ढूँढेगा? मन के द्वारा। अतः उसे जो भी मिलेगा, मनोवृत्ति के रूप में ही मिलेगा। अतः श्रुति कहती है कि 'इद' के रूप में परमात्मा का दर्शन मत करो। 'यह परमात्मा है' यह अनुभव की स्थिति नहीं है। मनोराज्य को मत देखो—जो मनोराज्य करता है, उसकी ओर देखो।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

यह वाणी परमात्मा का निर्वचन करने चली; किन्तु असमर्थ हो कर लौट आयी। वाणी समर्थ नहीं हुई और मन भी समर्थ नहीं हुआ। मनोराज्य भी शान्त हो गया। वाणी और मन के शान्त हो जाने पर जो द्रष्टा बचा, वही मैं हूँ, वही परमात्मा है। विज्ञाता में परमात्मा का अनुसन्धान करो।

"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्।"

जो कुछ तुम्हें ज्ञात है और जो अज्ञात है, दोनों से विलक्षण वस्तु को ढूँढो। 'मैं इस वस्तु को जानता हूँ' और 'मैं इसे नहीं जानता' यह जानना किसमें है? कार्यावस्था विदित है और कारणावस्था अविदित है। दृश्य विदित है और अदृश्य अविदित

है। इस विदित-अविदित से परे कौन होगा, यह विचार करो।

संसार में देश, काल, वस्तु के द्वारा जितनी भी वस्तुओं का निरूपण हो सकता है, वे विदित हैं या अविदित हैं। हम उन्हें जानते हैं या नहीं जानते। इस से भिन्न कोई भी पदार्थ होगा तो वह ज्ञात होगा। लेकिन ज्ञात-अज्ञात दोनों का प्रकाशक जो स्वयं प्रकाशक है, वह परोक्ष और अज्ञातता की कल्पना से रहित है। अतः अपना आपा ही विदित-अविदित दोनों से परे है। वही विदित-अविदित से विलक्षण है।

इसलिये परमात्मा को अप्रमेय कहा जाता है। विदित भी प्रमेय है और अविदित भी प्रमेय है। घट भी प्रमेय और घटाभाव भी प्रमेय है। हमारे नेत्र हैं और नेत्र नहीं हैं। यहाँ नेत्र न होना मानस प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार मन-बुद्धि का कार्यशील होना हम जानते हैं और उनका सो जाना भी जानते हैं। अतः सुषुप्ति भी प्रमेय है। इसी प्रकार हम 'अज्ञानी हैं' इसमें 'अज्ञान' को हम देखते हैं-अतः अज्ञान प्रमेय हुआ और हम उससे पृथक् हो गये। अतः अप्रमेय केवल 'अहम्' पद का जो शुद्ध अर्थ है, वह परमात्मा है।

'न सत्तन्नासदुच्यते।'

उस अप्रमेय परमात्मा को सत् या असत् नहीं कहा जा सकता। यह गीता ने कहा है। जहाँ शुद्ध ब्रह्म का वर्णन होगा, वहाँ निषेध द्वारा ही वर्णन होगा। अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अदृश्यम्, अग्राह्यम् आदि निषेध रूप में ही उसका वर्णन किया जायगा।

अतएव सुषुप्ति काल में जो रहता है, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। वह सबीज ब्रह्म है। वह प्राज्ञ बीजावस्था है, अतः वह ईश्वर में, सगुण में लीन रहता है।

अतएव जब ब्रह्म का वर्णन करना होता है तो श्रुतियाँ बीजावस्था का निरास करके 'वह सबसे परे अक्षर से भी परे है' 'वही अज बाहर कार्य रूप और भीतर कारण रूप भी है' 'जहाँ से वाणी लौट आती है' 'इद नहीं, इद नहीं' इस प्रकार उसका वर्णन किया है।

प्राज्ञ शब्द से जिसे यहाँ कहा है, देह-इन्द्रिय आदि तथा जाग्रत्-स्वप्नादि से रहित तुरीय स्वरूप की पारमार्थिक निर्बीज अवस्था का पृथक् वर्णन आगे करेंगे। अतः यहाँ निर्बीजावस्था मानना आवश्यक एव उपयुक्त नहीं है। जब मनुष्य सोकर उठता है तो 'मुझे कुछ भी पता नहीं था' यह अनुभव करता है। 'मुझे कुछ पता नहीं था' इस बात का स्मरण ही बीजावस्था शरीर में ही अनुभव है। अतः इसी देह में तीन प्रकार से विश्व, तैजस, प्राज्ञ के रूप मे एक ही तत्त्व स्थित है, यह बात कही गयी है।

मिट्टी-पानी आदि पञ्चभूत तो जैसे शरीर में हैं, वैसे ही पदार्थों में भी हैं। हम को ज्ञान होता है कि यह खट्टा, यह मीठा, यह कोमल, यह कठोर। अतः ज्ञानमात्र भोग है। शब्द का ज्ञान शब्द का भोग है रस का ज्ञान रस का भोग है। इसी प्रकार भोक्तृत्व है उपलब्धि होना।

अब देखो कि अग्नि काष्ठ को जलाता है तो क्या काष्ठ में लिप्त होता है? अग्नि काष्ठवान् नहीं होता। वह काष्ठ को भस्म करके अपने स्वरूप में बना रहता है। ईंधन को भस्म करके अग्नि न बढ़ता है न घटता। अग्नि तो ज्यों का त्यों रहता है। काष्ठ पड़ने पर प्रतीत होता है कि अग्नि बढ़ गया, काष्ठ न पड़ने पर लगता है कि बुझ गया, किन्तु यह अग्नि का बढ़ना-बुझना तात्कालिक है। अग्नि का त्रिकालाबाध रूप यह नहीं है। हम जिसे नेत्र से देखते हैं या जिससे वस्तु जल जाती है, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है। वह तो अग्नि की ज्वाला है। वह एक प्रकार की गैस है जो निकलती तथा वायु में लीन होती जाती है। दीपक की लौ या अग्नि की लपट स्थायी नहीं है। वह

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥४॥

उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ३-४ ॥

विश्व सदा स्थूल भोगों का भोक्ता है और तैजस सूक्ष्म भोगों का भोक्ता है। प्राज्ञ केवल आनन्द का भोक्ता है। यह तीन प्रकार का भोग तीनों का समझो ॥३॥

स्थूल प्रपञ्च विश्व को तृप्त करता है, सूक्ष्म तैजस को तृप्त करता है तथा आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है, इस प्रकार तीनों की तीन प्रकार की तृप्ति समझो ॥ ४ ॥ इन दोनों श्लोकों का अर्थ पहिले कहा जा चुका है।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥५॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूल प्रविविक्तानन्दाख्यं त्रिधाभूतम् । यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानाद् द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः, यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयानेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते; भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात् । न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा, न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥ ५ ॥

जाग्रत् आदि तीनों स्थानों में स्थूल, सूक्ष्म, आनन्द नाम से तीन भेदों में विभक्त जो भोज्य है, वह एक ही है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ नाम के जो भोक्ता हैं, वे तीन न होकर एक ही हैं और यह मैं ही हूँ, यह एकत्व का प्रतिसन्धान होने से और द्रष्टापन में कोई विशेषता न होने से भोक्ता एक ही कहा गया है। इस प्रकार भोज्य और भोक्ता रूप से अनेक प्रकार से भिन्न हुए इन दोनों को जो जानता है, वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता; क्योंकि समस्त भोज्य एक ही भोक्ता का भोग है। जिसका जो भोग-विषय होता है, वह उस विषय के कारण घटता या बढ़ता नहीं। जैसे अग्नि अपने विषय काष्ठादि को जलाकर भी अपने स्वरूप में समान बना रहता है।

भोग्य क्या है? यह मीठा, यह खट्टा अथवा यह कोमल—यह कठोरादि ऐन्द्रियक-प्रतीतिमात्र। शरीर में भी मिट्टी है और गेहूँ, नमक, चीनी आदि में भी मिट्टी है।

मिट्टी–पानी आदि पञ्चभूत तो जैसे शरीर में हैं, वैसे ही पदार्थों में भी हैं। हम को ज्ञान होता है कि यह खट्टा, यह मीठा, यह कोमल, यह कठोर। अतः ज्ञानमात्र भोग है। शब्द का ज्ञान शब्द का भोग है, रस का ज्ञान रस का भोग है। इसी प्रकार भोक्तृत्व है उपलब्धि होना।

अब देखो कि अग्नि काष्ठ को जलाता है तो क्या काष्ठ में लिप्त होता है? अग्नि काष्ठवान् नहीं होता। वह काष्ठ को भस्म करके अपने स्वरूप में बना रहता है। ईंधन को भस्म करके अग्नि न बढ़ता है न घटता। अग्नि तो ज्यों का त्यों रहता है। काष्ठ पड़ने पर प्रतीत होता है कि अग्नि बढ़ गया, काष्ठ न पड़ने पर लगता है कि बुझ गया, किन्तु यह अग्नि का बढ़ना बुझना तात्कालिक है। अग्नि का त्रिकालाबाध रूप यह नहीं है। हम जिसे नेत्र से देखते हैं या जिससे वस्तु जल जाती है, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है। वह तो अग्नि की ज्वाला है। वह एक प्रकार की गैस है जो निकलती तथा वायु में लीन होती जाती है। दीपक की लौ या अग्नि की लपट स्थायी नहीं है। वह लगती स्थायी है, किन्तु बराबर उठती और वायु में लीन होती जा रही है। एक क्षण पहिले की लौ अगले क्षण नहीं है। लेकिन अग्नितत्त्व तो इस प्रकार क्षण में उत्पन्न होने तथा मिटने वाला नहीं है।

सच्ची बात यह है कि हमारी इन्द्रियाँ द्रव्य नहीं देखतीं। केवल गुण देखती हैं। किसी भी द्रव्य का आप रूप, रस, स्पर्श, शब्द या गन्ध ही जानते हैं। द्रव्य को नहीं देखते। इन गुणों को इन्द्रियों से अनुभव करके इनके आश्रय द्रव्य का हम निश्चय करते हैं। गुण का प्रत्यक्ष होता है और गुण के द्वारा द्रव्य का अनुमान होता है।

अब यह अनुमान है भी हो सकता है कि द्रव्य एक ही हो और हम पाँच इन्द्रियों के कारण उसे पाँच रूपों में उपलब्ध करते हों। इन्द्रियों से हम जो पाच गुण ग्रहण कर रहे हैं, वे एक ही द्रव्य में भी तो हो सकते हैं। पाँच द्रव्य हैं, उनकी पाँच तन्मात्रायें हैं, उनके पाँच प्रकार के परमाणु हैं, यह सब अनुमान ही तो किया गया है। अब भौतिक विज्ञान जल को मूल तत्त्व नहीं मानता। दो प्रकार की गैसें मिलाने से जल बन जाता है। इसी प्रकार शब्द, गति, उष्णता और प्रकाश भी विज्ञान पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं मानता। वे कहते हैं कि एक शक्ति–विद्युत के ही ये विभिन्न रूप हैं।

विज्ञान यन्त्रप्रत्यक्ष मानता है; किन्तु यन्त्र तभी ठीक ज्ञान देंगे, जब हमारी इन्द्रियाँ निर्दोष हों। यदि नेत्र में दोष होगा तो दूरबीन से भी भ्रान्त ज्ञान होगा अतः हमारे यहाँ यन्त्र की अपेक्षा इन्द्रियों को अधिक प्रामाणिक माना गया है। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें पाँच प्रकार का ज्ञान देती हैं, अतः हमने पाँच तत्त्व माने हैं। इन तत्त्वों में इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। हम स्वाद की आश्रय सत्ता को जल कहते हैं, दो गैस मिल कर जो जल बनता है, उसे हम जल नहीं कहते। अर्थात् ऐन्द्रियक प्रमाण से गुण की सिद्धि और

गुण की आश्रय सत्ता के रूप में द्रव्य की सिद्धि होती है।

गुण की सिद्धि इन्द्रिया के द्वारा होती है और इन्द्रियों का सम्पूर्ण ज्ञान मन के द्वारा होता है। मन का संयोग इन्द्रिय से न हो तो कोई इन्द्रिय किसी वस्तु का अनुभव नहीं कर सकती। मन ही इन्द्रियों की वृत्ति के रूप में परिणत होकर विषयों को ग्रहण करनेवाला है। इन्द्रियों के द्वारा वस्तु की उपलब्धि करनेवाला असाधारण करण मन है। विषय को ग्रहण करनेवाली चेतना का नाम ही मन है। सविषयक ज्ञानको ही अन्तःकरण कहते हैं। विषयग्रहणनिरपेक्ष चेतन आत्मा है। •

चेतन का स्वभाव है उपलब्धि। कुछ न कुछ उपलब्धि वह करेगा ही। क्योंकि चेतन स्वयंप्रकाश स्वरूप है, अतः प्रकाशित करना उसका स्वभाव है। जाग्रत् की, स्वप्न की उपलब्धि की प्रतीति करना उसके स्वभाव के अन्तर्गत है। भाव और अभाव दोनों की प्रतीति, देश-काल की प्रतीति तथा देश-काल के अभाव की भी प्रतीति—यह सब प्रतीतिमात्र है। चेतन का स्वभाव प्रतीति करना है।

अग्नि को न मल जलाने से पाप या अपवित्रता होती और न हवनीय जलाने से पवित्रता या पुण्य होता। क्योंकि जलाना अग्नि का स्वभाव है। जिसका जो स्वभाव है, उसके लिये वह कार्य—उस विषय का ग्रहण पाप या पुण्य नहीं होता। चेतन का स्वभाव प्रतीति करना है, अतः प्रतीति से उसे पाप-पुण्य नहीं होता।

पाप पुण्य वहाँ होता है जहाँ कार्य करने न करने में स्वतन्त्रता होती है। सूर्य का स्वभाव प्रकाश देना है। वह प्रकाश स्वरूप है, भले उस प्रकाश में कोई उत्तम कर्म करे या अधम कर्म। प्रकाश देने से सूर्य को पाप पुण्य नहीं होता। भोज्य में शुद्धि-अशुद्धि है, भोक्ता में पाप पुण्य का लेप है, किन्तु भोज्य और भोक्ता दोनों का प्रकाशक, दोनों की उपलब्धि करनेवाला चेतन शुद्धि-अशुद्धि से निर्लिप्त है।

जो भोक्ता और भोज्य दोनों को जानता है, जिसका स्वरूप जानना है, वह सुषुप्ति में प्राज्ञ होने पर लिप्त नहीं होता, स्वप्न में तैजस होने पर लिप्त नहीं होता और जाग्रत् में वैश्वानर होने पर भी लिप्त नहीं होता।

पाप पुण्य, शुद्ध अशुद्ध, हेय-उपादेय आदि ज्ञान भेदज्ञान का विषय है। यह भेद-ज्ञान बुद्धि में होता है और इस भेदज्ञान के अनुसार ही जीवन का निर्माण होता है। व्यवहार भेदज्ञान के अनुसार होता है। साधन और साध्य का ज्ञान व्यवहारिक ज्ञान है और धर्म अधर्म, हेय उपादेय का नियामक ज्ञान भी व्यवहारिक है। हम कैसे लोहा प्राप्त करें और कैसे चाकू बनावें यह सामान्य ज्ञान तथा उस चाकू का क्या उपयोग उचित तथा अनुचित है, यह नियामक ज्ञान, ये दोनों भेदज्ञान हैं और व्यवहार का इनसे ही सञ्चालन होता है। यह दोनों ज्ञान जीवन में आवश्यक हैं। कर्ता के आधीन यह भेदज्ञान होता है। भिन्न भिन्न देश, काल, सम्प्रदाय का भेदज्ञान भी भिन्न-भिन्न होता है। क्या

करणीय या ग्राह्य है और क्या अकरणीय या अग्राह्य है, इस विषयक देश, काल, सम्प्रदाय के ज्ञान भिन्न-भिन्न होते हैं। इस भेदज्ञान के अनुसार आचार का नियमन होता है। लेकिन जो वस्तुसत्य है वह कर्ता के आधीन नहीं है। तथ्य का ज्ञान नित्य है, सर्वत्र समान है, अद्वितीय है। इस तथ्य ज्ञान से जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में प्रकाशित करने से पाप-पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती।

कर्तापने का भाव ही कर्म में लिप्त करता है। हम इस वस्तु को अमुक रूप में देखने लगे तो हमने संकल्प से उसके रूप में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन में हमें सुख होगा या दुःख होगा। इस प्रकार कर्ता भोक्ता बन जायगा। लेकिन जिसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व बाधित हो गया है, वह प्रकाशक कहीं लिप्त नहीं होता।

लिप्त होना क्या? जब 'इदं' और 'अहं' का सम्बन्ध होता है, तभी लिप्त होना होता है। 'अहं ज्ञाता' यह लिप्त होना हो गया। जब किसी विषय को लेकर हम अपने में अहम् का आरोप करेंगे, तभी लिप्त हो जायेंगे। यह वस्तु मेरी, यह क्रिया मेरी, यह देह मेरा, यह अन्तःकरण मेरा, यह कर्ता मैं, यह भोक्ता मैं, यह ज्ञाता मैं। यह सब लिप्त होना है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञाता और द्रष्टा एक नहीं है। ज्ञाता बुद्धि के द्वारा होता है और द्रष्टा दृष्टिमात्र से होता है। बुद्धि भिन्न-भिन्न देहों में पृथक् है। उस बुद्धि का अभिमानी ज्ञाता है। ज्ञाता प्रतिशरीर भिन्न चिदाभास है। लेकिन द्रष्टा तो सम्पूर्ण दृश्य का एक ही है। वह अपनी दृष्टिमात्र से पूरे विश्व को प्रकाशित कर रहा है। इस लिये जो बुद्धि के द्वारा ब्रह्मबोध करना चाहते हैं, उनका बोध भी भ्रम रूप रहता है। बुद्धि में विक्षेप, भोक्तृत्वादि आने पर अपने में उन्हें विक्षेप एवं भोक्तृत्व लगता है और बुद्धि की ब्रह्माकारवृत्ति को ही वे बोध मान लेते हैं। एक बुद्धि के अभिमान को लेकर ही यह सब होता है।

बुद्धि के द्वारा देह और विषय को अनात्मा कह देने पर भी बुद्धि ब्रह्माकार बनी रहे, यह आग्रह एक देहस्थ बुद्धि में अहंभाव होने से ही होता है। लेकिन बुद्धि निरन्तर ब्रह्माकार रह नहीं सकती। निद्रा और स्वप्न में ब्रह्माकारता कैसे रहेगी? जाग्रत् में भी घट-पटादि की वृत्ति का रूप बुद्धि लेगी ही। बुद्धि का आकार बदलता ही रहेगा। एक बुद्धि के अहं को पकड़कर ही नाना विभ्रम होते हैं।

केवल ज्ञानमात्र वस्तु में ज्ञातृत्व नहीं है। ज्ञातृत्व तो देह में है बुद्धि की उपाधि से। कर्मेन्द्रियों की उपाधि से कर्तृत्व है। कर्मेन्द्रिय से कर्म किया तो कर्ता और ज्ञानेन्द्रिय से जाना तो ज्ञाता बन गये। मन की सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति में अहंभाव करने से भोक्ता हुए। जड़ कर्मेन्द्रियों को अपना मानकर हम कर्ता बने, ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश को अपना मानकर ज्ञाता बने और फलांश में अभिमान करके भोक्ता बने। इस प्रकार जब सत् को परिच्छिन्न मानेंगे तब कर्ता, जब चित् को परिच्छिन्न मानेंगे तब ज्ञाता और जब

आनन्द को परिच्छिन्न मानेंगे—तब भोक्ता बन जायेंगे ।

अपना सच्चिदानन्द स्वरूप परिच्छिन्न नहीं है । अतः चाहे किसी भी शरीर में, कोई भी कर्म होता हो, हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं । किसी देह के कर्म, बुद्धि तथा भोग से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं । वह केवल प्रतीतिमात्र है । सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा प्रतीति से समस्त सृष्टि का भोग करते हुए भी कहीं युक्त नहीं होता है ।

एक ही चेतन में ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ कैसे बन जाते हैं और अवस्थायें कहाँ से आती हैं, यही बात उपनिषद् के अनुसार कारिका में बतायी गयी है ।

बात यह है कि वेदान्त की बात श्रोता झटपट समझ जाए, इसकी आशा नहीं करना चाहिये । क्योंकि उसका अब तक का अभ्यास भोगों को–विषयों को समझने का ही है । विषय, कर्म तथा मनोवृत्ति ही उसने समझा है । बिना प्रयोजन, बिना भोग उसने अब तक कुछ समझा नहीं है । अब तक उसका सब प्रयत्न स्वार्थ प्रेरित रहा है । केवल सत्य के ज्ञान के लिये उसने प्रयत्न नहीं किया है । अतः ऐसे श्रोता को अनेक प्रकार से एक ही बात समझानी पड़ती है ।

जिसने पर्याप्त समय तक धर्मानुष्ठान किया, उपासना की, स्वाध्याय किया, सत्संग किया, उसके समान ही सामान्य श्रोता भी झटपट वेदान्त की बात समझले, ऐसी आशा नहीं की जा सकती । उसे समझने में देर लगती है ।

दूसरी बात यह है कि सामान्य जन अधिक समय अपने व्यवहार के कार्य एवं चिन्तन में देते हैं और वेदान्त के चिन्तन–श्रवण को थोड़ा समय दे पाते हैं । समस्त व्यवहार भेद मूलक है । अतः बुद्धि में भेदज्ञान बैठा है । अद्वैत ज्ञान बुद्धि में कठिनाई से स्थिर हो पाता है ।

लेकिन सत्य वस्तु को प्रकाशित करना और उसका श्रवण करना अत्यन्त आवश्यक है । इससे कुछ संस्कार तो चित्त पर पड़ेगा ही । सत्य का संस्कार पड़ेगा तो उसकी प्राप्ति की इच्छा होगी । सच्ची जिज्ञासा न होने पर भी इच्छा होगी । जो संसार में दुःखानुभव कर रहा है, उसके मन में मुमुक्षा जाग्रत् होगी । वह पाप–ताप के बन्धन से मुक्त होने के लिये समझने का प्रयत्न करेगा । जो ज्ञानी–जीवन्मुक्त हैं, उन्हें सुनने में आनन्द आता है । उनको समझना तो नहीं है, पर उन्हें उसे सुनना अच्छा लगता है । जिज्ञासु का श्रवण से ग्रन्थिभेद हो जाता है अर्थात् समझने में जहाँ कुछ बातें नहीं आयी थीं, जहाँ कुछ उलझन बुद्धि में थी, वह दूर हो जाती है । जिनके चित्त में जिज्ञासा नहीं है, उनमें जिज्ञासा का उदय होता है । सामान्य श्रोता देर से समझेंगे, इसलिये तत्त्व का प्रकाश करना बन्द नहीं करना चाहिये । उसे बार बार प्रकाशित करना चाहिये ।

प्रायः साधक स्थिति विशेष चाहते हैं। सोचना चाहिये कि अभीष्ट स्थिति का कोई आकार है या नहीं। यदि आकार नहीं है, तो उसकी कल्पना क्यों करते हो? यदि उसका विशेष आकार है, तब निर्विशेष सत्य तुमने जाना नहीं। यदि स्थिति निर्विशेष अभीष्ट है तो वह इस समय नहीं है, ऐसा क्यों मानते हो?

कोई स्थिति प्राप्त होगी तो कहाँ प्राप्त होगी? ब्रह्म में तो प्राप्त होगी नहीं। अन्तःकरण में प्राप्त होगी। यदि तुमने अन्तःकरण की अनात्मकता, मिथ्यात्व, विकारत्व का निश्चय किया है तो अन्तःकरण की स्थिति विशेष का आग्रह क्यों होगा? यदि स्थिति तुम्हारे ही प्रयत्न से होगी, ऐसा सोचते हो तो तुम कर्ता हो या अकर्ता? यदि तुम समझते हो कि कोई आनन्द जो अभी नहीं है, मिलना चाहिये तो तुम भोक्ता हो या नहीं? अतः विचार तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व को दूर करने के लिये है।

यह जो तुरीय वस्तु आत्मा है, वही प्राज्ञ होकर सुषुप्ति का, तैजस होकर स्वप्न का और विश्व होकर जाग्रत् का भोग करता है। ये भोग करते हुये भी वह लिप्त नहीं होता। तीनों में तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा विश्व, तैजस, प्राज्ञ से विलक्षण है। यह चौथा तत्त्व नहीं, इन तीनों में रहते हुए भी इनकी क्रिया तथा भोग से लिप्त नहीं है। अब इन विश्व, तैजसादि की उत्पत्ति आगे बतलाते हैं।

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक्॥६॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः। वक्ष्यति च—"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते" इति। यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद्ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः। दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम्। न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्। इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—'ब्रह्मैवेदम्' (मु० उ० २।२।११) 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० उ० १।४।१) इति।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंऽशवो यांस्तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत् सलक्षणाञ्जलार्कवच्च

जीवलक्षणोऽस्त्वितरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति 'यथोर्णनाभि' (मु० उ० १।१।७) 'यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा' (बृ० उ० २।१।२०) इत्यादि श्रुतेः ॥ ६ ॥

'सत्' से ही समस्त भावों की उत्पत्ति होती है, यह निश्चित बात है। प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है और पुरुष चिदाभासों को पृथक्-पृथक् व्यक्त करता है।

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।"

उपनिषद् की इस मूल श्रुति की व्याख्या इस कारिका में है।

जाग्रत् और स्वप्न में जितने अविद्याकृत नाम-रूप वाले पदार्थ प्रतीत होते हैं उनका प्रभव-उत्पत्तिस्थान सुषुप्ति में रहने वाला बीजात्मा प्राण-प्राज्ञ है। उसीसे सम्पूर्ण स्वप्न तथा समस्त जाग्रत् अवस्था प्रकट होती है। 'एष योनि' श्रुति इसे इसीलिये सबकी योनि-कारण बतलाती है। बीजात्मा प्राण से ही यह समस्त सृष्टि व्यक्त होती है।

सत् अर्थात् विद्यमान-वस्तुरूप से तो विद्यमान भेद प्रपञ्च है नहीं, किन्तु अविद्या कृत नाम-रूपात्मक मायिक रूप से विद्यमान विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि भेद वाले अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्था एवं जाग्रत्-स्वप्न के समस्त दृश्य इसीसे उत्पन्न होते हैं।

जैसे अण्डे के जल में या वीर्य में सम्पूर्ण अंग बीजरूप से निहित रहते हैं, इसी प्रकार सुषुप्ति में सब जाग्रत्-स्वप्न बीजरूप से रहते हैं। कल दिन की समस्त स्मृतियाँ सोकर उठने पर स्मरण आती हैं। वे सुषुप्ति में बीजरूप से न होतीं तो उनका स्मरण कैसे होता? जैसे हम इस देह में प्रतिदिन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अनुभव करते हैं, वैसे ही समस्त सृष्टि की जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्तावस्था पर विचार करो। समष्टि के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का विवेक करने पर यह समस्त पञ्चभूत, यह पूरा दृश्यप्रपञ्च और अधिदैव जगत्, यह सुषुप्ति-महाप्रलय में रहने वाले बीजात्मा से ही व्यक्त होते हैं।

अपने हृदय में यह जो 'अहम्-अहम्' की वृत्ति है, उसे देखो। मैं देखता हूँ, मैं सोचता हूँ-आदि यह 'अहम्' की स्फुरणा कहाँ हो रही है? यह किस उपादान में हो रही है? यह 'मैं' रूप आधार न हो तो क्या किसी भी वस्तु का ज्ञान होगा? अतः सबके आधार इस 'अहम्' की स्फुरणा का मूल देखो।

अभी तुम बाहर इन्द्रियों से देख रहे हो। 'अहम्' को देखने के लिए भीतर लौटना होगा। इस पीछे-भीतर लौटने का वर्णन सन्तों ने किया है—

'चरनदास गुरु किरपा कीनी उलटि गई मोरा नैन पुतरिया।"

गुरुदेव की कृपा से हमारी नेत्र पुतली उलट गई अर्थात् हम बाहर देखने के स्थान पर भीतर देखने लगे।

"सुरत बिरहुलिया छाइ निज देश।"

मध्य युग के सन्तों ने 'सुरत' का बहुत वर्णन किया है। सुरत अर्थात् हमारा ध्यान। हमारा ध्यान गुरु कृपा से अपने देश में पहुँच गया। अपना देश क्या?

"जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत पुरन धनी दिनेस।"

जहाँ कोई शब्द नहीं, कोई रूप नहीं, उस सर्वावभासक, स्वयप्रकाश प्रत्यक्-चैतन्य परमात्मा में हमारा ध्यान पहुँच गया। यही निज देश है।

"ततोऽहम शोधय जन्मदेशम्"

अत. अपनी बुद्धि के द्वारा इस 'अहम्' वृत्ति के जन्म देश की शोध करो। इसे अपने हृदय में ढूँढना पड़ेगा। अब वृत्ति के बीज को ढूँढने पर जाग्रत्, स्वप्न मे तो यह स्पष्ट ज्ञात होती है, किन्तु सुषुप्ति में स्पष्ट ज्ञात नहीं होती। उठने पर 'मैं सुख से सोया' यह अनुसन्धान होता है, किन्तु सुषुप्ति की दशा में अविद्या से आक्रान्त रहने के कारण 'अहम् वृत्ति' का अनुभव नहीं रहता। उस अविद्या वृत्ति को देखने वाला कौन है?

सुषुप्ति में अविद्याकृत समस्त नाम-रूप लीन हो जाते हैं, तब प्रज्ञा का घनीभाव प्राज्ञ रहता है। वहीं से तैजस व्यक्त होकर स्वप्न देखता है। वहीं से हम जाग्रत् में आकर वैश्वानर बनते हैं। अत ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ के भेद और जाग्रत्, स्वप्न के अनुभव-सब सुषुप्ति में बीजात्मा प्राण में लीन रहते हैं।

अत उत्पत्ति किसी की होती नहीं। उत्पत्ति की चार ही प्रक्रिया हैं। पाचवीं प्रक्रिया सम्भव नहीं १-कोई वस्तु पहिले थी और उत्पन्न हुई २-पहिले नहीं थी, उत्पन्न हुई। अर्थात् १-सत् से सत् की उत्पत्ति २-सत् से असत् की उत्पत्ति ३-असत् से सत् की उत्पत्ति ४-असत् से असत् की उत्पत्ति। अब इन पर विचार करें —

१—सत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यदि पहिले से वह वस्तु विद्यमान है तो उसकी उत्पत्ति क्या होगी?

२—सत् से असत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि यदि उत्पन्न वस्तु असत् है-सत्ताहीन है तो उसकी उत्पत्ति कहाँ हुई? .

३—असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं। क्योंकि बिना किसी सत्ता के कोई सत्तावान् वस्तु कैसे उत्पन्न होगी?

४—असत् से असत् की उत्पत्ति-इसका तो कुछ अर्थ ही नहीं। कोई सत्ता नहीं थी, उससे कोई सत्ता उत्पन्न नहीं हुई। यहाँ उत्पत्ति का प्रश्न ही कहाँ रहा?

"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।"

वन्ध्यापुत्र की उत्पत्ति वस्तुत: तो होती ही नही, माया से-जादूगरी से भी नहीं हो सकती।

'वन्ध्यापुत्र' शब्द पर विचार करें। वन्ध्या स्त्री होती है संसार में, पुत्र भी लोगों के होते हैं, 'का' विभक्ति भी स्वतन्त्र रूप में ठीक है, किन्तु यहाँ विभक्ति के द्वारा वन्ध्या का पुत्र यह जो सम्बन्ध सूचित है, यह अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि वन्ध्या वह जिसके पुत्र होता नहीं। इसी प्रकार उत्पत्ति किसीकी सम्भव नहीं है।

जब किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं, तब यह उत्पत्ति जो दीखती है वह? वह केवल प्रतीति है। जब उत्पत्ति नहीं तो विनाश भी नहीं। विनाश भी प्रतीति है। अखण्ड एकरस परिपूर्ण सत्ता में दृश्यमान प्रपञ्च की न तो कोई बीजावस्था है, न अंकुरावस्था। वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य है।

हमने अपनी स्थिति के सम्बन्ध में कभी विचार नहीं किया। इसी विचार न करने से-अविद्या से हमें वस्तुका उत्पत्ति-विनाश प्रतीत हो रहा है। बिना उत्पत्ति-विनाश के ही हम उसकी कल्पना करके सुखी-दुःखी हो रहे हैं।

यदि असत् पदार्थों की उत्पत्ति हुआ करती तो अव्यवहार्य ब्रह्म को ग्रहण करने का कोई मार्ग न रहने से 'वह है ही नहीं' ऐसी आशङ्का का प्रसंग आ जाता।

यह परब्रह्म परमात्मा अव्यवहार्य है। उसमें नाम-रूप क्रिया नहीं है। उसका बोध अविद्यानिवर्तक है। अविद्या का तो अपरोक्ष हो रहा है। 'मैं भ्रान्त हूँ, परिच्छिन्न हूँ, जीव हूँ, यह प्रतीति स्पष्ट हो रही है। यदि यह प्रतीति न होती तो 'मैं' ब्रह्म हूँ, इस प्रतीति की भी आवश्यकता न रह जाती। लेकिन यह जो भ्रान्ता, परिच्छिन्नता आदि है ही नहीं, उसीकी भ्रान्ति दुःख का कारण बनी है। अतएव अव्यवहार्य ब्रह्म के ज्ञान के लिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस कल्पित वृत्ति की आवश्यकता है।

'मैं जीव हूँ' यह कल्पित वृत्ति है। बिना देखे, बिना सोचे मान ली गई है। इस भ्रम को मिटाने के लिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस कल्पित वृत्ति की आवश्यकता है। इस वृत्ति के द्वारा ब्रह्मज्ञान न हो तो ब्रह्म को जानने का कोई साधन नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में ब्रह्म-अखण्ड परिपूर्ण सत्ता कोई वस्तु है, यह भी सिद्ध नहीं होगा। अतः नाम-रूपात्मक भासमान प्रपञ्च का बीज समष्टि की सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहता है, क्योंकि यह बात देखने में आती है।

यद्यपि रस्सी में जो सर्प दीखता है अथवा सीप में जो चाँदी प्रतीत होती है, वह अविद्याकृत मायारूप बीज से ही उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने के पूर्व रज्जु आदि रूप से वे रहते हैं। क्योंकि यदि अधिष्ठान रूप रज्जु और मरुभूमि न हों तो सर्प और मृगतृष्णा कहाँ देखने में आवें? अतः यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि प्रतीति के रूप में उत्पन्न होने के पूर्व सर्प रज्जु के रूप में ही था अर्थात् उसकी प्रतीति का बीज रज्जु में था। यह बीज रज्जु का अज्ञान है। अविद्याकृत माया ही बीज है। इस प्रकार समस्त उत्पन्न होने वाले भावों के बीज प्राण में थे।

अतः श्रुति कहती है कि इस समय जो 'इद' के रूप में प्रतीत हो रहा है, वह सबका सब पहले ब्रह्म था। उत्पत्ति के पूर्व यह सब आत्मा ही था।

जैसे सूर्य से किरणें निकलती हैं, उसी प्रकार चिदात्मक पुरुष में चित्तरूप किरण है—चिदाभास है। यही चिदाभास बीजात्मक प्राण है। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ा हो, उसी प्रकार चिदाभास रूप बीजात्मा प्राण से प्राज्ञ, तैजस, विश्व आदि के रूप में देवता, पशु, पक्षी, मनुष्यादि ये देह में भिन्न-भिन्न रूप प्रपञ्च व्यक्त होता है।

चिदात्मा का जो स्वरूप है, वह जीवों का-चिदाभासों का बीज बन जाता है और उसमें जो उपाधि है कि वह सब शरीरों का मानो बीज है, उस बीजात्मक अवस्था को लक्ष्य में रखकर ही यहाँ प्राज्ञ का निरूपण किया गया है।

ये जितने पृथक्-पृथक् जीव प्रतीत होते हैं, ये सब चिदाभास और जितने विषय प्रतीत होते हैं-देहादि एवं पदार्थ के रूप में नामरूपात्मक जगत्, ये सबके सब सुषुप्ति में-प्रलय में बीजात्मा प्राण में ही रहते हैं।

जैसे मकड़ी अपने जाले को कभी अपने मुख से निकाल लेती है और कभी अपने मुख में लीन कर लेती है, इसी प्रकार बीजात्मा प्राण से सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय देखा जाता है।

जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार एक ही चिदात्मा से ये नाना प्रकार के चिदाभास व्यक्त होते हैं। उस एक ही बीज से यह समस्त नाम रूपात्मक सृष्टि निकली है। इस प्रकार यह प्राज्ञ ही सम्पूर्ण विश्व सृष्टि का बीज है।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा को ढूँढना है तो यह वृत्ति बनाओ कि हम यह जो कुछ सामने संसार के रूप में देख रहे हैं, यह परमात्मा है। यह नाम, उस नाम वाले का रूप और उस रूप से होने वाली क्रिया—यह सब ईश्वर है। दीखता कुछ है और भावना कुछ करते हैं। यह हम उपासना करते हैं। पूजा आदि में गोबर से गौरी बनाते हैं। और सुपारी से गणेश। दीखता गोबर पिण्ड तथा सुपारी है और उसमें भावना गौरी तथा गणेश की हम करते हैं। निमित्त कुछ दूसरा है, उस निमित्त को लेकर हम चित्त वृत्ति बदलते हैं। मन्दिर में मूर्ति पत्थर की दीखती है परन्तु उसमें भावना हम परमात्मा की करते हैं। यही उपासना है।

भक्ति के दो पुत्र श्रीमद्भागवत माहात्म्य में कहे गये हैं-ज्ञान और वैराग्य। आप राम, कृष्ण, शिव आदि किसी की भक्ति करेंगे तो आपका प्रेम उस इष्ट से हो जायगा—चित्तस्थ मूर्ति से होगा और संसार के बाह्य विषयों से प्रेम घट जायगा। विषयों से वैराग्य हो जायगा। वैराग्य होकर चित्तवृत्ति अन्तर्मुख होगी तब किसी दिन जिज्ञासा का उदय होगा कि देखने में तो यह मूर्ति है, बनी है और नष्ट होगी, किन्तु हमारे चित्त में यह परमेश्वर के रूप में विराजमान है, वह कैसे? इस जिज्ञासा से चित्तवृत्ति तत्त्व की ओर जायगी। तब हम अन्वेषण करेंगे कि जो नित्य है, सर्वव्यापक है, सबका कारण है, वह क्या है?

वह बाहर तो मिलेगा नहीं। विश्व का जितना भी 'यह' है वह सब 'मैं' के रूप में ही है। 'मैं' नहीं हो तो 'यह' रहता ही नहीं। इस प्रकार 'मैं' का अन्वेषण तुम्हें ईश्वर तक पहुँचा देगा। ज्ञान का उदय हो जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति पृथक् सोता है, पृथक् जागता है। अत यदि हम अनुमान के आधार पर ही 'मैं' का अन्वेषण करें और सुषुप्ति में उसकी बीजावस्था को देखें तो सब का बीज पृथक्-पृथक् जान पड़ेगा और उसकी धारा अनादिकाल से है। यदि वह कभी इस जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति की धारा से पृथक् भी होगा तो अपने स्वरूप में पृथक् स्थित होगा। जिस परिपूर्ण में ये पृथक् रहनेवाले बीज स्थित होंगे, वह ईश्वर होगा और जो पृथक् पृथक् स्थित होंगे वे जीव होंगे। जब हम आधार रूप से अन्य वस्तु की कल्पना करेंगे तब उस अल्प वस्तु में जीवों की पृथक्-पृथक् अवस्थिति होगी। उपासना सिद्धान्त में एक परिपूर्ण ईश्वर और पृथक्-पृथक् जीव माने जाते हैं। ये जीव जब जाकर ईश्वर में स्थित होंगे तब उनकी सायुज्यमुक्ति होगी–भेद सहिष्णु अभेद की उनकी स्थिति होगी।

जीव के मूल रूप में अवस्थान का एक रूप तो यह उपासना सिद्धान्त में माना हुआ है। दूसरा रूप है कि हम ढूँढ़ते हुए बीजावस्था में पहुँचते हैं तो ज्ञान के प्रकाश में वह बीजावस्था भी प्रकाशित हो जाती है। हम उस बीजावस्था के भी साक्षी हैं। यह बीज सम्पूर्ण देश, काल, वस्तुका भी बीज है और उसके हम प्रकाशक हैं। अत परिच्छिन्न नहीं हैं। परिपूर्ण ब्रह्म हम हैं। इस प्रकार बीज के साक्षी का अनुसन्धान करने से तुरीय वस्तु की उपलब्धि होगी। वह तुरीय वस्तु साक्षी अपना स्वरूप ही होगा।

यहाँ सृष्टि के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार के मतवाद हैं, उनकी थोड़ी चर्चा करेंगे, क्योंकि आगे विस्तार से इनकी चर्चा होनी है।

१

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृ०उ०२।५।१९) इति श्रुतेः। न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति। तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः। सूत्रतदारूढाभ्यामन्य-

परमार्थमायाऽपि स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति । स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥ ७ ॥

कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह दृश्यमान सृष्टि ईश्वर की विभूति है, अर्थात् ईश्वर ही इन सब रूपों में प्रकट हो गया है। जड़–चेतन समस्त जगत् ईश्वर का ऐश्वर्य है।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि माण्डूक्य उपनिषद् में ईश्वर प्राज्ञ से एक करके वर्णित है। सुषुप्ति में जो प्राज्ञ है, उसे ही 'एष सर्वेश्वर' बताया गया है। स्वप्नावस्था में वही अपने ऐश्वर्य का स्थापन करता है। अर्थात् स्वप्न में जो पृथ्वी, आकाश, आदि समस्त प्राणि पदार्थ हैं, वह सब वह स्वयं बना हुआ है। इसी प्रकार जाग्रत् में भी उसके ही ऐश्वर्य का विस्तार है। प्राज्ञ से अभिन्न जो सर्वेश्वर है अर्थात् अपना ही आत्मा इस स्वप्न, जाग्रत् का विस्तार करता है।

इस स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था का विस्तार करनेवाला कौन है? इस पर विचार करते समय जो सृष्टि चिन्तक हैं अर्थात् जो किस धातु—से—ये नाम-रूप बने हैं, इसका विचार न करके नाम रूप का विचार करनेवाले हैं वे इसे ईश्वर की विभूति बतलाते हैं।

जो लोग सृष्टि का चिन्तन करते हैं—केवल नाम रूप क्रिया पर विचार करते हैं, वे परमार्थ की ओर नहीं देखते, किन्तु जो परमार्थ को देखते हैं, उनके लिये सृष्टि का कोई मूल्य नहीं है। श्रुति कहती है कि इन्द्र-परमात्मा ही अपनी माया से अनेक रूपों में देखा जा रहा है।

परमार्थ का चिन्तन करनेवालों का सृष्टि–चिन्तन में आदर नहीं है। क्योंकि जब हम संसार के व्यवहार में कोई वस्तु लेने चलते हैं तो उसके रंग रूप, आकार प्रकार, लम्बाई आदि का विचार करते हैं। व्यवहार में घड़े-सकोरे का भेद करना पड़ता है। लेकिन जब परमार्थ का चिन्तन करना हो—मूलतत्त्व की खोज करनी हो तो घड़े या सकोरे की आकृति पर न जाकर उनके मूल द्रव्य मिट्टी का विचार करना चाहिये। अतः व्यवहार में तो नाम रूप क्रिया का विचार होता है और परमार्थ में मूलतत्त्व का अनुसन्धान किया जाता है।

अर्थ का परमरूप एक सत्ता है। यह प्रकाशक है, द्रष्टा है। पृथक्-पृथक् शरीरों में उनका ज्ञाता है। अतः ज्ञाता है परम अर्थ और दृश्य हैं अर्थ। क्योंकि ज्ञाता के बिना ज्ञेय रह नहीं सकता, अतः ज्ञेय का परम स्वरूप ज्ञाता ही है।

पृथक्–पृथक् शरीरों में ज्ञाता पृथक्–पृथक् हैं। सब ज्ञाताओं का भी द्रष्टा एक है। अतः द्रष्टा हुआ परम अर्थ और ज्ञाता हो गये अर्थ। द्रष्टा भी दृश्य की अपेक्षा से है।

दृश्य की अपेक्षा से, द्रष्टा और द्रष्टा की अपेक्षा से दृश्य। अतएव जो निरपेक्ष दृङ्मात्र-ज्ञानमात्र वस्तु है वह है परमार्थ और जो सापेक्ष हैं, वे हैं अर्थ।

इस परमार्थ के चिन्तकों का सृष्टि-चिन्तन में आदर नहीं है। वे शुद्ध वस्तु का ही चिन्तन करते हैं। लेकिन जो राग द्वेष प्रेरित चिन्तन करना चाहते हैं, उनके चित्तमें हमारा देह, हमारा परिवार, हमारी जाति, हमारा धर्म, हमारा राष्ट्र आदि आग्रह होता है। जब हम सीमित दृष्टि से वस्तु का चिन्तन करेंगे तो हमारा चिन्तन उपयोग दृष्टि से होगा। जिससे हमारा स्वार्थ सिद्ध होता होगा, उससे राग और जिससे उसमें बाधा पड़ती होगी, उससे द्वेष हो जायगा।

जिससे राग होगा, उसके गुण ही गुण दीखेंगे। उसके दोष दीखने में राग प्रतिबन्धक होगा और जिसमें द्वेष होगा उसके दोष ही दोष दीखेंगे। उसके गुण दीखने में द्वेष प्रतिबन्धक होगा। अतः हमें सत्य का ज्ञान नहीं होगा। जब तक अन्तःकरण में राग द्वेष है, वस्तु के सच्चे रूप का ज्ञान हमें नहीं होगा। इसीलिये अन्त करण की शुद्धि आवश्यक है।

अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होगी तो हम सृष्टि का ही चिन्तन करते रह जायेंगे। परमार्थ का चिन्तन नहीं होगा। राग-द्वेष को दूर करने की अनेकों युक्तियाँ हैं। एक कल्पित पदार्थ में राग करो तो ससार का राग छूट जायगा—यह उपासना हुई। किसी से भी राग द्वेष न कर के चित्तवृत्ति का निरोध करो, यह योग है। भेद मान कर ही राग-द्वेष होता है, अतः इस भेद दृष्टि को ही दूर करो विचार के द्वारा, यह ज्ञानका मार्ग है।

वस्तु के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करने पर ससार में जो राग-द्वेष है, वह स्वतः घट जाता है। जो कर्म से सृष्टि मानते हैं, उनका आदर कर्म में होता है। उनकी प्रवृत्ति सत्कर्म में होती है अपना जन्म सुधारने के लिये। जो सृष्टि को ईश्वरकृत मानते हैं, उनकी आदर बुद्धि ईश्वर के प्रति होती है। वे ईश्वर की उपासना करते हैं।

जब हम मानते हैं कि हमारे चित्त ने ही यह सृष्टि बनाई है तो चित्त के निरोध की इच्छा होती है। अथवा सिद्धियों को पाने की लालसा होती है। यदि चित्त में राग हुआ तो सिद्धि पाने मे प्रवृत्ति होगी और वैराग्य हुआ तो चित्त निरोध में। इस प्रकार सृष्टि कैसे हुई, यह मान्यता हमारे जीवन को प्रभावित करती है। उपनिषद् इस विषय में कहते हैं:—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

इन्द्र ही माया से अनेक रूपों मे उपलब्ध होता है। इन्द्र का अर्थ ईश्वर भी और ऐश्वर्यशाली भी। 'इदं' का जो द्रष्टा है, वह इन्द्र। उपनिषदों में इन्द्र शब्द की यही व्युत्पत्ति है।

यह इन्द्र—द्रष्टा अपनी माया से अनेक रूपों में देखा जा रहा है। यही द्रष्टा

और यही दृश्य। इसकी माया है काल, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन। इन इन्द्रियों के कारण ही यह एक ही चिद् वस्तु अनेक रूपों में दीख रही है। मन के कारण हम अपने आपको अनेक रूपों में सङ्कल्पित करते हैं। इसी प्रकार बुद्धि के कारण हेय-उपादेय का विचार करते हैं। अन्तःकरण के कारण अहं और अन्य का भेद होता है।

'मीयते जगत् इति माया' जिसमें जगत् देखा जाता है, जिससे जगत् प्रमाणित होता है, वह माया। नेत्र से रूप, कर्ण से शब्द, नासिका से गन्ध, रसना से स्वाद, त्वचा से स्पर्श प्रमाणित होता है। हाथ से क्रिया, चरण से गति प्रमाणित होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्, संकल्प-विकल्प एवं चिन्तन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से प्रमाणित होता है।

संसार में यह भेद क्यों दीख रहा है? इन्द्रियों की उपाधि से हम पदार्थ-दर्शन कर रहे हैं, इसलिये, यह उपाधि माया है। माया का कार्य होने से माया है। इस कार्य रूपा माया का कारण जो माया है, वह तो मूलभूता माया है। वह अपने स्वरूप में आरोपित है।

अब इस उपाधि को दूर करके—इन्द्रियों को, मन को, बुद्धि को, अहंकार को छोड़कर प्रपञ्च को देखो तो यह कैसा दीखता है। तुम अपने आपको ही देखकर, अपने आपको ही अन्य समझ रहे हो।

माया शब्द का अर्थ जादू-इन्द्रजाल। एक मायावी अर्थात् जादूगर है। वह जादू के खेल दिखा रहा है। उसने एक सूत आकाश की ओर उड़ा दिया और फिर शस्त्र लेकर उसी सूत पर चढ़ता हुआ आकाश में अदृश्य होगया। अब दर्शकों को लगता है कि आकाश में कोई युद्ध हुआ। उस युद्ध के फलस्वरूप जादूगर के अंग टुकड़े-टुकड़े कट कर नीचे गिरने लगे। उसका पूरा शरीर टुकड़े होकर अपने शस्त्र के साथ नीचे गिर गया। अब जो बालक खेल देख रहे थे, वे रोने लगे कि जादूगर मारा गया। फिर वही जादूगर जीवित खड़ा हो गया तो बालकों को आश्चर्य हुआ।

इस प्रकार का जादूका खेल श्री शंकराचार्यजी के समय में तो होता ही होगा, इस शताब्दी के प्रारम्भ तक होता था और ऐसे जादूगर विदेशों में भी गये थे, यह वर्णन मिलता है। सम्भव है, अब भी कोई इस प्रकार के खेल दिखा सकते हों।

जादू के इस खेल को देख कर बालक तो रोता है, किन्तु समझदार व्यक्ति उसके रहस्य को समझता है। वह समझता है कि सूत सच्चा नहीं, उस पर जादूगर का चढ़ना सच्चा नहीं, आकाश का युद्ध और वहाँ कटना-मरना सच्चा नहीं। यह तो जादूगर की करामात है। यह सब बातें न होकर भी दीखती हैं। इस खेल में सूत, सूत पर चढ़ने वाला, कटनेवाला, कट कर जीनेवाला—ये सब महत्त्व के नहीं हैं। महत्त्व का तो वह जादूगर है जो पृथ्वी पर ही रह गया था।

इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थायें चिदाकाश में सूत के समान हैं। इन अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये सूत पर चढ़ते दीखनेवाले जादूगर के समान हैं। जाग्रत् स्वप्न में और स्वप्न सुषुप्ति में लीन हो जाता है। यह इनका एक दूसरे का काट देना हुआ। फिर सुषुप्ति में से स्वप्न और स्वप्न में से जाग्रत् प्रगट हो गया। यह सब जादू का खेल है। इनमें न विश्व सच्चा है, न तैजस और न प्राज्ञ। यह एक ही जादूगर इन रूपों में दीख रहा है।

"केसव कहि न जात का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे॥"

ये सब चित्र-दृश्य शून्य भित्ति पर बने हैं। इनमें रंग सर्वथा नहीं है और इनका चित्रकार अशरीरी है। अर्थात् यह सब माया है। अतः जो भी राग-द्वेष शून्य होकर सत्य का आदर करेगा, वह इस माया के खेल में फँसेगा नहीं।

जैसे जादू के खेल में कोई वस्तु दीखी और नष्ट होगई, जैसे स्वप्न में कोई वस्तु दीखी और नष्ट होगई, इसी प्रकार संसार में जो दृश्य दीखते और नष्ट होते हैं वे फिर लौट कर आनेवाले नहीं हैं। ये भवन, स्वजन, धन, यह कुछ रह नहीं सकता। जादू के खेल के समान यह सब आता है, दीखता है और चला जाता है।

इस खेल के पदार्थों में अहंता ममता, राग-द्वेष करके ही लोग दुःखी हो रहे हैं। तुम्हारे भीतर कोई दुःख नहीं है। तुमने विश्व के पदार्थों को सत्य समझा और उनमें से कुछ से मोह कर लिया, कुछ से घृणा हो गई, बस इसी से तुम दुःख-सुख के चक्र में पड़े हो। अपने जीवन को तुम केवल अविचार के कारण नष्ट कर रहे हो।

"स्वप्नमाया सरूपेति। स्वप्नरूपा माया सरूपा चेति।"

सृष्टि स्वप्न के समान है। सृष्टि माया के समान है। यह बात दूसरा पक्ष कहता है। सृष्टि चिन्तक तो इसे ईश्वर की विभूति मानते ही हैं; किन्तु स्वप्न और माया के समान कहने वाले भी कई प्रकार के हैं।

सृष्टि को सत्य मानने वाले भी इसे स्वप्न और माया के समान कहते हैं। शून्य वादी भी शून्य और माया के रूप में वर्णन करते हैं। ब्रह्मवादी भी इसे स्वप्न और माया बतलाते हैं। अतः स्वप्न या माया कह देनेसे सृष्टि के रहस्य की मीमांसा नहीं हो जाती। इसे समझना पड़ेगा।

शास्त्रों में, पुराणों मे सृष्टि को माया अथवा स्वप्न के समान कहा गया है। अतएव शास्त्र को मानने वाले सभी मत में आचार्यों को शास्त्र की संगति लगानी पड़ती है। अतएव जो जगत् को सत्य मानने वाले हैं वे कहते हैं कि स्वप्न के समान संसार को

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यह सर्वथा मिथ्या है। जाग्रत् में सत्य वस्तु का संस्कार चित्त पर पड़ता है, वही संस्कार स्वप्न में वस्तु रूप में व्यक्त होता है। स्वप्न का सुख-दुःख भी पुण्य पाप का ही फल भोग है। यह बात कर्मवादी भी मानते हैं कि जो कर्म इतने अल्पसत्त्व हैं कि जाग्रत् में स्थूल सुख दुःख नहीं दे सकते, वे अपना फल स्वप्न में देते हैं। इसलिए स्वप्न भी फल रूप है। जाग्रत् में जैसे सुख-दुःख संस्कारजन्य हैं, वैसे ही संस्कारजन्य स्वप्न में भी हैं। अतः स्वप्न भी सत्य है।

माया के सम्बन्ध में शास्त्रवादियों का एक मत है कि यह दृश्य प्रपञ्च जीव की माया नहीं है। यह ईश्वर की माया है। ईश्वर में प्रपञ्च अध्यारोपित नहीं है। ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति का नाम माया है। उसी माया से सृष्टि बनती है। इस प्रकार सगुणवादियों के मत में माया झूठी नहीं है। ईश्वर की माया होने से वह सत्य है।

बौद्ध लोग चित्त की क्षणिक अवस्था को विज्ञान कहते हैं। वे जाग्रत् और स्वप्न दोनों को विज्ञानमात्र कहते हैं। उनके मत में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों विज्ञानमात्र हैं। वे सृष्टि को विज्ञानस्पन्दित मानते हैं। उन विज्ञानवादियों के मत में भी सृष्टि स्वप्न के समान ही है। लेकिन उनका विज्ञान क्षणिक है। वे विज्ञान की धारा के प्रवाह को ही संसार मानते हैं। अतः सृष्टि को स्वप्नरूप कहने का उनका तात्पर्य है। चित्तस्पन्दित-मनः स्पन्दित-विज्ञानस्पन्दित है। उनके मत में भी सृष्टि मिथ्या है, किन्तु इसका कोई अधिष्ठान नहीं है।

बौद्धों ने भी माया को स्वीकार किया है। स्वप्न का दृष्टान्त वैसे तो उपनिषदों, पुराणों में आता है; किन्तु मुख्य रूप से उसका प्रयोग विज्ञानवादियों ने ही किया है। माया का उनका अपना अर्थ है। वे शून्य को माया मानते हैं। वे कहते हैं कि नितान्त असत्य, नास्तिरूप, अनिरुक्त शून्य ही सृष्टि के रूप में निरधिष्ठान प्रतीत हो रहा है। निरधिष्ठान में यह प्रपञ्च की प्रतीति ही माया है।

अद्वैत वेदान्त का स्वप्न और माया का प्रयोग विलक्षण है। अद्वैत वेदान्त स्वप्न को कर्म का फल नहीं मानता और न ईश्वर का मानता। मनःस्पन्दितमात्र स्वप्न है। स्वप्न के पदार्थ जिस समय दिखाई देते हैं; उस समय वे भले ही संस्कारजन्य हों या उनका और कोई कारण हो; किन्तु प्रतीति काल में वे दीखते हुए भी होते नहीं, मिथ्या होते हैं। जैसे रज्जु में सर्प दीखना किसी कर्म का फल नहीं, प्रतीतिमात्र है, वैसे ही स्वप्न भी प्रतीतिमात्र है। इस अर्थ में वेदान्ती स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं। स्वप्न का दृष्टान्त हम कार्य-कारण का विवेक करने के लिये नहीं देते। स्वप्न प्रतीति काल में उसके सब पदार्थ मिथ्या हैं, यह समझाने के लिये स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं कि इसी प्रकार जाग्रत् भी मिथ्या है। जाग्रत् का मिथ्यात्व समझाने के लिये हमारा स्वप्न-दृष्टान्त है।

बौद्धों के मत में जाग्रत्-स्वप्न एक ही अवस्था है अतः उन्हें दोनों को एक कर

देना अभीष्ट है। सुषुप्ति को भी वे स्वप्न के अन्तर्गत कर देते हैं। लेकिन हमारे मत में स्वप्न और जाग्रत् दो अवस्था हैं। स्वप्न के दृष्टान्त से हम जाग्रत् का मिथ्यात्व समझते हैं।

इस प्रकार एक मत है कि यह सृष्टि ईश्वर की एक विभूति है और दूसरा मत है कि यह स्वप्न के समान या माया के समान है।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥८॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥९॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः संकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥ ८ ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥९॥

कोई कोई कहते हैं कि प्रभु की इच्छामात्र ही सृष्टि है, यह निश्चित बात है। काल के विषय में विचार करनेवाले मानते हैं कि कालसे ही जीवों की उत्पत्ति होती है। कुछ लोग मानते हैं कि सृष्टि भोग के लिये है और दूसरों की मान्यता है कि यह क्रीड़ा के लिये है। लेकिन यह देव-परमात्मा का स्वभाव ही है, अन्यथा उन पूर्णकाम को भला क्या इच्छा हो सकती है।

एक पक्ष है कि प्रभु की इच्छामात्र ही सृष्टि है। ईसाई, मुसलमान कहते हैं कि प्रथम सृष्टि नहीं थी। ईश्वर ने कहा –'हो जा' और सृष्टि हो गई। सृष्टि के मूल में कोई परमाणु, प्रकृति, जीव या जीव का प्रारब्ध रूप कारण नहीं था। ईश्वर ने इच्छा की और सृष्टि हो गई।

कट्टर वैष्णव, कट्टर शैव और कट्टर शाक्तों के दो भेद हैं। उनमें एक तो मानते हैं कि ईश्वरने कर्म सापेक्ष सृष्टि बनाई है। आचार्य लोग कहते हैं कि ईश्वर ने सापेक्ष होकर अर्थात् पूर्व कल्पमें जैसी सृष्टि थी, जीवों के जैसे कर्म थे, उसके अनुसार सृष्टि बनाई। लेकिन दूसरा कट्टर ईश्वरवादी पक्ष मानता है कि ईश्वर सापेक्ष सृष्टि नहीं बनाता। वह स्वतन्त्र सृष्टि बनाता है।

शास्त्रवादी कहते हैं कि यदि ईश्वर स्वतन्त्रता से सृष्टि करेगा तो उसमें वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष आवेंगे अर्थात् वह पक्षपाती और निर्दय सिद्ध होगा। क्योंकि यदि उसने अपनी इच्छा से स्वतन्त्र रूप में सृष्टि की तो किसी को सुखी और किसी को दुःखी क्या बनाया? पशु, कीट, दुर्बल, रोगी, दरिद्र, अपंगादि क्या बनाता है वह? इस प्रकार ईश्वर में पक्षपात और निर्दयता का दोष आवेगा। अतएव ईश्वर की सृष्टि-रचना का कुछ न कुछ निमित्त होना चाहिये। यह निमित्त है पूर्व सृष्टि के जीवों के कर्म। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही अनादि काल से यह सृष्टि चली आ रही है।

इस कर्मप्रधान हिन्दू शास्त्र के साथ दूसरे पक्ष का मतभेद है। कट्टर ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर यदि लोगों को उनके कर्म के अनुसार ही भोग देता है तो ईश्वर की स्वतन्त्रता कहाँ रही? वह न किसी पर दया कर सकता न किसी को कर्म भोग से छुटकारा दे सकता। अतः वह तो कर्म परतन्त्र हुआ। अतः ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि करता है, यह बात ठीक नहीं है। ईश्वर तो पूर्ण स्वतन्त्र है। सृष्टि प्रभु की इच्छा-सङ्कल्प मात्र है। 'लीला कैवल्य' है। जब इच्छा हुई, अकेला रह गया और जब मौज हुई सृष्टि कर ली। मध्ययुगीन संत सृष्टि को 'मालिक की मौज' कहते हैं।

अब इस पर विचार करें कि यह इच्छा ईश्वर के पूर्णांश में है या एकांश में? एक काल में है या सर्वकाल में? ईश्वर में एक इच्छा है या अनेक? ईश्वर में अपनी इच्छा का अभिमान है या नहीं? ईश्वरेच्छा ज्ञात विषयक है या अज्ञात विषयक? प्राप्त विषयक है या अप्राप्त विषयक? इच्छा अनिमित्त हुई या सनिमित्त? यदि सनिमित्त हुई तो वह निमित्त ईश्वर से भिन्न या अभिन्न?

ये सबके सब प्रश्न किसी पक्ष में उत्तर नहीं देने देंगे। ईश्वर में इच्छा किसी निमित्त से हुई तो वह निमित्त पहिले से था ही, फिर सृष्टि तो थी। वह निमित्त चेतन था या जड़? इस प्रकार के अनेकों प्रश्न उठेंगे। इच्छा ईश्वर के एकांश में हुई मानेंगे तो ईश्वर देश परिच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि जिसमें कोई अंश होगा, उसका पूरा आकार उस अंश का करोड़-अरब आदि गुणित होगा। अंश के द्वारा उसकी माप हो सकेगी। इसी प्रकार ईश्वर में इच्छा किसी काल में मानने पर ईश्वर काल परिच्छिन्न हो जायगा। क्योंकि जिसमें इच्छा का वर्तमान काल होगा, उसका भूत और भविष्य होना होगा।

ईश्वर की इच्छा स्वविषयक है या अन्य विषयक? अन्य विषयक हो तो अन्य की उपस्थिति पहले से माननी पड़ेगी। वह अन्य ईश्वर के भीतर है या बाहर? अन्य की उपस्थिति ईश्वर की व्यापकता को सीमित करेगी। ईश्वर अज्ञान विषयक इच्छा करे तो उसे भी कुछ अज्ञात है, यह मानना होगा और ज्ञात विषयक इच्छा करे तो वह ज्ञान उससे भिन्न है या अभिन्न, यह प्रश्न फिर उठेगा।

ईश्वर की इच्छा एक मानें तो सदा सृष्टि एक-सी रहेगी उस इच्छा के अनुसार और इच्छा अनेक मानें तो यह मानना होगा कि ईश्वर एक इच्छा करता है, फिर उसे मिटा कर दूसरी इच्छा करता है। तब ईश्वर सत्यसंकल्प नहीं हुआ। जो ईश्वर पहिले एक इच्छा करे, एक ज्ञान दे और फिर उसे त्रुटिपूर्ण देखकर मन्सूख करके दूसरा ज्ञान दे, वह सर्वज्ञ कहाँ रहा?

ईश्वर इच्छा का विषय है या आश्रय? इच्छा ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न? इस सबका तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार ईश्वर में इच्छा का निर्वचन नहीं किया जा सकता। अन्ततोगत्वा मानना यह पड़ता है कि जो लोग सृष्टि को पहिले ही सत्य मान लेते हैं, उन्हें मानना पड़ता है कि सृष्टि बनायी गई है। जब बनाई गई है तो बनाने वाला कोई है, जिसके संकल्प से बनी है। इस प्रकार ये सब विकल्प पहिले आरोपित करके तब इसके सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। सृष्टि चिन्तक सृष्टि को सत्य मानकर तब उसके निर्माण का कारण ढूँढते हैं। अतः वे कहते हैं कि यह सृष्टि ईश्वर की इच्छा से बनी है।

दूसरे मतवादी कहते हैं कि ईश्वर तो तटस्थ है। समूची सृष्टि काल के आधार पर है। जैसे समय पर वर्षा होती है, समय पर वृक्ष फूलता-फलता है, उसी प्रकार सृष्टि प्रलय भी अपने समय पर होती है। ये कालचिन्तक-ज्योतिषी लोग समय को ही सृष्टि का हेतु मानते हैं।

इनमें कोई मूल कारण सृष्टि का काल मानते हैं, कोई स्वभाव (प्रकृति) मानते हैं, कोई यदृच्छा (संयोग) मानते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार चलते हैं।

ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रह नक्षत्रों की गति-स्थिति का गणित करके संसार के प्राणि पदार्थ की अवस्था का निश्चय करते हैं। ग्रहादि की गति के आधार से ही उनके मतमें सृष्टि एवं प्रलय का निश्चय होता है।

काल के सम्बन्ध में लोग बहुत कम जानते हैं। काल क्या है? कालका मापक घड़ी है? रात-दिन हैं? सूर्य-चन्द्र हैं? ज्योतिपनीहारिकापिण्ड हैं? इनमें कोई नहीं है। क्योंकि महाप्रलय में इनमें से कोई नहीं रहता। काल का मापक है क्रम संवित्। पुष्प की कली थी, पुष्प बना फिर सूख गया-यह जो क्रम है, यही क्रम-संवित् भूत, भविष्यादि काल का मापक है। इस क्रम संवित से ही काल का अनुमान होता है। अब सोचो कि *महाप्रलय म जब सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्रादि नहीं थे, अन्धकार-प्रकाश नहीं था,* मन भी संकल्प नहीं करता था, उस समय भूत, वर्तमान, भविष्य रूप काल का ज्ञाता कौन था? उस समय काल अभेद रूप था। सृष्टि में भेद रूप काल और प्रलय में अभेद रूप काल, किन्तु इन दोनों का जो साक्षी है, उसमें काल आया कहाँ से? काल तो केवल स्फुरणा ही है और वस्तु भी स्फुरणा है। स्फुरणा का भी आरोप इसलिये किया जाता है: क्योंकि ये तीनों प्रतीत होते हैं।

आत्मदृष्टि से तो सुरणा भी आरोपित ही है। अतः जो लोग स्वयं के परम स्वरूप का चिन्तन करते हैं, वे इस भेद रूप प्रपञ्च पर दृष्टि नहीं डालते।

ईश्वर सत्यसंकल्प हैं, अतएव घट आदि की सृष्टि प्रभु का संकल्प मात्र है। उनके संकल्प से भिन्न सृष्टि नहीं है। दूसरे सृष्टि काल मे ही है, ऐसा कहते हैं।

इस सृष्टि का प्रयोजन क्या है? अन्ततः यह सृष्टि बनी ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर सृष्टि-चिन्तक, सृष्टि को सत्य माननेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार से देते हैं।

'यह सृष्टि भोगार्थ है अथवा क्रीडार्थ है।' इस प्रकार दूसरे कुछ लोग मानते हैं। 'यह देव का स्वभाव है' यह कहते हुए देव के स्वभाववाद को लेकर कारिकाकार इन दोनों पक्षों को दोषयुक्त बतलाते हैं। अथवा 'आप्तकाम को स्पृहा कैसी' यह चतुर्थ कारिका-चरण अब तक के सभी पक्षों को दोषयुक्त बतलाता है। क्योंकि अविद्यारूप स्वभाव के अतिरिक्त रज्जु आदि में सर्पादि की अभिव्यक्ति का दूसरा कोई कारण बना पाना शक्य नहीं है।

सृष्टि भोग के लिये है—यह मानने पर प्रश्न उठा कि किसके भोग के लिये? जीव के भोग के लिये। संसार की सब वस्तुएँ अनादि हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का बीज स्वीकार करना पड़ता। बीज-वृक्ष न्याय से प्रत्येक प्राणि-पदार्थ की परम्परा अनादि है।

यदि सृष्टि का बीज हो तो वह ज्ञानात्मक है या अज्ञानात्मक? अज्ञानात्मक है, क्योंकि सृष्टि के बीज की आदि का किसीको कोई ज्ञान नहीं है। अतः यह सृष्टि अनादि है और जीव भी अनादि है। अनादि कर्म के वशवर्ती होकर और प्रलयकाल में सुषुप्ता-वस्था मे रहता है। सृष्टिकाल मे परमकृपालु परमेश्वर उसे भोग के लिये जगाता है। इस प्रकार जीव के भोग के लिये सृष्टि है यह एक प्रयोजन की कल्पना की गई है।

दूसरी कल्पना है कि सृष्टि ईश्वर अपनी क्रीड़ा के लिये करता है। यह सृष्टि-प्रलय का खेल एक प्रकार की आँख मिचौनी है। प्रलयकाल मे जीव अज्ञानान्धकार में सो जाते-छिप जाते हैं और ईश्वर उनको ढूँढ़कर जगाता है। सृष्टिकाल में ईश्वर छिप गया, जीव उसे ढूँढ़ रहे हैं। यह क्रीड़ा चल रही है जीवों के साथ ईश्वर की। श्रुति जीव और ईश्वर को मित्र कहती है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" दोनों परस्पर खेल रहे हैं। लेकिन जीव अल्पज्ञ होने से संसार मे आकर यहाँ के पदार्थों में लुब्ध हो जाता है। वह भूल जाता है कि उसे अपने परममित्र को ढूँढना है। जो संसार के रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि में भूल नहीं जाते वे उसे ढूँढते हैं।

इस ढूँढने के अनेक प्रकार हैं। कोई उसे नाम ले लेकर पुकारते हैं, कोई उसके न मिलने से रोते हैं, कोई ढूँढते हुए थक कर आँख बन्द करके समाधि लगाते हैं कोई 'नेति-नेति' के मार्ग से प्रत्येक आवरण दूर करके उसे ढूँढ़ते हैं।

जो संसार के पदार्थों में लुब्ध हैं, खाने-पीने में मस्त हैं, उनके पास आने की ईश्वर को कोई आवश्यकता नहीं है। जो उसका नाम लेकर पुकारते हैं या उसके लिये रोते हैं, उनके सम्मुख सगुण साकार ईश्वर प्रकट होता है। लेकिन जो बहुत चतुर हैं वे सोचते हैं कि परमात्मा तो अद्वितीय है। उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु तो है ही नहीं। तब कहीं हमारे साथ क्रीड़ा करने के लिये उसीने तो दूसरा रूप नहीं बना लिया है? वे संसार को देख कर ही कहते हैं—'देख लिया'। वेदान्त का मत है कि शुद्ध वस्तु का साक्षात्कार होता नहीं है। साक्षात्कार सदा अन्तःकरण रहते, अन्तःकरण उपहित का ही होगा। अतः देखते तो अन्तःकरणोपहित को हैं और कहते हैं कि देख लिया। उनके सामने भी परमात्मा प्रकट हो जाता है; क्योंकि उपहित भी वही है। अतः जिसने पहिचान लिया, उससे छिपना अनावश्यक है।

इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में अब तक इतने मतों की चर्चा हुई—१-ईश्वर ने अपना ऐश्वर्य प्रकट करने को सृष्टि बनाई। २-सृष्टि स्वप्न और माया के समान है। ३-सत्यसङ्कल्प ईश्वर के सङ्कल्प से सृष्टि हुई है। ४-सृष्टि काल से उत्पन्न हुई। ५-सृष्टि का प्रयोजन भोग है। ६ क्रीड़ा के लिये सृष्टि है।

इन सब कारणों में दोष हैं। इनमें निर्दोष कोई कारण नहीं है। ईश्वर ने भोग के लिये सृष्टि बनाई तो जीव सदा कर्म करे और भोग भोगे। उसकी मुक्ति कभी होगी ही नहीं। यदि ईश्वर ने खेलने के लिये सृष्टि बनाई तो खेलने में केवल बालकों की रुचि होती है। गम्भीर लोगों की रुचि होती नहीं। फिर दूसरों से खेलने की इच्छा भी कामना ही है। जब अपने में कोई अभाव या अतृप्ति हो, तभी अन्य के साथ खेलने की इच्छा होती है। जो अपने में ही तृप्त है, पूर्णकाम है, वह दूसरों से खेलने की इच्छा क्यों करेगा? इस प्रकार क्रीड़ावाली बात भी असंगत है।

"देवस्यैषस्वभावोऽयम्"

अन्त में सृष्टि क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि यह देव का स्वभाव ही है। जो आप्तकाम, सबसे परे है, जिसमें अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं है, उसमें माया के बिना ऐश्वर्य का स्थापन नहीं हो सकता। क्योंकि जिसमें द्वितीय सत्ता ही नहीं, वह ऐश्वर्य किसे दिखावेगा?

स्वप्न और माया शब्द का प्रयोग अवस्तु के लिये होता है। जैसे विज्ञान स्वप्न के प्रत्याकार परिणाम को प्राप्त होता है, वैसा परिणामी परमात्मा तो है नहीं। उसमें परिणाम सम्भव नहीं। परमात्मा की अवस्तु से एकात्मता न हो तो स्वप्न और माया की सृष्टि से सगति लगाई नहीं जा सकती।

परमानन्द स्वरूप परमात्मा में माया के बिना इच्छा की सगति भी नहीं लगेगी। उस नित्य निर्विकार में इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार माया के बिना

भोग या क्रीड़ा की उपपत्ति भी नहीं होगी। अतः दृश्यमान सृष्टि की किसी प्रकार संगति लगती नहीं।

इस सबका तात्पर्य यह है कि जो कोई किसी भी युक्ति से सृष्टि का निर्वचन करना चाहेगा, उसीकी युक्ति से-उसीकी स्वीकृति से उसीकी मान्यता असंगत हो जायगी। अब कहो कि सृष्टि अनिर्वचनीय है। सत्य यह है कि सृष्टि की सभी वस्तु सापेक्ष हैं-अनिर्वचनीय हैं। उदाहरण के लिये गन्ध किसे कहते हैं, यह पूछें तो कहा जायगा कि नासिका से जो गुण ग्रहण होता है, उसे गन्ध कहते हैं। अब नासिका किसे कहते हैं? गन्ध को जो इन्द्रिय ग्रहण करे वह नासिका। नासिका के ज्ञान के बिना गन्ध का ज्ञान नहीं और गन्ध के ज्ञान के बिना नासिका का ज्ञान नहीं। गन्ध और नासिका दोनों सापेक्ष हो गये। इस प्रकार समस्त सृष्टि सापेक्ष है। इस सापेक्षता को प्रकाशित करने वाला इनका जो अधिष्ठान है, वही निरपेक्ष-तत्त्व है। वह निरपेक्ष तत्त्व अपनी आत्मा है।

सबको प्रकाशित करने वाले, सर्वाधिष्ठान इन निरपेक्ष आत्मदेव का यह स्वभाव है-यह सृष्टि उनका स्वभाव है। क्योंकि वे आप्तकाम हैं, इनमें कोई स्पृहा तो हो नहीं सकती।

स्वभाव का क्या अर्थ? प्रकाशित करना-देखना स्वभाव है आत्मदेव का और वे अन्य न होने से अपने को ही अन्य रूप में देखते हैं। पूर्ण देखा नहीं जा सकता, अतः पूर्ण ही अपूर्ण के रूप में दीख रहा है। जैसे नेत्र की शक्ति आकाश को देखने की न होने से आकाश में नीलिमा दीखती है यह नीलिमा दीखना स्वभाव है, वैसे ही यह विश्वप्रपञ्च की प्रतीति स्वभाव है। यह अन्यथाग्रहण-अग्रहण का परिणाम है।

आत्मदेव का स्वभाव है ज्ञानमात्र और ज्ञान ज्ञेय नहीं हुआ करता। इसीसे अन्यथा ग्रहण होता है। प्रतीति करना मात्र उसका स्वभाव है। प्रतीति उपाधि के द्वारा होती है। उपाधि स्वयं साक्षीभास्य है। साक्षीभास्य होने से जो अन्तःकरण की उपाधि का साक्षी है, वही उपाधि के द्वारा दृश्यमान सम्पूर्ण विषयों का भी अधिष्ठान है-साक्षी है। इस प्रकार जब साक्षी और सर्वाधिष्ठान की एकता का बोध होता है तब प्रतीयमान प्रपञ्च में सत्यत्व की भ्रान्ति सर्वथा दूर हो जाती है।

सृष्टि के सम्बन्ध में जितनी प्रक्रिया हैं, वे तो परमात्मा के रूप में उतरने की केवल सीढ़ियाँ हैं। उनके द्वारा हमारी बुद्धि परमात्मा की ओर चले। सत्य वस्तु का प्रतिपादन तो अब आगे चतुर्थ पाद में करेंगे।

चतुर्थ पाद

यह बात पहिले ही स्पष्ट की जा चुकी है कि आत्मा में पशु के समान चार पाद नहीं हैं। रुपये में चार चवन्नी की भांति पाद की कल्पना है। आत्मा में अवस्था या स्थितियां भी नहीं होतीं। जाग्रत् आदि अवस्थायें उसमें प्रतीयमान ही हैं। जैसे दर्पण में कहीं पर्वत, कहीं सूर्य और कहीं अन्धकार दीखने से दर्पण स्थूल, प्रकाश या अन्धकार नहीं होता, वैसे ही इन जाग्रत् आदि प्रतीतियों से आत्मा की एकरसता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह–नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति।

शून्यमेव तर्हि तत्।

न, मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्।

एवं तर्हि प्राणादि सर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वम् इति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वम्। उदकाधारादेरिव घटादेः।

न, प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभागवस्तुत्वात्। नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्, आत्मनो निरुपाधिकत्वात्। गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्। नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्। अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति।

शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि।

न, आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः। न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोऽस्ति। न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति, सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। "तत्त्वमसि" (छा. उ. ६।८।१६) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ. उ. २।५।१९)। "तत्सत्यं स आत्मा" (छा. उ. ६।८।१६) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ. उ. ३।४।१) "सबाह्याभ्यान्तरो ह्यजः" (मु. उ. २।१।२)। "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा. उ. ७।२५।२) इत्यादीनाम्।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसमम्युक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाह-नान्तःप्रज्ञमित्यादि ।

अब तक तीन पाद का वर्णन हुआ है। अब क्रम के अनुसार चतुर्थ पाद का वर्णन करना चाहिये, इसलिये आगे का प्रसंग प्रारम्भ होगा।

आगे का यह प्रसंग 'नान्तःप्रज्ञ' श्रुति से प्रारम्भ हुआ है। किसी भी वस्तु का वर्णन करने की हमारी पद्धति पाँच प्रकार की है। १–सम्बन्ध वृत्ति से, जैसे 'जलका घड़ा ले आओ।' जल से बना तो कोई घड़ा है नहीं, बोलने का तात्पर्य इतना है कि जिस घड़े में जल है, जल से जिसका सम्बन्ध है वह घड़ा लाओ। २–रूढ़ वृत्ति, हमने एक का अमुक नाम रख दिया। उस नाम के अर्थ में तात्पर्य नहीं, बस उस वस्तु का यह नाम है। जैसे–पङ्कज का अर्थ तो है कीचड़ से उत्पन्न वस्तु; किन्तु कीचड़ से उत्पन्न सब वस्तुओं को हम पङ्कज नहीं कहते। पङ्कज हम कहते हैं जल में होने वाले पुष्प विशेष को। ३–जाति सामान्य, अर्थात् यह मनुष्य, यह पशु, यह पक्षी। इसमें एक विशिष्ट पदार्थ का निर्देश न करके हम एक पूरी जाति का निर्देश कर देते हैं। ४–क्रिया वृत्ति कर्म के द्वारा हम निर्देश करते हैं, जैसे–यह ड्राइवर है, यह रसोइया है, ये कवि हैं, ये कथावाचक हैं। ५–गुण वृत्ति—हम गुण के द्वारा वस्तु का निर्देश करते हैं, जैसे—लाल–काला, मीठा, खट्टा, विद्वान–मूर्ख, सीधा–टेढ़ा।

इन पाँच–वृत्तियों से ही हम समस्त वस्तुओं का वर्णन करते हैं। यह वर्णन करने की शास्त्रीय परिपाटी है। जो बिना विचार के अशुद्ध असंगत बोलते हैं, उनकी बात भिन्न है। अब तुरीय वस्तु ब्रह्म का वर्णन करना है, तो उसका वर्णन उपरोक्त पाँच रीतियों में से किस रीति से किया जायगा? उपनिषद् में तो ब्रह्म का वर्णन इन पाँचों से भिन्न परिपाटी से किया गया है। ऐसा क्यों किया गया, यही बात भाष्यकार भगवान शंकराचार्य पहिले समझाते हैं।

समस्त शब्दों की प्रवृत्ति के जितने निमित्त हैं, उनसे यह आत्मा रहित है। पहिले के वर्णन की पाँचों वृत्तियाँ इसमें नहीं हैं, न तो इसका किसी से सम्बन्ध है, न यह दृश्य है कि कोई नाम कल्पित करके निर्देश कर दें, न इसमें कोई जाति, क्रिया या गुण ही है। अतः जिन–जिन निमित्तों से शब्दों का प्रयोग होता है, वे कोई निमित्त तुरीय तत्त्व आत्मा में नहीं हैं। अतएव शब्द के द्वारा आत्मा का–ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता।

ब्रह्म शब्द के द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, यह इसलिये कहते हैं कि अपने आप को तो कोई देख सकता नहीं। इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा तो केवल बाह्य विषयों का ग्रहण होता है। मन–बुद्धि की भी गति नहीं;

क्योंकि इन्द्रियगोलक जाग्रत् तक रहते हैं और मन बुद्धि स्वप्न तक। ये सुषुप्ति में ही लीन हो जाते हैं। रह गया शब्द प्रमाण, उसकी भी गति परमात्मा में नहीं है, क्योंकि जो वस्तु पहिले से प्रत्यक्ष हो, शब्द के द्वारा उसीकी पहिचान करायी जाती है। घड़ी है, उसे जो पहिचानता नहीं, उसे बता देंगे कि यह घड़ी है। अथवा पहिले से शब्द तथा अर्थ-ज्ञान हो घड़ी शब्द भी जानता हो और घड़ी वस्तु भी देखी हो, किन्तु शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान न हो, इसे घड़ी कहते हैं—यह न जानता हो तो उसे शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान करा देंगे, किन्तु ब्रह्म ऐसा भी नहीं है।

अतएव किसी वस्तु के निर्देश के जितने निमित्त हैं, उनमें से कोई ब्रह्म में नहीं है। इसीलिये उपनिषद् सबका निषेध करके आत्मा का निर्देश करने की प्रणाली अपनाता है, क्योंकि अपना अस्तित्व है, यह स्वतः सिद्ध है। इसमें किसी को सन्देह नहीं है; किन्तु यह अपना आपा अप्रमेय है। प्रमाण की आवश्यकता वहां है, जहां वस्तु में सन्देह हो। अपने अस्तित्व में कोई सन्देह है नहीं। इस प्रमाणनिरपेक्ष तुरीय वस्तु का निर्देश दृश्य का निषेध करके ही किया जा सकता है।

जब निषेध ही निषेध है तो यह तुरीय वस्तु शून्य होगी, इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं-नहीं। क्योंकि जितने मिथ्या विकल्प होते हैं, वे बिना निमित्त के नहीं होते। यदि सीप न हो तो चाँदी का भ्रम किस में होगा? यदि रस्सी न हो तो सर्प की भ्रान्ति कहाँ होगी? यदि स्थाणु, (ठूँठ) न हो तो मनुष्य की प्रतीति किस आधार में होगी? यदि मृग-मरीचिका न हो तो जल की कल्पना किसमें उठेगी? अतः अधिष्ठान के बिना मिथ्या कल्पना नहीं हुआ करती। जब कुछ होता है, तभी उसमें अन्य कुछ का भ्रम भी होता है।

जो कुछ दीख रहा है, वह किसी वस्तु में, किसी देश में, किसी काल में दीख रहा है। अतः जितने परिच्छिन्न पदार्थ दीख रहे हैं, उनके दीखने का आधार कोई अपरिच्छिन्न सत्ता अवश्य होनी चाहिये।

यह बाहर का संसार, इसे देखने वाले इन्द्रिय-गोलक, इन्द्रियों को देखने वाला मन, मन को देखने वाली बुद्धि-ये सब दृश्य हैं। इनका लय जिस सुषुप्ति में होता है, उसका भी हमें अनुभव है, अतः वह भी दृश्य है। इस सब दृश्य का आधार एक होना चाहिये।

यह सब प्रपञ्च किसीमें है और किसीको दीख रहे हैं। द्रष्टा न हो तो दीखे किसे? अतः इस प्रपञ्च का निषेध कर देने पर जो बच रहता है वह शून्य नहीं हो सकता।

अच्छा, यदि प्रपञ्च का आधार शून्य है तो उसका कोई साक्षी है या नहीं? यदि कोई साक्षी नहीं है तो शून्य है, इसमें प्रमाण ही कुछ नहीं रहा। यदि कोई साक्षी है तो शून्य रहा कहाँ? वहाँ द्रष्टा सिद्ध हो गया।

अतः बिना किसी आधार के अभाव की सिद्धि हो नहीं सकती।

यहाँ फिर प्रश्न उठा कि यदि प्राणादि समस्त विकल्पों का आधार तुरीय तत्त्व है तो उसे शब्दवाच्य होना चाहिये; क्योंकि तब आधार वृत्ति से उसका वर्णन सम्भव होगा। अतएव ऐसा वर्णन क्यों नहीं करते कि जो नाम, रूप, किया का आधार है, वह ब्रह्म-आत्मा प्रत्यक्चैतन्य है।

जैसे कहते हैं कि जिसमें जल है, वह घड़ा। इसी प्रकार ऐसा क्यों नहीं कहते कि जिसमें वायु, सूर्य, जलादि दृश्यप्रपञ्च, देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि हैं, वह ब्रह्म है। केवल निषेध के द्वारा ही परमात्मा का वर्णन हो सकता है, ऐसा नियम क्यों बनाते हो?

अब प्रश्न का उत्तर देते हैं कि संसार का आधार परमात्मा है, इस प्रकार परमात्मा का वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार सीप में चाँदी नहीं होती, रस्सी में साँप नहीं होता, उसी प्रकार ये प्राणादि विकल्प तुरीय तत्त्व में नहीं हैं।

यदि यह दृश्यप्रपञ्च सत्य होता तो सत्य के साथ इसका सम्बन्ध हो जाता; किन्तु दृश्यप्रपंच तो है ही नहीं। अतः इसका सम्बन्ध नहीं बन सकता।

सत् और असत् का सम्बन्ध शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं हो सकता। अतः जहाँ सम्बन्ध सत्य नहीं है, वहाँ सम्बन्धवृत्तिसे वस्तु का वर्णन नहीं हो सकता।

अब यदि कहा जाय कि हम जैसे रूढ़िवृत्तिसे गौ का वर्णन करते हैं; क्योंकि 'गच्छतीति गौः' जो चले वह गाय, किन्तु सब चलनेवालों का नाम न कहकर हम एक पशु में इसे रूढ़ मान लेते हैं, इसी प्रकार परमात्माका वर्णन करेंगे तो ऐसा वर्णन भी नहीं कर सकते। क्योंकि रूढ़िवृत्ति तो देखे हुए पदार्थ में ही होगी। जो अदृश्य तत्त्व है, उसमें रूढ़िवृत्ति चल नहीं सकती।

ब्रह्म भी एक नाम है, ऐसा समझना भ्रम होगा। 'आत्मा ब्रह्म है' का अर्थ है कि आत्मा को जो तुम परिच्छिन्न मानते हो, ऐसा नहीं है। परिच्छिन्नता का निषेधक ब्रह्म शब्द है। इसी प्रकार आत्मा या परमात्मा नाम नहीं है। अन्य नहीं है, यह सूचित करने के लिये कहते हैं कि आत्मा है। इस देह में जो बैठा है, जो स्वर्ग-नरक जाता है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो परिपूर्ण चिद् वस्तु है, यह बतलाने के लिये उसे ब्रह्म कहते हैं।

आत्मा में कोई उपाधि नहीं है। इसलिये जाति के द्वारा भी उसका वर्णन सम्भव नहीं है। सामान्य या विशेष जाति अद्वितीय परमात्मा में न होने से जातिके द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि जाति सदा देह की उपाधि से होती है। अतः गौ, मनुष्यादि की भाँति परमात्मा में जाति-निर्देश नहीं हो सकता।

क्रिया के द्वारा जैसे रसोइया, ड्राइवर आदि का वर्णन होता है, उस प्रकार भी परमात्मा का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा में क्रिया ही नहीं है। क्रिया होती है परिच्छिन्न में। क्रिया जड़ में, उपाधि में होती है। जो अपरिच्छिन्न, चेतन, अक्रिय है, उसका वर्णन क्रिया के द्वारा अशक्य है।

नीला-पीला, खट्टा-मीठा, मूर्ख-विद्वान् आदि गुणों के द्वारा जैसे हम वस्तुओं का वर्णन करते हैं, इस प्रकार गुणों के द्वारा भी परमात्मा का वर्णन सम्भव नहीं, क्योंकि परमात्मा निर्गुण है। जहाँ गुण होगा, वहाँ विषय होगा। परमात्मा निर्गुण है, यह कहने का तात्पर्य है कि वह विषय से रहित है। उसमें विषय-विषयी भाव नहीं है।

अतएव जो तुरीय तत्त्व है, वह किसी अभिधान से, शब्द की किसी वृत्ति से वर्णित नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उसका वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न उठा कि जब वाणी से तुरीय वस्तु का वर्णन किया नहीं जा सकता, तब वह शशशृंग (खरगोश के सींग) के समान निरर्थक होगा। क्योंकि जिस ब्रह्म का हमारे जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उसका हम निरूपण करें, इससे क्या अर्थ निकलेगा? जैसे खरगोश के सींग हैं या नहीं, यह विचार व्यर्थ है, वैसे ही तुरीय वस्तु का विचार भी व्यर्थ होगा। इस आशंका का उत्तर अब देते हैं :—

तुरीय तत्त्व का विचार निरर्थक है, ऐसा नहीं। क्योंकि जैसे सीप का ज्ञान होने पर उसमें प्रतीत होती चाँदी की तृष्णा नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार अपने आत्मा को तुरीय तत्त्व जान लेने पर अनात्मा संसार में होने वाली तृष्णा दूर हो जाती है। तुरीय को अपना स्वरूप जान लेने पर अविद्या, तृष्णादि दोषों की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं। तुरीय को अपने आत्मस्वरूप में न जानने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि सभी उपनिषदों का इसी अर्थ में पर्यवसान हुआ है।

तुरीय कोई अवस्था विशेष है जो जाग्रत् आदि से भिन्न है, ऐसा भ्रम बहुतों को होता है। लेकिन यह भ्रम सर्वथा निराधार है। यह बात भी पहिले ही बतायी जा चुकी है कि तुरीय कोई अवस्था नहीं है। यह तो तत्त्व है। सब अवस्थायें तुरीय में ही प्रतीत होती हैं। तुरीय उन अवस्थाओं में व्यापक है और उनसे परे भी है। ये अवस्थायें रहें तो भी तुम हो और न रहें तो भी तुम हो।

होता यह है कि प्रारम्भ में लोगों के चित्त में वैराग्य नहीं होता। अतः अविचारी लोग समझते हैं कि भोग के त्याग से हम ब्रह्म हो जायेंगे। अतः भोग का त्याग करके निष्काम कर्म पर उनका आग्रह होता है। आगे जाकर कर्म से भी वैराग्य होता है। तब चित्तवृत्ति शुद्ध रखने का आग्रह होता है। तब तदाकार वृत्ति, ब्रह्माकार वृत्ति या निरुद्ध वृत्ति-समाधि का आग्रह होता है। यहा तक अन्तःकरण से वैराग्य नहीं हुआ। अन्तःकरण में वैराग्य हुआ तो तदाकार वृत्ति रखने का आग्रह बना रहा। लेकिन यह तदाकार

वृत्ति भी तो चित्त में होगी। चित्त है देह में। अतः अन्तःकरण की जब तुम कोई अवस्था चाहते हो तो देह में अहंभाव करके ही चाहते हो। क्योंकि यदि तुम सच्चिदानन्दघन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तो उसमें तो चित्त नामक कोई वस्तु है ही नहीं। अतः जब तुम चित्त की कोई अवस्था विशेष चाहते हो तो अपने को परिच्छिन्न मानकर ही चाहते हो।

अद्वैत ज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता। ब्रह्मात्मैक्यज्ञान=वृत्तिज्ञान केवल अविद्या का निवर्तक है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान क्यों प्राप्त किया जाय, यह प्रश्न स्वाभाविक है। यहां यह देखो कि अपने को देह मानने के कारण सुख-दुःख काम-क्रोध-लोभादि अनर्थों की प्राप्ति तुम्हें हुई है या नहीं? एक मनुष्य मृगमरीचिका में जल लेने के लिए घड़ा लेकर जा रहा है तो उसको यह बतलाना आवश्यक है कि वहां जल नहीं है। इसी प्रकार तुम्हें यह जानना आवश्यक है कि तुम देह नहीं हो। जाग्रत् में दीखने वाला समस्त प्रपञ्च जाग्रत् अवस्था का विलास है और इसका अभिमानी 'मैं' विश्व बना हूँ, समष्टि स्वप्न का अभिमानी 'मैं' तैजस बना हूँ और समष्टि सुषुप्ति का अभिमानी 'मैं' ही प्राज्ञ बना हूँ—इन सबके प्रतीत होने पर भी 'मैं' इनसे निर्लिप्त हूँ तथा इन अवस्थाओं के कर्तापन भोक्तापन, सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, इस ज्ञान से कोई तृष्णा नहीं रह जाती। तुरीय वस्तु का ज्ञान हो जाने पर अविद्या, तृष्णा आदि दोष रहें—यह सम्भव नहीं है।

तुरीय वस्तु आत्मा—को कोई न समझे, इसका कोई कारण नहीं है; क्योंकि उपनिषदों में इसका इतना स्पष्ट वर्णन है कि कोई शंका किसी को इसमें नहीं हो सकती। तुरीय वस्तु को जानने का अर्थ है अपने आपको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म जानना। अपने को इस रूप में जान लेने पर भी शरीर, शरीर की क्रिया, शरीर के रोग, शरीर की अनुकूलता-प्रतिकूलता ज्ञात तो होगी; किन्तु उनमें सत्यत्व की भ्रान्ति नहीं रहेगी।

स्वामी विद्यारण्यजीने पञ्चदशी में यह प्रतिपादन किया है कि चिदात्मा को शरीर से सीमित मत करो और शरीर में जो अहंकार शारीरिक क्रिया का निर्वाह कर रहा है, उसे अपने से पृथक् देखो। चिदात्मा और यह अहंकार एक है-यह जो अविद्याजन्य ग्रन्थि है, यह टूट गई-खुल गई तो चाहे कोटि-कोटि इच्छायें होती रहें, स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। संसार में कोटि-कोटि जीव जन्तु, कीट पतंग, पशु पक्षी हैं, करोड़ों मनुष्य हैं, उनके जीवन की जैसी स्थिति है, वैसी ही स्थिति किसी एक जीवन की और हो तो उसमें चिदात्मा का क्या बनता बिगड़ता है?

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

ज्ञानी पुरुष को संसार की प्रतीति नहीं होती, यह समझना भ्रम है। ज्ञानी पुरुष सेना का सेनापति हो सकता है, राज्य का संचालक हो सकता है, दण्ड दे सकता है तथा सर्वलोकाधिकारी हो सकता है।

'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ'।

परमात्मतत्त्व का अधिगम हो जाने पर उत्तरकालीन कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होता और पूर्वकालीन कर्म का विनाश हो जाता है। अर्थात् ज्ञान-दृष्टि प्राप्त होने पर यह निश्चय हो जाता है कि न तो इसके पूर्व हमारा जन्म था और न आगे होगा।

ज्ञान की यह नित्य महिमा है कि कर्म से उसकी वृद्धि या ह्रास नहीं होता। ज्ञानी को किसी कर्म के करने का पश्चात्ताप या प्रसन्नता नहीं होती, क्योंकि जहाँ कर्तृत्व और भोक्तृत्व समाप्त हो गया, वहाँ सुख-दु:ख किस बात का होगा! अतः ज्ञान का फल है सुख-दु:खादि की निवृत्ति, अविद्या-तृष्णादि दोषों से सर्वथा परित्राण।

संसार में हमें सुख-दु:ख होता है पदार्थों के मिलने न मिलने से, व्यक्तियों के संयोग-वियोग से और परिस्थिति के अनुकूल-प्रतिकूल होने से। लेकिन हमारी इच्छानुसार न पदार्थ हमारे पास रह सकते, न व्यक्ति और न परिस्थिति। अतः जो सांसारिक पदार्थों का संग्रह करके सुख चाहते हैं, वे बराबर दु:खी रहेंगे। सांसारिक पदार्थ तो नष्ट होंगे ही।

अब कर्मवादियों ने कहा कि वस्तु और व्यक्ति तो प्रारब्धानुसार मिलते तथा बिछुड़ते हैं इसमें अपना कोई वश नहीं है। अतः इसमें सुख-दु:ख मत मानो। यह धर्म का मार्ग है। अच्छे-अच्छे कर्म ही करो, जिससे आगे दुःख न प्राप्त हो।

उपासकों ने कहा कि सुख-दुःख न पदार्थ से होते, न व्यक्तियों से, न परिस्थिति से। वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति में हमारा जो राग है, उसके कारण सुख-दुःख होते हैं। अतः ऐसा उपाय करो कि मन में दुःखाकार वृत्ति ही न आवे। अपना राग अपने इष्ट में लगा दो। वह परम प्रिय तुम्हारे हृदय में ही रहेगा, अतः दुःख का कोई कारण नहीं होगा। इस प्रकार वृत्यन्तर कर दिया। अतः बाह्य परिस्थिति से दुःख होना बन्द हो गया।

योगियों ने कहा कि वृत्ति का निरोध ही कर दो। वृत्ति रहेगी तब सुख-दुःख का अनुभव होगा। यह रहेगी तो इष्टाकार और अनिष्टाकार भी होगी। अतः इस वृत्ति को रोक ही दो। जब वृत्ति न रहेगी तो सुख-दुःख कहाँ से होगा!

वस्तुप्रेम का नाम विषयीपना, क्रियाप्रेम का नाम धर्म, वृत्तिप्रेम का नाम उपासना और स्थितिप्रेम का नाम योग है। लेकिन वृत्तिकी स्थिरता सम्भव नहीं है। चाहे जितना प्रयत्न कर लें, वृत्ति यदि समाधिस्थ होगी तो विक्षिप्त भी होगी ही। सहस्रों वर्ष की समाधि के पश्चात् भी विक्षेप आता ही है। अतः संसार में ऐसा कोई उपाय नहीं है कि उससे एक स्थिति बनी रहे और दु:ख कभी हो ही नहीं।

ऐसी अवस्था में सुख-दुःख के झगड़े से छूटने का एकमात्र उपाय असंगता ही है। सुख या दुःख जो भी आयें-आ जायें और जाते हों तो चले जाँय। तुम इनसे असंग बने रहो। यही बात वेदान्त समझाता है। वेदान्त के अनुसार ये पदार्थ, ये प्राणी, ये स्थितियाँ मिथ्या हैं। मिथ्या का अर्थ यह नहीं है कि ये प्रतीत न हों। वस्तु प्रतीत तो हो, किन्तु जहाँ-जिसमें वह प्रतीत हो, उसमें वह वस्तुतः न हो तब वह कहलाती है मिथ्या—जैसे, आकाश में नीलिमा, रस्सी में सर्प। अनन्त स्वयंप्रकाश सत्ता में भिन्न-भिन्न पदार्थों का भेद नहीं है। ये केवल प्रतीत होते हैं, केवल दीखते हैं, अतः मिथ्या हैं। संसार की सब वस्तुएँ, व्यक्ति एवं क्रियाएं दीखती हैं, पर हैं नहीं।

जो वस्तुओं के द्वारा सुख चाहते हैं, वे भ्रम में हैं। जो वृत्तिपरिवर्तन करके दुःख दूर करना चाहते हैं, वे भी ठीक मार्ग पर नहीं हैं। जो वृत्ति रोक कर दुःख से बचना चाहते हैं, वे भी असफल रहेंगे। अतः इनसे भिन्न मार्ग ढूँढना चाहिये। संसार में वस्तुएँ हैं, क्रियाएँ हैं, वृत्तियाँ हैं और वृत्ति का अभिमान है कि 'मैं' सुखी, 'मैं' दुःखी। वस्तुओं का आना-जाना तो प्रारब्ध जनित हो सकता है। वृत्ति में सुखाकारता और दुःखाकारता भी प्रारब्ध से हो सकती है, किन्तु अभिमान प्रारब्धजन्य नहीं है। यह वस्तु 'मेरा' है, यह 'मेरा' नहीं, 'मैं' सुखी हूँ या 'मैं' दुःखी हूँ—यह अभिमान अविद्याजनित है।

यदि संसार की कोई वस्तु प्रारब्ध के कारण 'मेरी' होती तो शास्त्र अभिमान को अविद्या या अविवेकजन्य नहीं कहता। वस्तु का मिलना न मिलना एक बात है, किन्तु उसे 'मेरी' मानना दूसरी बात है। किसी वस्तु या व्यक्ति में 'मेरापन' करना अविवेक है, यह बात सभी दर्शन मानते हैं। अविवेक का अर्थ नासमझी। अतः समझदारी है 'मेरापन' छोड़ देना। यह शरीर भी 'मेरा' नहीं, क्योंकि न हमारे चाहने से यह उत्पन्न हुआ, न इसकी मृत्यु में हम स्वतन्त्र हैं। सम्पूर्ण दुःख 'मेरा' मानने में है। 'मेरा' मानना छोड़ दो, दुःख नहीं रहेगा। 'मेरा' कुछ है नहीं। जैसे 'मेरा' नहीं, वैसे ही शरीर, मन, चित्त, बुद्धि भी मेरा नहीं। इन्हें अविवेक से हम 'मेरा' मानते हैं।

आप नहीं जानते कि मन अगले क्षण क्या संकल्प करेगा और कहते हैं कि मन 'मेरा' है। मन की स्फुरणाएँ तरंगें 'मेरी' हैं, यह व्यक्ति अविवेक से ही मानता है। उन पर उसका कोई नियन्त्रण, स्वत्व नहीं होता। समाज-संस्कार के अनुसार व्यक्ति के संस्कार बने हैं और वह मानता है कि यह 'मेरा' संस्कार है। वंशपरंपरा से संस्कार की धारा प्रवाहित हो रही है। वह अपने प्रवाहरूप में तुम्हारे अन्तःकरण में आयी तो तुमने उसे 'मेरा' मान लिया।

वस्तुतः यह सुख एवं दुःख की वृत्तियाँ अन्तःकरण में होती हैं। इनका स्वामी 'मैं' नहीं हूँ। इनको लाने, रोकने तथा हटानेवाला 'मैं' नहीं हूँ, क्योंकि मेरी इच्छा से न ये आतीं, न रुकतीं और न जाती हैं। मुझ अनन्त महासागर में ये तरंगें उठती हैं, टकराती और शान्त होती हैं। इनका न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता। इनके साथ मेरा कोई

सम्बन्ध नहीं है। वस्तुत: इन तरंगों की कोई सत्ता नहीं है। ये ज्ञानकी तरंग हैं अर्थात् प्रतीतिमात्र हैं। देश की दृष्टि से सामाजिक व्यक्तियों के संस्कार हैं। मन में जो बात आती है वह सामाजिक संस्कार से, भौगोलिक परिस्थिति से या अन्य बाह्य कारणों से आती है। हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

विचार करने पर अपना आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों से विलक्षण है और वही विश्व-तैजस-प्राज्ञ भी है। यहाँ विलक्षण का अर्थ विश्व-तैजस-प्राज्ञ से भिन्न कोई चौथा तत्त्व नहीं। यह गणना तो माया की है। एक ही तत्त्व एक ही आत्मा है जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों है। अतः विलक्षण का अर्थ यह कि आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ बनता नहीं, बना प्रतीत होता है। जैसे कोई रस्सी कभी सर्प, कभी माला, कभी डंडा प्रतीत हो किन्तु वस्तुत वह न सर्प है, न डंडा है, न माला है। वह तो इनसे विलक्षण है। रस्सी चौथी नहीं हो गयी। इसी प्रकार अपने को सर्वातीत, सर्वस्वरूप जान लेना ज्ञान है। हम सब के साक्षी हैं, किन्तु हममें सब नहीं है। हम सब के प्रत्यायक हैं और सब से रहित हैं। हम विश्वात्मा के रूप में सबरूप हैं, तैजस के रूप में सबके प्रकाशक हैं, अतः हम सर्व भी हैं और सर्व रहित भी, सर्व साक्षी भी हम हैं और हम इन सब से विलक्षण भी हैं।

इस ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो गयी। अपने को परिच्छिन्न मानना मिट गया।

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।'

श्रुति कहती है कि ज्ञान होने पर हर्ष-शोक त्याग देता है। दुःख का अन्त हो जाता है। सब पाश छिन्न हो जाते हैं। मृत्यु का अतिक्रमण होजाता है।

'जहाति' त्याग देने का अर्थ नाश नहीं होता। 'तरति' पार होने का अर्थ भी नाश नहीं होता। जैसे सर्प ने केंचुल त्याग दी या जैसे कोई गंगा पार हो गया। इसका अर्थ है कि वह तटस्थ हो गया। सुख-दुःख भासता है और यह सुख-दुःख वाला 'मैं' हूँ, यह भ्रान्ति उसकी मिट गयी।

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

लेकिन जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक प्रिय-अप्रिय का नाश नहीं हो सकता।

'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।'

जब शरीर रहित होगा, तब प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करेंगे। इसका अर्थ है कि जो शरीर रहित है, उसको सुख-दुःख नहीं है और जो शरीर सहित है, उसमें सुखरता-दुःखरता है। अब वेदान्त विचार से तुम्हारा अपने सम्बन्ध में क्या निश्चय है? तुम शरीर सहित हो या शरीर रहित? वस्तुतः शरीर रहित, किन्तु व्यवहार में शरीर सहित, यह उत्तर होगा। इसका प्रतिफल है कि तुम वस्तुतः सुख-दुःख रहित हो, किन्तु

प्रतीति में-व्यवहार में सुख-दुःख युक्त हो। जब शरीर को स्वीकार करोगे, सुख-दुःख स्वीकार करना होगा। अपने को अस्थि, चर्म, मांस तो स्वीकार करो और सुख-दुःख स्वीकार न करना पड़े, यह सम्भव नहीं।

सुख-दुःख वास्तव में कोई वस्तु नहीं-यह पदार्थ नहीं है। यह कल्पना है। अतः प्रथम दुःख अविद्या, अविवेक, अज्ञान है। अविद्या के कारण परिच्छिन्न शरीर में अहंकार कर लेना द्वितीय दुःख है। इस अहंकार के कारण किसी से राग हो जाना-यह तृतीय दुःख है। अपने राग के विरोधियों एवं बाधकों से द्वेष होना, यह चतुर्थ दुःख है। शरीर को 'मैं' मानकर मरने का भय पञ्चम दुःख है।

"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः"

—योगदर्शन

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, यही पांच क्लेश हैं। अतः जब तक हम इन्हें सत्य मानकर इनके साथ अपना सम्बन्ध मानते हैं तब तक दुःख की निवृत्ति नहीं होगी।

आत्मा के स्वरूप को जान लेने पर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, यह बात श्रुति कहती है। अपने आप को परिच्छिन्न समझ लिया है, अब इस नासमझी को दूर करके अपने को ब्रह्म-अपरिच्छिन्न समझना, यह ज्ञान है। इस ज्ञान से अविद्या दूर हो जायगी और तब अविद्या के कारण जो भय, दुःख, शोक, मोहादि हैं, उनसे छुटकारा मिल जायगा। आत्मतत्त्व का यह ज्ञान ऐसा भी नहीं है कि इसे समझा न जा सके। तुरीय तत्त्व को अपने आत्मरूप में जानने में कोई विघ्न नहीं है; क्योंकि समस्त उपनिषद् 'यही आत्मा है' इस प्रकार का प्रतिपादन करते हैं।

उपनिषदों में कर्म, उपासना तथा योगाभ्यास का भी प्रतिपादन है; किन्तु उसका भी अन्तिम तात्पर्य ज्ञान में ही है। श्रुति में कर्म, उपासनादि का प्रतिपादन क्यों है, यह विचार करने योग्य है। हमारा जीवन श्रुतिविहित आचार से प्रारम्भ नहीं होता है। हम ऐसे बहुत-से कर्म करते हैं जिनमें हिंसा है, कामना है, असत्य है तथा और भी ऐसी क्रियाएँ हैं जो नहीं करना चाहिये। अतः हमारे जीवन को नियन्त्रित करने के लिये, हमें उचित पथ पर रखने के लिये कर्मशास्त्र की आवश्यकता पड़ी। हमारे व्यक्तिगत जीवन को नियन्त्रित करने के लिये कर्मशास्त्र-धर्मशास्त्र है। यह कर्म विहित है, यह निषिद्ध है-यह विधान धर्मशास्त्र करता है। इस प्रकार मनके आदेश पर अंकुश रखने का आदेश धर्मशास्त्र देता है और हमें त्याग की ओर अग्रसर करता है। धर्म का प्रयोजन निवृत्ति की ओर उन्मुख करने में है।

हमारे कर्म की मर्यादा होनी चाहिये, क्योंकि यदि हम मर्यादाहीन आहार आचार रखने लगे तो शरीर रोगी हो जायगा और समाज में परस्पर भयानक कलह होने लगेगी।

हम दूसरों की वस्तु छीनेंगे, उन्हें तंग करेंगे तो वे हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार करेंगे। अतः जैसे कर्म की मर्यादा अपेक्षित है, इसी प्रकार सकल्प-विकल्प को भी मर्यादा में रहना चाहिये। अमर्यादित मनोराज्य मनुष्य को सदा अशान्त रखता है और इससे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। हमारे मनको नियन्त्रित करने के लिये, हमारे सकल्प विकल्प को मर्यादित करने के लिए उपासना शास्त्र आवश्यक हुआ। मन निरन्तर भोग के, छल-कपट के, हिंसा के सकल्प करता रहे तो आगे वैसी ही क्रिया होने लगेगी। क्रिया न भी हो तो सकल्प का प्रभाव भी औरों पर अज्ञात रूप से कुछ पड़ता ही है। मन ठहरा स्वभाव से चचल। अतः उसे नियन्त्रित करने के लिए उपासना आवश्यक हुई। मन में शुद्ध का, प्रिय का चिंतन होना चाहिये। यदि हम भोग का, बाह्य पदार्थों का चिन्तन करते हैं तो इन्द्रियों की भोगोन्मुख प्रवृत्ति होगी। अतः यह अशुद्ध चिन्तन होगा। अतः हमें हमारे मन में ऐसे प्रिय इष्ट का चिन्तन करना चाहिये जिससे इन्द्रियों की भोग में प्रवृत्ति न हो। हम बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख बन। बाहर से हमारा वैराग्य होगा और चित्तवृत्ति एकत्र होगी। इस प्रकार उपासना भी निवृत्ति की ओर ले जाने के लिये है।

जीवन में योग की भी आवश्यकता है। योग का अर्थ है चित्तवृत्ति को शान्त कर देना। मन को विश्राम मिलना चाहिये। निरन्तर विविध चिन्तन में ही मन लगा रहे तो व्यवहार में भी ठीक कार्य नहीं हो पाता। ठीक कार्य, ठीक निर्णय के लिए एकाग्रता आवश्यक होती है। योग इस एकाग्रता के सम्पादन के लिये है।

अब हम देखते हैं कि आत्मतत्त्व का विचार करने के लिये हमे धर्मशास्त्र उपासना और योग की आवश्यकता है, क्योंकि कर्म नियन्त्रित होगा और मन नियन्त्रित होगा, तब परमात्मा का विचार हो सकेगा। अतः उपनिषद् में कर्म का वर्णन जीवन की शुद्धि के लिये, उपासना का वर्णन मन की शुद्धि के लिये तथा योग का वर्णन बुद्धि को विश्राम देनेके लिये है। हम इनके द्वारा सम्पादित शुद्ध जीवन, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि से परमात्मा की ओर अग्रसर होते हैं। अतएव उपनिषद् में जो कर्म, उपासना योग का वर्णन है, उसका भी तात्पर्य आत्मज्ञान में ही है।

उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय आदि कोशों के रूप में शरीर का वर्णन है। यह वर्णन 'त्व' पदार्थ का ज्ञान कराने के लिये है। इसी प्रकार 'तत्' पदार्थ की उपाधि ससार का भी वर्णन है। कहीं 'तत्' पदार्थ में स्थित होनेके लिये उपासना का वर्णन है *और कहीं 'त्व' पदार्थ में स्थित होनेके लिये योग का—समाधि का वर्णन है। इस प्रकार* समस्त उपनिषदों का प्रयत्न 'तत्' पदार्थ के शोधन अथवा 'त्व' पदार्थ के शोधन के लिये है। मन ससाराकार भी रहे और ब्रह्माकार भी, यह तो सम्भव नहीं है। अतः ससार से मन को हटाने के उपाय उपनिषदों में वर्णित हैं।

जब हम विचार करते हैं कि ससार कार्य है और इसका कारण कोई एक तत्त्व है, तब कारण का विचार करने पर मन कार्य से हट जाता है। कारण के विचार से भेद दृष्टि

नष्ट हो जाती है। जब हम चेतन का विचार करते हैं तो जड़ता दूर हो जाती है। जब कारणरूप सत्ता और द्रष्टारूप सत्ता के एकत्व का विचार करते हैं, तब इसका फल यह होता है कि मृत्यु का भय दूर हो जाता है। क्योंकि सत्स्वरूप चेतन अविनाशी है। इस एकत्व के बोध में ही समस्त उपनिषदों का तात्पर्य है।

यह बात पहले आ चुकी है कि जो एकत्व के प्रतिपादक हैं, उन्हें महावाक्य कहते हैं और शेष सब वाक्य हैं। जैसे 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' यह वाक्य है और 'तत्त्वमसि' महा वाक्य है। 'सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म' यह ब्रह्म को समझाने वाला वाक्य है। सत्य वह जिसकी सत्ता सदा एक-सी रहे। युग, मन्वन्तर, कल्प आते-जाते हैं, सृष्टि प्रलय का क्रम चलता रहता है, किन्तु इस नाम रूप, क्रिया के समस्त परिवर्तनों के होते रहते भी वह परमार्थ सत्ता सदा एक-सी रहती है। सत्य कहने से शून्यवाद का निषेध हो गया। वह शून्य नहीं, सत्य है।

सत्य है, पर जड़ नहीं– यह सूचित करने के लिए 'ज्ञानम्' कहा गया। सत्ता जड़ नहीं, चेतन है। वह चेतन सत्ता भी क्षणिक नहीं है, सत्य है। वह परिच्छिन्न भी नहीं है–यह सूचित करने के लिए 'अनन्तम्' कहा। अनन्त अर्थात् देश, काल के परिच्छेद से रहित। वह देश, काल के परिच्छेद से रहित अद्वितीय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है। यह ब्रह्म का निर्देश तो हो गया, किन्तु वह अन्य है या नहीं, यह भ्रान्ति रह गयी। समस्त दृश्यमान पदार्थों की एक सत्ता है। एक ही सत्ता में ये समस्त भेद प्रतीत हो रहे हैं।

"सदायतना सन्मूला सत्प्रतिष्ठाना"।

इनका मूल सत्य है और जहां ये लय होंगे, वह भी सत्य है अर्थात् सत्य एक ही है। उसी में नाम-रूपात्मक प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है और प्रत्यक्चैतन्य अपनी आत्मा है।

"तत्त्वमसि"

वह तुम हो। यह महावाक्य हो गया। जो 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' तुम अन्य समझ रहे थे, वह तुम्हीं हो। तुम इस शरीर में सीमित या अणुपरिमाण नहीं हो। जो देश से अपरिच्छिन्न परिपूर्णतम तत्त्व है, जो काल से अपरिच्छिन्न अविनाशी है, जो इन पृथक् तार्थों में भी पृथक् न होकर अखण्ड है, जिसमें अनेकत्व सर्वथा नहीं है, जो जड़ नहीं, चेतन है, वही तुम हो।

जो सांसारिक लोग हैं वे क्षुद्र और महान् का अन्तर शक्ति के कम-अधिक होने से, सामग्री के कम-अधिक होने से, बुद्धि के कम-अधिक होने से या क्रिया के कम-अधिक होने से मानते हैं। जिसमें बहुत शक्ति है, बहुत बुद्धि है, बहुत सामग्री पास है या बहुत क्रिया करता है वह महान् और कम शक्ति, कम बुद्धि, कम सामग्री, कम क्रिया वाले क्षुद्र। यही बात लोग महात्माओं के सम्बन्ध में सोचते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में भी

ईश्वर। जीव है 'त्वम्' इन्द्रियो के द्वारा जानने, करने और सुखी होने वाला। इन दोनों का एकत्व श्रुति बतलाती है, अतः यहाँ भागत्यागलक्षणा से अवबोध होगा। यहाँ इन्द्रियों का कर्तृत्व और बुद्धि का भोक्तृत्व जो 'त्व' में उपाधि रूपसे आरोपित है और जगत् का कर्तृत्व, ज्ञातृत्व जो ईश्वर मे आरोपित है, इसका त्याग कर देना है। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता में माया कारण है। ईश्वर की उपाधि है माया। समष्टि देश, समष्टि करण एवं समष्टि कारण वस्तु ईश्वर की उपाधि है। व्यष्टि शरीर, व्यष्टि काल, व्यष्टि देह की इन्द्रिया, अन्तःकरण, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और इनमें अहंभाव आत्मा की उपाधि है। इन उपाधियों को पृथक् कर दो तो एक चेतन रह जाता है। जीवत्व और ईश्वरत्व दोनों उपाधि से हैं। उपाधि न हो तो अल्पज्ञता सर्वज्ञता कहाँ? अल्प शक्ति और सर्वशक्ति क्या? तब तो एक शुद्ध चेतन रहेगा। यही बात 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा समझायी गयी है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ करने की अवच्छेदवाद, आभासवाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद की प्रक्रिया पृथक् पृथक् हैं। अवच्छेदवाद देश की उपाधि मानकर पहिले अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन और मायावच्छिन्न चेतन का विवेचन करके उनका एकत्व करता है। आभासवाद कार्योपाधिक चेतन और कारणोपाधिक चेतन का विवेचन करके एकत्व का प्रतिपादन करता है। दृष्टिसृष्टिवाद अविचार कालिक और विचार कालिक स्थिति का निरूपण करता है। अविचार कालमें अज्ञान के कारण जो चेतन हम परोक्ष मानते हैं, वह अज्ञानता की उपाधि से 'तत्पदार्थ' और ज्ञात चेतन ज्ञातता की उपाधि से 'त्व' पदार्थ है। अज्ञान के कारण जिसे हम अन्य मानते थे, वही विचारकाल में अपना स्वरूप है। इस प्रकार वस्तुप्रधान उपाधि आभासवाद, देशप्रधान उपाधि अवच्छेदवाद और कालप्रधान उपाधि दृष्टिसृष्टिवाद है। इन उपाधियों के भेद से प्रक्रिया मे भेद है।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से सिद्ध है कि सम्पूर्ण उपनिषदों का तात्पर्य आत्मा और ब्रह्म की एकता में है; क्योंकि उपनिषदों मे कहीं 'तत् पदार्थ' की उपाधि का निरूपण है, कहीं 'त्वपदार्थ' की उपाधि का निरूपण है, कहीं उपहित का निरूपण है, कहीं शुद्ध का निरूपण है। अन्त मे परम तात्पर्य एकत्व मे ही है।

"अयमात्मा ब्रह्म"

यह दूसरा महावाक्य इसी माण्डूक्योपनिषद् का है। इस महावाक्य मे 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अपेक्षा एक विलक्षणता है। 'तत्त्वमसि' में कहा गया है कि 'वह तुम हो।' इसमें 'वह' का निर्देश देश की उपाधि से है। समष्टि देश की उपाधि से ईश्वर और व्यष्टि देश की उपाधि से जीव, इन दोनों का एकत्व निर्देश यह महावाक्य करता है। अवच्छेदवाद की प्रक्रिया के अनुसार महावाक्य का अर्थ और साक्षीभास्य जो आभास है, वह कार्य की उपाधि से है, और कारण की उपाधि से जो-जो आभास है वह वाच्यार्थ है, यह आभासवाद की प्रक्रिया से दोनों के एकत्व का प्रतिपादन है। अविचारकाल और विचारकाल के भेद से दृष्टिसृष्टिवाद में एकता का प्रतिपादन है।

'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य की विलक्षणता है कि इसमें 'अयम्' यह प्रत्यक्ष के लिये संकेत है। यह आत्मा जो सबके शरीर में अनुभूत है, 'अहम् अहम्' के द्वारा ग्रहण किया जानेवाला यह अपना आपा परिच्छिन्न नहीं है। यह ब्रह्म है अर्थात् अपरिच्छिन्न है, व्यापक है। जितने भेद हैं या हो सकते हैं, जितने विकल्प हैं, इन सम्पूर्ण भेदों का अधिष्ठान, इन सम्पूर्ण भेदों का साक्षी तथा इन समस्त भेदों के अभाव से जिसका संकेत किया जाता है, वह तत्त्व अपना आत्मा है।

इस महावाक्य का विचार करने के लिये हमें पञ्चकोशका विचार कर लेना चाहिये। यह हमारा स्थूल देह अन्नमय कोश है, इसमें क्रियाशक्ति प्राणमय कोश है, इच्छाशक्ति मनोमय कोश है, क्रिया का अभिमान विज्ञानमय कोश है और सुख-दुःख आनन्दमय कोश है। इन सबका साक्षी आत्मा है।

अन्नमय कोश के साथ सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक प्रपञ्च है। प्राणमय कोश के साथ सम्पूर्ण समष्टि की क्रियाशक्ति व्याप्त है। मनोमय कोश के साथ व्यष्टि सङ्कल्प और समष्टि सङ्कल्प, कर्ता (विज्ञानमय कोश) के साथ व्यष्टि कर्ता और समष्टि कर्ता तथा भोक्ता (विज्ञानमय कोश) के साथ व्यष्टि भोक्ता और समष्टि भोक्ता है। इन सबका साक्षी दो नहीं हो सकता। साक्षी सदा एक रहता है। जो लोग साक्षी दो मानते हैं, उन्होंने साक्षी के सम्बन्ध में कभी विचार ही नहीं किया है। व्यष्टि और समष्टि का भेद बुद्धि में है और बुद्धि सुषुप्ति में लीन हो जाती है उस सुषुप्ति का जो साक्षी है, उसे दो बनाने वाला वहाँ कोई नहीं है।

साक्षी के सम्बन्ध में पाँच बातें ध्यान में रख लेनी चाहिये १-साक्षी का कोई कारण नहीं है अर्थात् उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं होती। २-साक्षी कभी दृश्य नहीं होता, क्योंकि दृश्य होगा तो उस दृश्य का कोई द्रष्टा-साक्षी होगा। फिर दो साक्षी हो जायँगे और उनमें एक ही साक्षी रहेगा, एक दृश्य हो जायगा। परस्पर एक दूसरे के भी साक्षी नहीं सकते, क्योंकि तब परस्पर दृश्य हो जायँगे ३-साक्षी का कोई कार्य नहीं होता। ४-साक्षी का कोई विजातीय नहीं है अर्थात् जड़ नाम की कोई वस्तु साक्षी में नहीं है। ५-साक्षी में कोई अवान्तर भेद नहीं है। उसमें कोई स्वगत भेद नहीं है।

साक्षी पूरे देश का साक्षी है। जन्म-मृत्यु का साक्षी अर्थात् काल का साक्षी है। जो कुछ प्रतीत होता है, उसका भी साक्षी है। अतः देश, काल, वस्तु में अपरिच्छिन्न होने के कारण नित्य, परिपूर्ण, अनन्त, अद्वितीय है। मैं साक्षी हूँ, अतः मैं ब्रह्म हूँ।

संसार के जितने बन्धन हैं, वे पदार्थों के हों, प्राणियों के मोहजन्य हों, पाप पुण्य के हों, कर्म के हों या कोई भी हों, सब के सब बन्धन अपने को परिच्छिन्न मानने में हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का विचार करो, मनन करो तो यह परिच्छिन्नता का भ्रम दूर हो जायगा और सब बन्धन स्वतः नष्ट हो जायँगे।

"तत्सत्य स आत्मा"

'तत्त्वमसि' महावाक्य के समर्थन में मूल उपनिषद् में जो वृत्तियाँ दी हुई हैं, उनका उद्धरण भगवान् शंकराचार्य ने दिया है। उपनिषद् की यह वृत्ति बतलाती है कि सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में जो वस्तु तत्—व्यापक है, वही सत्य है, वही आत्मा है। जिसमें सुषुप्ति और प्रलय के समय सम्पूर्ण भेद वृत्तियों का लय हो जाता है और जाग्रत् और सृष्टि के समय जिससे ये सब भेद व्यक्त हो जाते हैं। 'अहम्' वृत्ति के उदय होने पर संसार प्रतीत होता है और 'अहम्' वृत्ति के लय होने पर प्रतीत नहीं होता। अतः जिसमें यह 'अहम्' तथा 'इदम्' वृत्तियों का लय तथा उदय होता है, वही सत्य है। वही आत्मा है। वही तुम हो, यह बात अनेक प्रकार से वहाँ (छान्दोग्य उपनिषद् में) समझायी गयी है।

"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म"

अब यहाँ विचार करना है कि अपरोक्ष किसे कहते हैं। हम जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं, उसमें हमारी इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श जो इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं, उन्हें हम प्रत्यक्ष कहते हैं। कुछ वस्तुएं मानस प्रत्यक्ष होती हैं। हम जिस वस्तु को इन्द्रियों से नहीं देख पाते, उन्हें परोक्ष कहते हैं। जैसे स्वर्ग परोक्ष है। लेकिन जिस प्रकाश में हम पदार्थ देखते हैं, उस पदार्थ को देखने के लिए तो अन्य प्रकाश आवश्यक नहीं है। जैसे घर में वस्तुएँ हैं, किन्तु अन्धकार के कारण दीखती नहीं हैं, हमने बत्ती जलादी तो वे दीखने लगीं, किन्तु बत्ती के प्रकाश को देखने के लिए तो दूसरा प्रकाश आवश्यक है नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियों को और मन को भी जो प्रकाश देता है उसे देखने के लिए तो प्रकाश-प्रमाण आवश्यक नहीं है। द्रष्टा को जानने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिये द्रष्टा अपरोक्ष है। उसे इन्द्रियों या मन के द्वारा जानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जो वस्तु परोक्ष है, उसे स्वीकार करने के लिये शास्त्र तथा सत्पुरुष में श्रद्धा करनी पड़ती है। जैसे स्वर्ग नरक परोक्ष हैं। उन्हें हम इन्द्रियों से या अनुमान से नहीं जान सकते। पाप पुण्य परोक्ष हैं। इन्हें हम शास्त्र पर श्रद्धा करके मानते हैं। लेकिन हमारे बुद्धि है, मन है यह बात श्रद्धा करने की नहीं है, यह अपरोक्ष है। मन और बुद्धि इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी मन बुद्धि के द्वारा उन्हें देखा जाता है और बुद्धि को द्रष्टा देखता है, अतः मन-बुद्धि भी किसी न किसी के द्वारा अपरोक्ष होते हैं; किन्तु द्रष्टा को किसके द्वारा आप देखेंगे? अतः द्रष्टा साक्षात् अपरोक्ष है। अपने आपको देखने के लिये किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। इसमें विश्वास करने, श्रद्धा करने की भी बात नहीं है; क्योंकि यह परोक्ष नहीं है और घटादि के समान प्रत्यक्ष भी नहीं है। यह मन, बुद्धि के समान अपरोक्ष नहीं; क्योंकि वे भी साक्षीभास्य हैं। अतः यह आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है। जो साक्षात् देखता है उसे साक्षी कहते हैं। अपनी सत्ता स्वतःसिद्ध है। इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

'साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, इसका तात्पर्य यह भी है कि अपना स्वरूप वृत्तियों से बाधित नहीं है। ब्रह्माकार वृत्ति रहेगी तब हम ब्रह्म, ऐसा नहीं है। ब्रह्माकार वृत्ति केवल एक बार अज्ञान की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। जैसे, जब घटाकार वृत्ति होती है तब पटाकार नहीं होती, इसी प्रकार सुखाकार या दुःखाकार वृत्ति होगी तब ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होगी, किन्तु न होने से हम ब्रह्म नहीं हुए, ऐसा नहीं है। सुखाकार और दुःखाकार वृत्तियाँ आती हैं, किन्तु बाधित हैं। साक्षात् अपरोक्ष का अर्थ मन या बुद्धि के द्वारा अपरोक्ष नहीं, मन-बुद्धि निरपेक्ष होकर बिना वृत्ति के भी अपरोक्ष।

अज्ञान है तब उसकी निवृत्ति के लिये ब्रह्माकार वृत्ति अपेक्षित है। ब्रह्म को प्रकाशित करने के लिये वृत्ति अपेक्षित नहीं है। जैसे अज्ञान कल्पित है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी कल्पित है। कल्पित ब्रह्मज्ञान से कल्पित अविद्या की निवृत्ति होती है। वस्तुतत्त्व में ज्ञान-अज्ञान का भेद नहीं है। इसीलिये वह साक्षात् अपरोक्ष है।

"स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज।"

जिसको हम दृश्य कहते हैं, बाह्य कहते हैं अनात्मा कहते हैं, तत्त्व की दृष्टिसे वह ब्रह्म है। तत्त्व में बाहर-भीतर का भेद नहीं है। त्वचा चमड़े ने बाहर-भीतर का भेद किया है। इस शरीर के ऊपर जो चर्म है, उसके भीतर को आप भीतर और उस चर्म के बाहर को बाहर मानते हैं। यह बाहर भीतर का भेद अविचार पूर्ण है।

तत्त्व की दृष्टि से जहां 'तत्पदार्थ' और 'त्वंपदार्थ' का भेद करना पड़ता है वहा भी यह भेद उपासक की दृष्टि में है। इसलिये उसकी दृष्टि के अनुसार उसे समझाने के लिये विभाजन किया जाता है। 'तत्पदार्थ' पर दृष्टि रखनेवाला उपासक है और 'त्वंपदार्थ' पर दृष्टि रखनेवाला ज्ञानी है। जहां 'तत पदार्थ' पर दृष्टि है, वहाँ भक्ति है और जहाँ 'त्वंपदार्थ' पर दृष्टि है, वहाँ आत्मरति है। लेकिन वस्तु सत्य में तो 'तत्' तथा 'त्वं' एक है। विश्व भगवान् और भगवान् विश्व है।

"आत्मैवेदं सर्वम्।"

सब कुछ आत्मा ही है। सब मैं ही हूँ। परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है और आत्मा-परमात्मा दो नहीं हैं। अतएव सम्पूर्ण उपनिषदों का अद्वितीय ब्रह्म से अभिन्न आत्मतत्त्व के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है।

जिसका वर्णन अब तक किया गया है कि सब आत्मा है, वही सर्वरूप है, वह केवल परमार्थ रूप नहीं है। परमार्थ रूप भी वही है और अपरमार्थ रूप भी वही है। रस्सी में जहाँ सर्प की प्रतीति है, वहाँ रस्सी और सर्प दो वस्तु नहीं हैं। अज्ञानी को जो सर्प दीख रहा है, ज्ञानी को वही रस्सी दीख रही है। वह रस्सी ही अपने में प्रतीयमान सर्प भी है। इसी प्रकार यह आत्मा के जो चार पाद हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय तथा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय, इनमें से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—विश्व, तैजस,

प्राज्ञ अपरमार्थ रूप हैं। इन रूपों में भी है तो आत्मा ही, किन्तु ये आत्मा के अपर-मार्थ रूप हैं। यह रूप परिवर्तनशील हैं। परमार्थ रूप=साक्षी अधिष्ठान परिवर्तित नहीं होता। वह नित्य रूप है।

यह अपरमार्थ रूप अविद्याकृत है अर्थात् स्वरूप को न जानने के कारण सत्य रूपमें प्रतीत हो रहा है, जैसे रस्सी में सर्प या सीप में चाँदी। यह तीनों पाद ऐसे हैं कि इनमें कार्य-कारण भाव है। सुषुप्ति एवं प्राज्ञ बीजावस्था है कारणावस्था है और स्वप्न, जाग्रत्–तैजस, विश्व ये अङ्कुरावस्था हैं। इनका निरूपण हो चुका है।

अब अगले मन्त्र में उस तत्त्व का प्रतिपादन 'नान्त प्रज्ञम्' से करते हैं जिसमें बीजात्म-कार्य-कारण भाव नहीं है। वह परमार्थ स्वरूप है। वह रस्सी के समान मूल वस्तु है। रस्सी में प्रतीत होते सर्प के समान उसमें जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—विश्व, तैजस, प्राज्ञ प्रतीत होते हैं, उनके निराकरण द्वारा उस मूल वस्तु का अब अगले मन्त्र में निरूपण कर रहे हैं।

यह बीजाङ्कुर भाव परमार्थ रूप नहीं है। हमें स्वप्न में दीखता है कि घड़ा है और प्रतीत होता है कि उस घड़े को कुम्हारने मिट्टी से बनाया है। लेकिन अब यदि उस घड़े, मिट्टी, कुम्हार के परमार्थ रूप को देखें तो वे स्वप्नद्रष्टा से भिन्न कुछ नहीं हैं। द्रष्टा से पृथक् हम स्वप्न की सत्ता का निश्चय करते हैं तब भ्रान्त होते हैं। स्वप्न में दीखनेवाली वस्तुओं को ही परमार्थ मान लें तब भी भूल करते हैं। सत्य यह है कि स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थ द्रष्टा से भिन्न नहीं हैं। वे पदार्थ सत्य नहीं हैं और द्रष्टा उन पदार्थों से विलक्षण है। स्वप्न में जो दीखता है, जो नहीं दीखता, जो देखनेवाले हैं, जो दीखनेवाला है, सब द्रष्टा ही है।

ऐसे सर्वस्वरूप एवं सबसे विलक्षण द्रष्टा आत्मा का निरूपण किस प्रकार किया जाय? यह बात पहिले स्पष्ट कर आये हैं कि उसका निरूपण निषेध के द्वारा ही हो सकता है। विधिमुख से अर्थात् 'यह ऐसा है' इस प्रकार आत्मा का वर्णन नहीं हो सकता। अतएव तीनों स्थानों के निराकरण द्वारा उस आत्मतत्त्व का निरूपण करते हैं।

* सातवां मन्त्र *

तुरीय का स्वरूप

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः।

न; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्; "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।१६) इतिवत्। यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा। रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्, इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्। रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य।

येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसम्बन्धवियोगव्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपिच्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिवच्छेद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम्।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः। अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति—"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते" (माण्डू० का० १।१८) इति। ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्। अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद्-

द्वैतानिवृत्ति । तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवात्मन्यध्यारोपितान्त प्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम् ।

नान्त प्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेध । न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेध । नोभयत प्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेध न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेध । बीजभावाविवेकरूपत्वात् । न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेध ।

कथ पुनरन्त प्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानाना रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्व गम्यत इत्युच्यते । ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरेतरव्यभिचारात्प्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत् सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम् ।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न । सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात् । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० उ० ४।३।३०) इति श्रुते ।

अत एवादृष्टम् । यस्माददृष्ट तस्मादव्यवहार्यम् । अग्राह्य कर्मेन्द्रियै । अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थ । अत एवाचिन्त्यम् । अत एवाव्यपदेश्य शब्दै । एकात्मप्रत्ययसार जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी य प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम् । अथ वैक आत्मप्रत्यय सार प्रमाण यस्य तुरीयस्याधिगमे तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम् । "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १।४।७) इति श्रुते ।

अन्त प्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेध कृत । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते । अत एव शान्तमविक्रियम्, शिव यतोऽद्वैत भेदविकल्परहितम् । चतुर्थं तुरीय मन्यन्त, प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा अदृष्टो द्रष्टा" (बृ० उ० ३।७।२३) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० उ० ४।३।२३) इत्यादिभिरुक्तो य । स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या, ज्ञाते द्वैताभाव ॥ ७ ॥

वह न अन्त प्रज्ञ है, न बहि प्रज्ञ है, न उभयत प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है । वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य एकात्म-प्रत्ययसार, प्रपच का उपशम, शान्त, शिव, अद्वैत, तुरीयतत्त्व माना जानेवाला है । वही आत्मा है । वही जानने योग्य है ।

प्रश्न उठाया कि प्रारम्भ म आत्मा के चार पाद होने का वणन किया और उसमें से तीन पाद का निरूपण भी कर दिया, तब वर्णित तीन पाद से भिन्न, तीनों से विलक्षण जो है, वही चतुर्थ है, यह बात सिद्ध हो गयी । उसके वर्णन के लिये 'नान्त प्रज्ञ' आदि निषेध रूप वणन की आग क्या आवश्यकता है ? यह विस्तार निरथक

है या नहीं ? यह विस्तार निरर्थक नहीं है; क्योंकि जैसे सर्पादि विकल्प का प्रतिषेध कर देने से रज्जुके स्वरूप की प्रतिपत्ति हो जाती है उसी प्रकार तीनों अवस्थाओं में स्थित आत्मा के तुरीयत्व का प्रतिपादन करना है, 'तत्त्वमसि' महावाक्य के समान।

यह जो तुरीय-चतुर्थ कहा गया है, यह तीनों अवस्थाओं से भिन्न कोई चौथी अवस्था नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा इनके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ को छोड़ देने पर कोई चौथी तुरीयावस्था होती होगी, ऐसी धारणा निर्मूल है। यह ध्यान अथवा समाधि से प्राप्त होने वाली कोई विशेष स्थिति नहीं है।

जैसे पखे को चलाने वाली, बल्ब में प्रकाश देने वाली, रेडियो में शब्द देनेवाली, हीटर में गर्मी देनेवाली शक्ति एक है। इसे समझ लेना आवश्यक है; किन्तु इसे दुहराना इसकी आवृत्ति करना आवश्यक नहीं है। उसी प्रकार विभिन्न शरीरों में जो शक्ति है, वह शक्ति एक है। वह शक्ति जिनमें आरोपित है, उसका जो अधिष्ठान है, वह चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, वह अपना आपा है। यह बात आवृत्ति करने की नहीं, समझने की है।

इन विभिन्न मशीनों को चलाने वाली शक्ति-विद्युत् एक है और मशीनें पृथक् पृथक् हैं, यह बात भी नहीं है। आज विज्ञान इस बात को मान चुका है कि सभी पदार्थ परमाणुओं से बने हैं और परमाणु ढूँढ़ने पर केवल शक्ति-विद्युत् रह जाती है। अर्थात् सब पदार्थ शक्ति-के ही स्थूल रूप हैं। जो विद्युत् मशीनों को चला रही है, वही स्थूल होकर मशीन भी बनी हुई है। उदाहरण के लिये एक सेर कोयला ले लीजिये। इस कोयले को विद्युत् के रूप में बदला जा सकता है। अर्थात् स्थूलता शक्ति में परिणत हो सकती है और शक्ति स्थूलता में परिणत हुई है।

भाव से पदार्थ और पदार्थ से भाव बनते रहते हैं। वस्तु और शक्ति दोनों द्वन्द्वात्मक हैं। लेकिन यह उदाहरण परिणामवादका है। शक्ति का परिणाम वस्तु और वस्तु का परिणाम शक्ति; लेकिन चेतन का अनुसन्धान करो, जड़ का नहीं। अन्य रूप में तत्त्व का अनुसन्धान करोगे तो वह जड़ हो जायगा। परिणाम जड़ में होता है। अतः 'इदं' के रूप में तत्त्व की शोध करने से जड़ता ही हाथ लगेगी।

'मैं' के रूप में तत्त्वानुसन्धान करने पर उसके ज्ञानात्मक होने में कभी व्यभिचार नहीं होगा। ऐसी अवस्था में जब कहेंगे कि चेतन ही जड़ के रूप में भास रहा है तब जड़ को परिणाम न कहकर विवर्त कहेंगे। जो चेतन है वह जड़ और जो जड़ है, वह चेतन। जड़ और चेतन दो वस्तु नहीं हैं। यह जड़ तो केवल प्रतीत हो रहा है, वस्तुतः है नहीं।

जैसे रस्सी में प्रतीत होते सर्प के विकल्प का निषेध कर देने पर रस्सी के स्वरूप की प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार यहाँ यह नहीं कहता है कि तीनों अवस्थाओं से जो परे है, वह ब्रह्म अथवा तीनों अवस्थाओं से जो पृथक् वह आत्मा। कहना यह है कि

तुम अभी जो हो, वही आत्मा, वही ब्रह्म हो। जाग्रत् में, स्वप्न में, सुषुप्ति में तीनों अवस्थाओं में तुम ब्रह्म ही हो।

प्रायः लोग नेत्र बन्द करके एक अनन्त, अनादि निर्विशेष की कल्पना करते हैं और समझते हैं कि यह ब्रह्म है। लेकिन वह ब्रह्म नहीं, ब्रह्म सम्बन्धी मनोराज्य है। यह लम्बाई-चौड़ाई, भेद-अभेद, नित्यता-अनित्यता आदि सब कल्पना के भीतर हैं। कल्पना मुझ में है। मैं कल्पना का साक्षी हूँ, अधिष्ठान हूँ। जिसमें कल्पना भास रही है, वह अपना आत्मा है। अतएव जाग्रत् में, स्वप्न में, सुषुप्ति में तुम ब्रह्म हो। हम जब हैं, जहाँ हैं, जैसे हैं; तभी, वहीं, वैसे ही ब्रह्म हैं। अतः तीनों अवस्थाओं का वर्णन करके 'यह ब्रह्म नहीं' ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहने का तो तात्पर्य होगा कि इन अवस्थाओं का ब्रह्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तब ब्रह्म इन तीनों से भिन्न एक परोक्ष अवस्था हो जायगी। लेकिन यह ब्रह्म तो तीनों अवस्थाओं में है, उनका अधिष्ठान है।

ब्रह्म कहने का तात्पर्य यह है कि 'मैं' से तुम जो एक शरीरवाला, कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग-नरक जानेवाला परिच्छिन्न समझते हो, वह न होकर अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, नित्य, ज्ञानरूप है। वह 'मैं' जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों में है, किन्तु उसमें न जाग्रत् है, न स्वप्न और न सुषुप्ति। आत्मा देह से विलक्षण है, इसका अर्थ यह नहीं कि देह आत्मा से भिन्न कोई अन्य वस्तु है। जड़-चेतन का विवेक तो प्रारम्भ में जिज्ञासु को समझाने के लिये है। अन्यथा तत्त्वदृष्टि से आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। हम जाग्रत् में, स्वप्न में, सुषुप्ति में जो कुछ देखते हैं, जो अनुभव करते हैं वह और उसको देखने तथा अनुभव करनेवाला, यह सब आत्मा ही है।

यदि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण आत्मा कोई चतुर्थ अवस्था होता तो उसे जानने के लिये कोई द्वार-कोई मार्ग ही नहीं रहता। क्योंकि जो जाग्रत् नहीं है, उसे जाग्रत् में नहीं जाना जा सकता। स्वप्न और सुषुप्ति न होने से स्वप्न और सुषुप्ति में भी नहीं जाना जा सकता। अतः इन तीनों अवस्थाओं से पृथक् आत्मा होता तो उसे हम कैसे जानते? शास्त्र भी उसका कैसे निर्देश करते? शास्त्र तो जब निर्देश करेंगे, तब जाग्रत् में ही करेंगे। 'तत्-पदार्थ' का अपरोक्ष नहीं होगा तो 'तत्त्वमसि' का अर्थ बोध कैसे होगा और 'तत्-पदार्थ' का अपरोक्ष तो जाग्रत् में ही होगा। ऐसी अवस्था में यदि विश्व, तैजस, प्राज्ञ ब्रह्म न हों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ब्रह्म न हो तो शास्त्र भी उसका निर्देश नहीं कर सकेंगे। फिर तो केवल शून्य रहेगा। ब्रह्म है भी, यही मानने-जानने का उपाय नहीं होगा। इसलिये वह आत्मतत्त्व सभी अवस्थाओं में है। यही द्रष्टा है, यही दृश्य है। यही स्रष्टा है, यही सृष्टि है। द्रष्टा और दृश्य के भेद से रहित यही है।

जैसे सर्प के रूप में या हार के रूप में एक ही रस्सी प्रतीत हो रही है, उसी प्रकार एक ही आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों में। अन्तःप्रज्ञादि विकल्पों के प्रतिषेधरूप विज्ञान प्रमाण की उत्पत्ति के साथ ही आत्मा में अनर्थ प्रपञ्च की निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है। एक रस्सी किसी को सर्प दीखती है, किसी को माला और किसी को डण्डा दीखती है। रस्सी अनेक नहीं है। इसी प्रकार संसार में जो भेद दीख रहा है, वह करण के-इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न होने से दीख रहा है। वस्तु सत्य को ठीक समझ ले तो मनुष्य के सब सुख-दुःख उपेक्षणीय हो जायँगे। जब तक रस्सी को सर्प समझोगे, तब तक वह सर्प भयदायक रहेगा। उसे रस्सी समझ लेने पर सब भय मिट जायगा।

जिस वस्तु को हम जान लेते हैं, वह यदि दूर हो तो उसकी प्राप्ति के लिये यात्रा करनी पड़ती है। यदि वह समय विशेष में मिलने वाली हो तो प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि वह वस्तु अपने से भिन्न अन्य हो तो तदाकार वृत्ति करनी पड़ती है। अर्थात् ज्ञात वस्तु अपने से भिन्न हो तो उसकी प्राप्ति के लिये श्रम और साधन करना पड़ता है, किन्तु यदि वह अपना स्वरूप है, तब तो वह अप्राप्त नहीं है कि उसकी प्राप्ति के लिये साधन करना पड़े। वह तो नित्य प्राप्त है। अतएव तुरीय तत्त्व के साक्षात्कार के लिये अन्य किसी प्रमाण अथवा साधन को नहीं ढूढ़ना चाहिये; क्योंकि रस्सी का ज्ञान होते ही सर्प भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

'पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर॥'
'ना कछु हुआ, न है कछू, ना कछु होवनहार।
अनुभव का दीदार है, अपना रूप अपार॥'

अपना स्वरूप सदा अपरोक्ष है। अज्ञान के कारण हमने अपने आपको परिच्छिन्न, दुःखी आदि मान रखा है। ज्ञान के द्वारा जहाँ उसका निषेध हुआ और निषेध का विज्ञान हुआ कि 'अरे! मैं अपने को ऐसा परिच्छिन्न आदि मान रहा था; किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूँ!' बस-अज्ञान की निवृत्ति हो जायगी। अज्ञान की निवृत्ति के साथ अज्ञान के कारण होनेवाले जितने अनर्थ हैं, वे सभी निवृत्त हो जायँगे। अपने को देह मानने से मृत्यु का भय, राग-द्वेष, शोक-मोह, लोभ-तृष्णादि दोष थे। अपने स्वरूप को जान लिया कि 'मैं देह नहीं हूँ, अपरिच्छिन्न आत्मा हूँ' तो देह के सम्बन्ध से होनेवाले सभी दोष तत्काल नष्ट हो गये।

इसलिये तुरीय तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अन्य साधन या अन्य प्रमाण की खोज करना निरर्थक है। प्रमाण की खोज क्यों निरर्थक है, यह देखना चाहिये।

प्रमाण दो प्रकार के होते हैं–बाह्य और आन्तरिक। बाह्य प्रमाण दूसरों की वाणी है और लिखित प्रमाण शास्त्र हैं। लेकिन हमें दूसरे के सम्बन्ध में विचार नहीं करना है, अपने सम्बन्ध में विचार करना है। हमें नेत्र के दृश्य या मन के चिन्त्य का विचार नहीं करना है। हमें तो उसका विचार करना है जो नेत्रादि इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि का भी द्रष्टा है। अतः उस द्रष्टा को देखने वाला साक्षी कहाँ हो सकता है? जब किसीने उसे देखा नहीं तब उसके विषय में किसी का लिखित प्रमाण भी कैसे ठीक हो सकता है?

'मैं हूँ' यह प्रमाण का विषय नहीं है, किन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं है। अपनी सत्ता तो स्वतःसिद्ध है। इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। 'मैं हूँ, मैं अपने को जानता हूँ, मैं अपने को प्यार करता हूँ'—इन तीनों बातों से हम कभी वंचित नहीं होते। अर्थात् हम नित्य सच्चिदानन्द हैं। इसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

'मैं सच्चिदानन्द हूँ,' यह होने पर भी हमें यह भूल गया कि हम कितने बड़े हैं, हमारी आयु कितनी है और हम अकेले हैं या और भी कोई है। हमने देह को 'मैं' मान लिया और देह के आकार को अपना मान लिया, देह की आयु को अपनी आयु मान लिया, देह को लेकर बहुत से भेदों की सत्ता स्वीकार करली। इस प्रकार अपने को सच्चिदानन्द समझते हुए भी हम परिच्छिन्न समझते हैं। लेकिन अपने को परिच्छिन्न हम बिना विचार किये ही समझते हैं, सोच समझ कर नहीं समझते। अब विचार करके इस अज्ञान को मिटा देना है। यह निश्चित तथ्य है कि संसार में यह लम्बाई-चौड़ाई अर्थात् देश, देह तथा वस्तुओं की आयु अर्थात् काल तथा वस्तुओं का भेद जो प्रतीत होता है, यह बुद्धि की उपाधि से प्रतीत होता है। जैसे नीले चश्मे को लगाकर देखने पर सब वस्तुएँ नीली दीखती हैं। चश्मा उतार देने पर फिर वे नीली नहीं दीखतीं। इसी प्रकार अन्तःकरण की उपाधि दूर कर देने पर देश, काल तथा वस्तुओं का भेद कुछ नहीं दीखता।

एक बार कल्पना से ही अपने को ब्रह्म मान लो तो देखो कि जगत् तुम्हें कैसा दीखता है। इस समय हमने अपने को मनुष्य मान लिया, अतः शास्त्र का अर्थ हमें अपनी कल्पना के अनुरूप प्रतीत होता है। अपने को ब्रह्म मानते ही दृश्य बदल जायगा। उस अनन्त में सृष्टि का कोई स्थान नहीं। उसमें न देश है, न काल और न वस्तु भेद।

इस विश्व के सम्बन्ध में हमारी—मनुष्य की दृष्टि ठीक या भगवान् की? कहना पड़ेगा कि भगवान् की, और भगवान् को देश, काल या वस्तु भेद दीखता नहीं। उनमें बाहर-भीतर नहीं है। उनके लिये परोक्ष कोई वस्तु नहीं है। यह बात पहिले बता आये

है। अतः भगवान् की दृष्टि से जो तथ्य है, उससे भिन्न हम देखते हैं, यह अज्ञान से देखते हैं। ईश्वर को अन्य का ज्ञान नहीं होता; क्योंकि ईश्वर में अन्तःकरण की उपाधि नहीं है। अन्तःकरण की उपाधि के बिना अन्य का ज्ञान नहीं होता। अपने से भिन्न ईश्वर को कुछ नहीं प्रतीत होता। ईश्वरीय ज्ञान ही सत्य है, अतः ईश्वर से भिन्न कुछ है नहीं। सब परमात्मा ही है अतएव परमात्मा की प्राप्ति के लिये हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय, इसे छोड़कर अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि साधन या तो शरीर से शारीरिक कर्म के रूप में होंगे या मन से मानसिक कर्म के रूप में। साधन का कर्ता होगा। कर्ता के करने पर ही कर्म होंगे। अत: कर्म, उपासना, योगादि सब साधन कर्ता के आधीन हैं। कर्ता जो साधन करता है, उसके फल के सम्बन्ध में श्रद्धा रखनी पड़ती है। श्रद्धा-मूलक प्रवृत्ति का नाम साधन है। साधन स्वयं आवृत्ति रूप है। अर्थात् क्रिया या भावना की बार-बार आवृत्ति का नाम साधन है। आवृत्ति के परिपक्व होने पर साध्य की प्राप्ति होती है।

ज्ञान के सम्बन्ध में बात कुछ अन्य ढंग की है। ज्ञान के मूल में श्रद्धा है; किन्तु प्रारम्भ अन्वेषण से होता है। ज्ञान अपौरुषेय है। क्योंकि यह पुरुष के बश की बात नहीं कि वह घड़ी को पुस्तक और पुस्तक को घड़ी समझे। ज्ञान पुरुष के आधीन नहीं है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझना ज्ञान है। वह वस्तुस्वरूप के अनुरूप होता है। अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त ज्ञान का दूसरा कोई फल नहीं। ज्ञान में आवृत्ति नहीं है। अत: अविद्या-निवृत्ति के अतिरिक्त अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिये अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। यहां साधन का विरोध मैं नहीं कर रहा हूँ। पहिले आप को यह निश्चय करना चाहिये कि आप चाहते क्या हैं? आप जो कुछ चाहते हैं, कैसे वह मिलेगा, यह निश्चय करके उसका साधन करेंगे तो वह अवश्य मिलेगा।

एक महात्मा ने मुझ से कहा—'जो दृश्य है वह परिणामी है और जो परिणामी है, वह नश्वर है।'

मैंने उनसे हँसी में कहा—'आप जिसे परिणामी कहते हैं वह तो नित्य नूतन है। यही तो सौन्दर्य का स्वरूप है।

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' परिणामी होने से तो कोई वस्तु त्याज्य नहीं होती। हम प्रति दिन कितने प्रेम से भोजन करते हैं, किन्तु जानते हैं कि वह परिणाम को प्राप्त होकर क्या बनता है?'

महात्मा बड़े सच्चे थे। बोले—'अभी तक मैंने यही सोचा था कि जो परिवर्तनशील है, वह दृश्य जड़ होता है। जड़ अनात्मा है। अतः परिणामी अनित्य है, अनित्य

होनेसे मिथ्या है। अब मिथ्या होने से त्याज्य नहीं है, इस दृष्टि से विचार करके कल बतलाऊँगा।

दूसरे दिन मैं उनके समीप गया तो उन्होंने बतलाया–'वस्तुत हम लोग जो विक्षेप को दुःख मानते हैं, यह कल्पना ही है। पागल के, उपासक के मन मे चंचलता होती है, उपासक अपने आराध्य की लीला का ध्यान करता है, तब लीला में कितने चरित उसका मन सोचता है, किन्तु न पागल के मन को दुःख है, न उपासक के। उपासक को तो इस विक्षेप मे आनन्द आता है।'

'सच्ची बात यह है कि यह भ्रम है कि चचलता दुःखरूप है। यह दुःखरूपता आरोपित है, क्योंकि यह स्फुरणा है। वस्तुत दृश्यमान जगत् स्फुरणा से भिन्न कुछ नहीं है। अत यह दृश्य भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म सदा आनन्दरूप है। सयोग–वियोग, जन्म–मृत्यु आदि सब आनन्द है। जब तक किसी क्रिया में, किसी वस्तु में, किसी भाव म दुःखरूपता की प्रतीति है तब तक ब्रह्म की पूर्णता का बोध नहीं है। यह क्रिया ब्रह्म, यह ब्रह्म नहीं, इस प्रकार भाव में, क्रिया में भेद दृष्टि तब तक गयी नहीं। यह भेद–ज्ञान है, अभेद ज्ञान है ही नहीं। अत विचार करने पर ज्ञात होता है कि केवल स्फुरणा होने से अन्य वस्तु नहीं हो जाती।'

जो लोग ईश्वर को अन्य मानते हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर की गोद में मानते हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में ही यह अपना ब्रह्माण्ड है, जिसमें पृथ्वी पर अपना देश, नगर तथा शरीर है। अत यह शरीर ईश्वर की गोद में है। जब ईश्वर अन्य नहीं, मैं हूँ तब अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और यह शरीर सब अपनी गोद मे–अपने भीतर है। यह अपने से भिन्न नहीं। मैं परिपूर्ण हूँ, अत यह मेरी स्फुरणा है। स्फुरणा जिसमें उठती है, उससे भिन्न नहीं होती और कोई वस्तु बनाती भी नहीं। अत एक सच्चिदानन्द ब्रह्म से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिये आप को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

यह आत्मतत्त्व स्वय अनुभव है। 'अनुभव' शब्द का अर्थ आपने सोचा है? 'अनु' का अर्थ पीछे और 'भव' का अर्थ होना। जो सब के पीछे हो, उसे अनुभव कहते हैं। जैसे, यह पुस्तक है, मैं इसे जानता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु, भाव, क्रिया के होने–न होने के पीछे जो ज्ञान है, उसे अनुभव कहते हैं। यह समाधि–विक्षेप निखिल दृश्य जिसे ज्ञात हो रहे हैं, वह अनुभव है। अतः आत्मा ही अनुभवरूप है।

जैसे सपने म जो दृश्य देखते हैं वे दृष्टिरूप हैं। वहाँ दृष्टि और द्रष्टा का भेद नहीं होता है। जहाँ दृष्टि और विषय का भेद नहीं होता, वहाँ दृष्टि और द्रष्टा का भेद नहीं होता। जहाँ घट दृष्टि होगी, वहाँ घट का द्रष्टा घट से पृथक् होगा; किन्तु जहाँ घट नहीं है वहाँ घट का द्रष्टा दृष्टि से पृथक् नहीं है और द्रष्टा से दृष्टि पृथक् नहीं है। अत जहाँ दृश्य की अन्यता दूर हुई, बाधित हुई वहाँ दृश्य भी अपना स्वरूप होगा।

'अहं' प्रत्ययालम्बन करके इसीसे आत्मा को समझाते हैं। 'अहं' प्रत्ययालम्बन का अर्थ है 'अहं-वृत्ति' का अधिष्ठान। 'अहं' प्रत्यय है देह। यह 'अहं' का विषय, 'अहं-वृत्ति' के द्वारा दृश्य, अनुभाव्य जो है, वह 'अहं-वृत्ति' के आधीन होने के कारण सापेक्ष सत्तावान् है, अनित्य है, विकारी है, मिथ्या है। इस प्रकार विचार करने पर जब विषय का बाध हो जायगा, तब वृत्ति नहीं रहेगी। वह वृत्ति दृष्टि हो जायगी और दृष्टि द्रष्टा से अभिन्न होती है। अत: जो पहिले विषय रूप से प्रतीत हो रहा था, वह तत्वज्ञान के अनन्तर आत्मरूप से भास रहा है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में जगत्, जीव, ईश्वर आदि के रूप में जो कुछ भासमान है वह सब स्थिति, मति, गति, कृति आदि अपना स्वरूप ही है। अतएव अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिये साधनान्तर या प्रमाणान्तर आवश्यक नहीं है। रज्जु में जो सर्प की प्रतीति है, उसमें केवल अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित है। अज्ञान की निवृत्ति ही सर्प की निवृत्ति है। वहाँ सर्प को दूर करने या रस्सी को जानने के लिये अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व ही किसी साधन की आवश्यकता या उपयोगिता नहीं है या किसी प्रमाण की उपयोगिता नहीं है। ऐसा समझने से तो बात उलटी हो जायगी। क्योंकि तुरीय तत्त्व का अधिगम महावाक्य के द्वारा होता है।

महावाक्य के द्वारा भी तुरीय तत्त्व का ज्ञान लक्षणा से होता है। अत: जो अभिधा को पहिले नहीं समझ लेगा उसको लक्षणा कैसे समझ में आयगी। जैसे कोई कहे कि 'घड़ा और सकोरा एक है।' तो पहिले यह ज्ञान होना चाहिये कि घड़ा किसे कहते हैं और सकोरा किसे कहते हैं। फिर यह बात समझ में आयगी कि कहनेवाले का तात्पर्य बड़े से घड़े और छोटे से सकोरे के नाम-रूप को एक बतलाना नहीं है, वह यह कहना चाहता है कि दोनों मिट्टी से बने हैं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ जानने के लिये पहिले 'तत्' 'त्वं' और 'असि' इन शब्दों का अर्थ जानना होगा और इन शब्दों के वाच्यार्थ को जानना होगा, तब महावाक्य का अर्थ समझ में आयगा। अत: वाक्यार्थ ज्ञान के लिये पदार्थ-ज्ञान और पदार्थ-ज्ञान के लिये उपाधि और उपाहित दोनों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिये साधन की उपयोगिता है।

जीवकी उपाधि और जीव से उपहित का ज्ञान प्राप्त करने के लिये योग की आवश्यकता होती है। सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का निरोध करके यह अनुभव होता है कि मैं असंग द्रष्टा हूँ। इस प्रकार 'त्वं पदार्थ' का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये योग आवश्यक है।

'तत् पदार्थ' का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बार-बार 'तत् पदार्थ' के चिन्तन की आवश्यकता है। इस बार-बार चिन्तन का ही नाम भक्ति है।

जीव की उपाधि अन्तःकरण की शुद्धि के लिये धर्मानुष्ठान आवश्यक है। अन्तःकरण में जो काम, क्रोधादि हैं उनकी निवृत्ति के लिये, पाप वासना के प्रशमन के लिये धर्माचरण आवश्यक है। अतः धर्म योग और भक्ति दोनों में उपकारी है, क्योंकि काम-क्रोधादि से दूषित चित्त न तो भगवान् में लगता है और न उसकी वृत्तियां ही एकाग्र होती हैं। भगवान् में लगाना हो या वृत्ति निरोध करना हो, चित्त की शुद्धि प्रथम आवश्यक है।

इसी प्रकार अपने स्वरूप के ज्ञान में भी धर्म उपकारी है। तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये धर्मात्मा का जीवन हमारा जीवन होना चाहिये। अर्थात् हमारे जीवन से असत्य, हिंसा, चोरी, अनाचारादि दोष दूर होने चाहिये। विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न धर्मों में इन दोषों को दूर करने की परिपाटी-पद्धति पृथक्-पृथक् है; किन्तु सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि धर्म सभी को अभीष्ट हैं। सभी असत्य, हिंसा, चोरी आदि दोषों का निवारण इष्ट मानते हैं। अन्तःकरण धर्माचरण से शुद्ध होता है, तब 'तत्पदार्थ' का चिन्तन होने लगता है। यह उपासना हो गयी। 'त्वं' पदार्थाकार वृत्ति हो गयी तो यह द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान हो गया।

हमारे चारों आश्रम जीवन में सत्य को उपलब्ध करने की सीढ़ियां हैं। ब्रह्मचर्याश्रम साधन और सत्य की शोध करने के लिये इस ओर उन्मुख करने के लिये है। गृहस्थाश्रम धर्मनिष्ठा बनाने के लिये है। गृहस्थाश्रम में नियन्त्रित भोग है। वानप्रस्थाश्रम में विराग है, किन्तु भोग नहीं है। सन्यासाश्रम कैवल्याश्रम है। इसमें न विषय है, न भोग।

आश्रमों के समान ही वर्णों की भी सङ्गति है। शूद्रसेवाप्रधान वर्ण ब्रह्मचर्याश्रम की कोटि में है। क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम भी गुरुसेवा प्रधान है। वैश्य गृहस्थाश्रम की कोटि में है, गृहस्थाश्रम में नियन्त्रित भोग है, इसी प्रकार वैश्य के लिये धर्मपूर्वक व्यापार तथा अर्थसंग्रह विहित है। गृहस्थ और वैश्य दोनों के लिये संग्रह का विधान है। क्षत्रिय वानप्रस्थ की कोटि में है। वृत्तियों का निरोध करके जैसे योगी चित्त की शुद्धि करता है, द्रष्टा रहता है, कामादि दोषों को मार देता है, वैसे ही क्षत्रिय रक्षक है। शत्रुओं को परास्त करके सबको मर्यादा में रखता है। सब के ऊपर दृष्टि रखता है। ब्राह्मण सन्यासाश्रम की कोटि में है। ब्रह्म को जाननेवाला ब्राह्मण और कैवल्य रूप से स्थित सन्यासी।

जन्ममात्र से ब्राह्मण होने से किसी को ज्ञान नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान के लिये हमारे जीवन में ब्राह्मणत्व का विकास आवश्यक है। ब्राह्मण में जो गुण होने चाहिये, वे गुण आयेंगे आपमें, तब ज्ञान के आप पात्र बनेंगे। इसलिये जहां शास्त्र में ब्राह्मण को ही ज्ञानका अधिकारी कहा गया है वहां जन्मना ब्राह्मण को ज्ञान का अधिकारी नहीं कहा है। वहाँ गुण से जिसमें ब्राह्मणत्व का उदय हुआ हो, उसे अधिकारी बताया है।

इस प्रकार चारों आश्रम ज्ञान के साधन हैं। ऐसे ही तमोगुण की निवृत्ति के लिये कर्मयोग-धर्मानुष्ठान, विक्षेप-रजोगुण की निवृत्ति के लिये उपासना, अन्यत्व की निवृत्ति के लिये योग और अपनी पूर्णता के प्रतिपादन के लिये ज्ञान की उपयोगिता है। किसी को चोरी बेईमानी, हिंसा, छल-कपट, अनाचार करते तत्त्वज्ञान हो जायगा, यह समझना सर्वथा भ्रम है।

ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन करना आवश्यक नहीं, यह बात ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् ठीक है। ज्ञान प्राप्त ही नहीं हुआ तब तक ऐसी बात कहना अनर्गल प्रलाप है। लेकिन ज्ञानप्राप्ति की योग्यता चित्त में न आ जाय तब तक ज्ञानप्राप्ति का प्रयास ही न किया जाय, यह मानना भी ठीक नहीं है। योग्यता प्राप्ति के राग में पड़कर लोग जीवनभर ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। अतः ज्ञान को बढ़ाओ। जैसे-जैसे जानकारी बढ़ेगी, चित्त की योग्यता बढ़ती जायगी। चित्त की योग्यता बढ़ेगी तो जानकारी भी बढ़ती जायगी। अतः ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न बराबर करते रहो। यह बात परम सत्य है कि तत्त्वज्ञान के बिना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। लेकिन सहसा अन्तःकरण शुद्ध किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता। अतएव अन्तःकरण की शुद्धि के लिये साधनों की उपयोगिता है।

तत्त्वज्ञान के लिये अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त अन्य साधन आवश्यक नहीं, यह बात ठीक ही है। इसे और स्पष्ट समझ लेना चाहिये। संसार में ममत्व कैसे उत्पन्न होता है? 'यह मेरा है'-क्यों? इसलिये कि इसे मैंने अपने श्रम से या बुद्धि से अथवा कौशल से प्राप्त किया है। अथवा मुझे किसी ने दिया है या उत्तराधिकार में मिला है। श्रम से, बल से, बुद्धि से, धन से या दूसरे के देने से अथवा प्रारब्ध से वस्तु हमें मिली, अतः हमारी। लेकिन विचार करना है कि क्या इनमें से किसी रीति से हमारा स्वत्व स्थापित होता है या हमने केवल अज्ञानवश अपने स्वार्थ के कारण यह ममता बनाली है। यदि विचार करने पर अज्ञानता मिट जाने पर भी अहंता-ममता बनी रहे, तब यह सच्ची।

लेकिन किसी वस्तु को हम अपनी मानते हैं धर्मशास्त्र के अनुसार या राज्य-नियम के अनुसार और धर्मशास्त्र तथा राज्यनियम सर्वत्र एक से नहीं हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों के नियम भिन्न-भिन्न हैं। राज्य के नियम बदलते रहते हैं। अभी धन आपका है, पता नहीं कब यह राज्य का या और किसी का हो जाय। अतः ये नियम तो कल्पित हैं। पृथक् पृथक् लोग समय-समय पर अपनी मान्यता के अनुसार इन्हें बना लेते हैं। एक भी वस्तु ऐसी है जिसमें होते परिवर्तन को, जिसके ह्रास-विनाश को आप रोक सकें? ऐसा तो कुछ नहीं है। फिर अब तक जितने विचारशील हुए हैं, उन सब ज्ञानियों का अनुभव और सब शास्त्र कहते हैं कि 'मैं-मेरापन' झूठा है।

वस्तु न मेरा है, न तुम्हारी। वह आज मेरे पास है, कल तुम्हारे पास होगी। वस्तु को मेरा मानने से भय होगा। वस्तु के छिन जाने, नष्ट हो जाने, खो जाने का भय। उस वस्तु के दूसरे चाहने वाला से द्वेष-संघर्ष होगा। इस प्रकार उसके दुःख की निवृत्ति नहीं होगी। कोई तत्त्वज्ञानी भी हो जाय और वस्तु को मेरा भी मानता रहे तो उसके दुःख की निवृत्ति हुई नहीं। ऐसे तत्त्वज्ञान से लाभ?

तत्त्वज्ञान का मार्ग है राग-द्वेष रहित, निष्पक्ष, सत्यप्रेमी जिज्ञासु के लिये। जिसका अन्तःकरण राग द्वेष पूर्ण है, वह सत्य की शोध नहीं कर सकता। अतः आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये अन्य साधन अपेक्षित नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किसी को धर्म का साधन नहीं करना चाहिये और अधर्म करते हुए भी तत्त्वज्ञान हो जायगा। ज्ञान के द्वारा ही तत्त्व साक्षात्कार होगा, किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये अन्तःकरण का शुद्ध करना होगा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए दूसरे सब साधन उपयोगी हैं।

अवश्य ही तत्त्वज्ञान काल में दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं है। तत्त्वज्ञान के साथ उपासना होनी रहेगी, योग होता रहेगा, धर्मानुष्ठान भी रहेगा, ऐसा नहीं है। ज्ञान तो सब साधनों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। वह अकेला ही रहता है। वह कैवल्य है। दूसरे साधनों से ज्ञान पुष्ट होता है, किन्तु अज्ञान को वह अकेले नष्ट करता है।

ज्ञान कैवल्य-एकाकी रहनेवाला है। एक समय दो विषयों का ज्ञान नहीं होता। जिस समय घट ज्ञान होता है, उसी काल में पट ज्ञान नहीं हो सकता। घटाकार वृत्ति और पटाकार वृत्ति एक साथ नहीं रहती। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति और निरोधाकार वृत्ति, अथवा ब्रह्माकार वृत्ति और उपास्याकार वृत्ति एक साथ नहीं रह सकतीं। धर्माकार वृत्ति, निरोधकार वृत्ति, उपास्याकार वृत्ति के फलस्वरूप महावाक्यजन्य आत्मा एवं ब्रह्म की एक-रूप ज्ञान की वृत्ति उदय होती है। इस वृत्तिज्ञान के उदय से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि अज्ञान की निवृत्ति काल में धर्म की, योग की, उपासना की आवश्यकता नहीं है, किन्तु अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् अधर्म, विषयासक्ति या विक्षेप रहेगा, ऐसी बात नहीं है। यह बात तो संसार में है कि जब धर्म नहीं तब विक्षेप, जब उपासना नहीं तब विषयासक्ति, किन्तु तत्त्वज्ञान के समय तो धर्म-अधर्म, निरोध-विक्षेप, ईश्वरासक्ति विषयासक्ति कोई नहीं है। वृत्तिज्ञान अज्ञान को नष्ट करके उसी क्षण स्वयं भी नष्ट हो जाता है। केवल ब्रह्म रह जाता है।

इसलिये अज्ञान की निवृत्ति का साधन केवल ज्ञान है। इसमें दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं है। लेकिन ज्ञान की उत्पत्ति के लिए दूसरे सब साधन उपयोगी हैं। कर्म का फल ज्ञान है, क्योंकि 'हमने अमुक कर्म किया' यह ज्ञान होता है। उपासना का फल ज्ञान है —

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।"

—गीता।

भगवान् प्राप्त हुए, यह ज्ञान उपासना से होगा या नहीं? योग का फल भी ज्ञान है; क्योंकि समाधि का ज्ञान न हो तो समाधि कैसी? अतः सब साधनों का फल ज्ञान है और ज्ञान अकेले अज्ञान को निवृत्त करता है।

जब हम रस्सी में प्रतीत होते सर्प का विवेक करते हैं तो पहिले लगता है कि सर्प रस्सी में लिपटा न हो; किन्तु भली प्रकार देखने पर ज्ञात होता है कि वहां न रस्सी में लिपटा सर्प है, न स्वतन्त्र सर्प है। अतएव ठीक-ठीक रस्सी को देख लेने से सर्प की निवृत्ति अपने आप हो जाती है। यहां सर्प की निवृत्ति नहीं हुई; क्योंकि सर्प था ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर भेद की निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि भेद पहिले से था ही नहीं। भेद के भ्रम की निवृत्ति होती है।

जिनके मत में घट ज्ञान में अन्धकार की निवृत्ति के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में भी प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, उनका कथन तो ऐसा है मानो छेदन क्रिया में छेद्य पदार्थ के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद करने के अतिरिक्त भी वस्तु के किसी अंग में कोई अन्य व्यापार होता है। छेद्य अवयवों का सम्बन्ध-विच्छेद करने में प्रवृत्त छेदन क्रिया जिस प्रकार उसके अवयवों के विभक्त हो जाने में समाप्त होनेवाली है, उसी प्रकार जब घट और अन्धकार का पार्थक्य करने में प्रवृत्त प्रमाण अन्धकार की निवृत्तिरूप फल में समाप्त हो जाने वाला है, तब घटज्ञान अवश्यम्भावी है, वह प्रमाण का फल नहीं है। अज्ञान को निवृत्त करने के अतिरिक्त ज्ञान दूसरा कोई कार्य नहीं करता। जैसे एक घड़ा अन्धकार में रखा है, प्रकाश उस अन्धकार को दूर कर देता है। प्रकाश अन्धकार को दूर करने के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं करता। अन्धकार दूर हो जाने पर घड़े का ज्ञान तो स्वतः हो जायगा। जैसे हम कुल्हाड़े से लकड़ी काटते हैं। हमारा कुल्हाड़ी चलाना लकड़ी या लकड़ी का कोई अंश उत्पन्न नहीं कर देता। वह लकड़ी के टुकड़े अलग कर देता है। लकड़ी काटने की क्रिया काटने के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं उत्पन्न करती। इसी प्रकार ज्ञान कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता, वह केवल अज्ञान को दूर कर देता है। ज्ञान न ब्रह्म को उत्पन्न करता, न ब्रह्म और आत्मा की एकता को। उसका काम केवल अज्ञान को दूर कर देना है। अज्ञान के दूर हो जाने पर जो शुद्ध तत्त्व है, वह स्वतः है ही। उसका साक्षात्कार हो जाता है।

उसी के समान आत्मा में आरोपित अन्त.प्रज्ञत्वादि के विवेक करने में प्रवृत्त प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाण का ग्रहण न करने योग्य अन्त.प्रज्ञत्वादि की निवृत्ति के अतिरिक्त तुरीय आत्मा में कोई अन्य व्यापार होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अन्त.प्रज्ञत्वादि की निवृत्ति के समकाल में ही प्रमातृत्वादि भेद की निवृत्ति हो जाती है।

इसे इस प्रकार समझो कि अपने में यह जो अन्त प्रज्ञ, बहिष्प्रज्ञ आदि आरोपित हैं–जाग्रत् अवस्था में हम इन्द्रियां द्वारा बाह्य वस्तुओं को देखते हैं और स्वप्न मे बाहरी इन्द्रियगोलकों के प्रयोग बिना भीतर ही वस्तुओं को देखते हैं, यह देखने वाले हम एक हैं। इन दोनों अवस्थाओं को छोड़ कर सुषुप्ति में अज्ञान की उपाधि से सोनेवाले भी हम ही हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की जो उपाधियाँ हैं बहि करण, अन्त करण और अज्ञान, उनका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं। इन अवस्थाओं का अभिमान हम से भिन्न है। जैसे एक ही व्यक्ति घर में सोता है, दूकान म व्यापार करता है, खेल के मैदान में खेलता है, वैसे हम भी इन जाग्रत् आदि अवस्थाओं में एक ही हैं।

इन तीन अवस्थाओं के भेद को जो दूर कर दे, वह है ज्ञान। अज्ञान के कारण भेद प्रतीत होता है। यह भेद पॉच प्रकार का प्रतीत होता है १. जड़–चेतन का भेद, जीव–जीव का भेद, ३ जड़–जड़ का भेद, ४. जीव–ईश्वर का भेद, ५. जड़–ईश्वर का भेद। ये पॉचों प्रकार के भेद जगत् के मूल में जो तत्त्व है, उसे न जानने के कारण प्रतीत होते हैं। इस अज्ञान को तत्त्वज्ञान दूर कर देता है। ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रह जाता। तुरीयतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर मैं ज्ञाता हूँ, प्रमाता हूँ आदि भेद भी मिट जाते हैं। ज्ञान भी द्वैत की– अज्ञान की निवृत्ति करके स्वय निवृत्त हो जाता है। यह ज्ञान का स्वभाव ही है।

वृत्तिज्ञान की स्थिति द्वैतनिवृत्ति के क्षण के अतिरिक्त दूसरे क्षण में नहीं रहती। यदि उसकी स्थिति मानी जाय तो अनवस्था का प्रसङ्ग आ जाने से द्वैत की निवृत्ति ही नहीं होगी। अत यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाण के प्रवृत्त होने के समकाल ही आत्मा म आरोपित अन्त प्रज्ञत्वादि अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है। द्वैत की निवृत्ति करके–अज्ञान का प्रशमन होते ही ज्ञान स्वय निवृत्त हो जाता है। क्योंकि यदि ऐसा मान कि अज्ञान निवृत्त होने पर ज्ञान रह जाता है तो ज्ञानवृत्ति को निवृत्त करने वाला और कोई चाहिये। इससे अनवस्था दोष आवेगा। द्वैत की भी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि द्वैत के रूप में वृत्तिज्ञान रह जायगा। इसलिये निषेध के द्वारा हम अपने स्वरूप ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं और अज्ञान की निवृत्ति के साथ यह वृत्तिज्ञान स्वय भी निवृत्त हो जाता है। इसलिये तत्त्वज्ञानी के लिये स्मृति–विस्मृति का कोई प्रश्न नहीं रहता।

स्मृति का नियम यह है कि जिस वस्तु का हमने कभी अनुभव किया, उसके परोक्ष हो जाने पर उसका स्मरण हुआ करता है। जब तक वस्तु का हमने अनुभव नहीं किया तब तक स्मरण नहीं होगा और अनुभव करके वस्तु हमारे सम्मुख रहे, तब भी स्मरण नहीं होगा। जिसने परमात्मा का अभी अनुभव नहीं किया, वह जो परमात्मा का स्मरण करता है, वह स्मरण कल्पना है, स्मृति नहीं है। शास्त्र तथा सत्पुरुषों से श्रवण

किये तत्व का स्मरण भी कल्पना ही है। उपासना की भाषा में इसे भावना कहते हैं। क्योंकि स्वयं बिना अनुभव किये किसी वस्तु की स्मृति नहीं होती। प्रत्यक्ष की भी स्मृति नहीं होती। स्मृति सदा अनुभूत परोक्ष हुए की होती है। जिन्होंने परमात्मा का अनुभव कर लिया, उनके लिये परमात्मा कभी परोक्ष हो सकता है क्या? ज्ञान अथवा भक्ति किसी सिद्धान्त में उनके लिये परमात्मा परोक्ष नहीं हो सकता। अन्तर्यामी रूप से परमात्मा अपने हृदय में है। न अन्यत्र है, न अप्राप्त है। ज्ञान सिद्धान्त में तो अपनी आत्मा ही परमात्मा है और आत्मा कभी परोक्ष नहीं होता। अतः जब परोक्ष नहीं होता तब स्मृति भी नहीं होती। परमात्मा में ये जितने भेद प्रतीत हो रहे हैं, उनका जहाँ एक बार निषेध हुआ, वहाँ निषेध के साथ ही अध्यारोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि रूप जो अनर्थ है उसकी निवृत्ति हो जाती है।

श्रुतिमें जो 'नान्तःप्रज्ञ' कहा है, यह तैजस का प्रतिषेध करने के लिये है। 'न बहिष्प्रज्ञ' विश्व का प्रतिषेध करने के लिये 'नोभयतःप्रज्ञ' जाग्रत् और स्वप्न के मध्य की अवस्था का प्रतिषेध करने के लिये तथा 'न प्रज्ञानघन' सुषुप्तावस्था का प्रतिषेध करने के लिये है; क्योंकि सुषुप्तावस्था बीज भावमय-अविवेकरूपा है, 'न प्रज्ञ' के द्वारा एक साथ सब विषयों के ज्ञातृत्व का प्रतिषेध किया और 'नाप्रज्ञ' इसलिये कहा कि वह अचेतन-जड़ या शून्य नहीं है।

मुझको प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था में मैं अपने भीतर सब कुछ देख रहा हूँ और यह देखने वाला मैं तैजस हूँ। लेकिन व्यष्टि और समष्टि दोनों दृष्टियों से हम हिरण्यगर्भ में हैं। विश्व हमें अपने भीतर ही दीख रहा है, ठीक स्वप्न के समान। तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों को एक करके समूची सृष्टि को अपने भीतर अनुभव करते हैं। चिन्तन की दशा में भी ऐसा ही होता है। लेकिन यह स्वप्न देखने या चिन्तन करने वाला मैं नहीं हूँ; क्योंकि वह सुषुप्ति में नहीं रहता अर्थात् चिन्तन करना या स्वप्न देखना यह धर्म मुझमें आरोपित है। मैं तैजस नहीं हूँ। तैजसत्व मुझमें कल्पित है।

अपने को देह में या विराट् में स्थित करके मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि यह सब दृश्य मैं बाहर देख रहा हूँ। लेकिन यह बाहर-भीतर का भेद मन में ही है। यदि यह निश्चय हो जाय कि मैं स्थूल देह का अभिमानी नहीं हूँ, विश्व का अभिमानी हूँ तो इतने से ही राग-द्वेष, लोभ-मोहादि की निवृत्ति हो जाय, क्योंकि तब पूरे विश्व की सामग्री मेरी है, पूरे विश्व में जो क्रिया हो रही है वह मेरी है और पूरे विश्व के भोग मेरे हैं। इस प्रकार स्थूल देह में अभिमान छूटकर विश्वरूपता का ज्ञान होने में ही 'मैं-मेरा' छूट जायगा। इससे व्यष्टि देह में स्थित भय, शोक, मोहादि सब छूट जायेंगे। तैजसत्व के ज्ञान से जन्म-मृत्यु का भय छूट जाता है, क्योंकि जन्म-मृत्यु स्थूल देह की होती है। मैं स्थूल नहीं, सूक्ष्म हूँ, यह निश्चय होते ही मृत्यु का भय मिट गया।

मनुष्य चार प्रकार के होते हैं—पामर, विषयी, साधक और तत्त्वज्ञ। जो अधर्मपूर्वक भोग-संग्रह करता है, वह अपना सत्यानाश कर रहा है। विषयी भी वह नहीं; क्योंकि विषयी तो अपने भोग एवं भोगने की शक्ति की रक्षा का ध्यान रखता है। लेकिन धर्म अधर्म की चिन्ता न करने वाले तो पामर हैं। वे अपने अविवेक से अपना-अपने भोग का ही नाश कर रहे हैं। कोई इतना भोजन करले कि बीमार हो जाय, फिर भोजन करने योग्य ही न रहे अथवा सब द्रव्य एक दिन में खा-पीकर समाप्त करके भूखों मरे तो वह क्या जिह्वालोलुप हुआ ! इसी प्रकार अधर्म करके जो भोग एकत्र करते हैं, उनको अधर्म के फल से आगे दरिद्रता, रोग, शोक, कष्ट मिलते हैं। वे तो अपने ही लिये दुःख, शोक, अभाव की सामग्री एकत्र कर रहे हैं। वे पामर हैं।

विषयी वे हैं जो धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक उपार्जन करके धर्मानुसार भोग भोगते हैं। जो भोग के लिये स्वास्थ्य सुरक्षित रखे, बराबर नित्य भोजन मिले यह चिन्ता रखे, वह विषयी। धर्मपूर्वक भोग आगे भी भोग प्रस्तुत करेगा। अभी का धर्म आगे भी सुख, स्वास्थ्य, सम्पत्ति देगा, यह समझकर जो चले वह विषयी। विषयी अधार्मिक नहीं, धर्मनिष्ठ होता है।

साधक वह जो धर्मपूर्वक प्राप्त भोग को भी भोगने में संकोच करे, न्यायपूर्वक प्राप्त पदार्थ का भी संग्रह न करना चाहे। अपना काम इतने से चल जाता है, अधिक का क्या करना, यह जिसकी वृत्ति है, वह साधक।

जिसको संग्रह और भोग की आवश्यकता ही नहीं, केवल जीवननिर्वाह मात्र हो रहा है, वह सिद्ध। लेकिन जिसे जीवन के निर्वाह-अनिर्वाह की भी चिन्ता नहीं, जिसके लिये सिद्ध-असिद्ध दोनों प्रतीतिमात्र हैं, वह तत्त्वज्ञ है।

आज जो 'विश्व मानवता' की सब से बड़ी बात कही जाती है, उसमें भी मनुष्य के हित के पक्ष में अनेक प्राणियों की निर्मम हिंसा होती है। यह 'विश्व मानवता' अपने को सम्पूर्ण विश्व का अभिमानी अनुभव करने से बहुत निम्न स्तर की वस्तु है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्व मैं हूँ, इस अनुभव के साथ विश्व के समस्त प्राणी अपने अंग हो गये। हिंसा की सर्वथा निवृत्ति हो गयी।

अब सूक्ष्म संकल्पात्मक सृष्टि का अभिमानी मैं हूँ, यह अनुभव करते ही संसार में जितने वाद, जितने मत-सम्प्रदाय हैं, जो आज हैं या कभी थे या आगे होंगे, वे सब मेरे मत हो गये। जितने भी संकल्प हैं, वे अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप किसी प्रकार के हों, सब मेरे संकल्प। देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सब के विचार, सब की इच्छा-वासना, सब हमारी। ऐसी अवस्था में राग-द्वेष को कहाँ स्थान रहा ? राग-द्वेष तो एक अन्तःकरण को 'मेरा' मानने से होता है। हमारा एक मत, एक सिद्धान्त में विश्वास है, हम एक बात ठीक मानते हैं तो उसके अनुकूल लोगों से राग और उसके प्रतिकूल मत,

सिद्धान्त मानने वालों से द्वेष, किन्तु जब हम समष्टि अन्तःकरण को अपना मानते हैं तो सभी विचार, सभी सिद्धान्त, सभी वासनायें हमारा । अब राग-द्वेष कहाँ ?

सूक्ष्म को भी छोड़ कर हम प्राज्ञ से एक हो गये । अर्थात् सुषुप्ति के अभिमानी हो गये । यह बात पहिले बतायी जा चुकी है कि सुषुप्ति एक-एक शरीर में पृथक्-पृथक् नहीं होती । शरीर का सोना-जागना-स्वप्न देखना मेरा सोना-जागना या स्वप्न देखना नहीं है । स्वप्न में जो स्वप्नद्रष्टा है, वह न सोता, न जागता, न स्वप्न देखता । वह तो सभी अवस्थाओं का द्रष्टा है, कर्ता नहीं है । वह तो स्वप्न में जो अपना शरीर है, उसके भी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का द्रष्टा है । अतः सुषुप्ति का अर्थ एक देह की सुषुप्ति नहीं, समष्टि की सुषुप्ति, जब कोई सवत्र नहीं रहता । यह ईश्वर की अवस्था है ।

अब ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों अपने स्वरूप नहीं हैं । मैं जाग्रत् अवस्था का अभिमानी नहीं हूँ; क्योंकि मैं स्वप्न में भी रहता हूँ, किन्तु उस समय जाग्रत् अवस्था का अभिमानी नहीं रहता । इसी प्रकार मैं स्वप्नावस्था का भी अभिमानी नहीं और सुषुप्ति का भी अभिमानी नहीं, क्योंकि अवस्थाएँ और अभिमान बदलते रहते हैं । ये तीनों अवस्थाओं के अभिमान तो वस्त्रों के समान हैं, जिन्हें मैं स्वीकार करता और पृथक् कर देता हूँ । अतः यह विश्व, तैजस, प्राज्ञ रूप मुझ में अध्यारोपित है ।

अच्छा, जाग्रत् और स्वप्न या स्वप्न तथा सुषुप्ति के मध्य में जो सन्धि है, वह मैं होऊँ, ऐसा भी नहीं है । मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अभिमानी नहीं हूँ और इनके अन्तराल-मध्य की सन्धि का भी अभिमानी नहीं हूँ । इन सब अवस्थाओं का पृथक् पृथक् अभिमानी नहीं हूँ और इन सब के सम्मिलित रूप का भी अभिमानी नहीं हूँ । तात्पर्य यह कि अभिमान नाम की कोई वस्तु मुझमें नहीं है ।

अभिमान कब होता है ? मान कहते हैं परिमाण को । जब कोई परिच्छिन्न-माप में आने योग्य वस्तु हमारे सम्मुख होती है तो 'यह मेरी' ऐसा अभिमान होता है । लेकिन अपना आत्मा तो अमाप है । इसमें देश काल, वस्तुजन्य परिच्छेद नहीं है । अतः यह सम्पूर्ण अवस्थाओं से पृथक् केवल ज्ञानस्वरूप है । हम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में किसी के तथा इनके सम्मिलित रूप के भी अभिमानी नहीं हैं और हम इनमें से कोई अवस्था भी नहीं हैं । इस प्रकार अवस्थाओं के अभिमानी तथा अवस्थाओंका भी निषेध हो गया । 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ,' बस यह रहा ।

इसे यों समझना चाहिये कि सुषुप्ति प्रकृति की अवस्था है । उसमें चेतना की जागृति महत्तत्त्व है । जब यह ध्यान आया कि 'मैं कौन हूँ,' तब अहंकार हो गया । सुषुप्ति और जाग्रत् के मध्य जो चेतना है-बुद्धि है, यह महत्तत्त्व है-यह बुद्धि है । इसे क्लोरोफार्म से भी मूर्च्छित कर दिया जाता है । जिस चेतना पर दवा का, क्रिया का,

प्रतीति का न होना ब्रह्म नहीं है। क्योंकि प्रतीति का होना, न होना दोनों अवस्थाएँ हैं। संसार की प्रतीति का मिट जाना तो जड़ता होगी, चेतनता नहीं। जहा भाव अभाव की, अपने-पराये की प्रतीति नहीं है, वह तो जड़ता है। इसीलिये ब्रह्म ज्ञान मात्र कहा गया है। जो लोग समझते हैं कि संसार की प्रतीति नहीं होगी तब हम ब्रह्म होंगे, उनकी कल्पना तो ऐसी है कि नीलिमा नहीं दीखेगी तब हम आकाश को जान सकेंगे। लेकिन ऐसे लोगों को आकाश का ज्ञान कभी नहीं होगा, क्योंकि नेत्र नहीं रहेंगे तो आकाश का ज्ञान होगा नहीं और नेत्र रहेंगे तो नीलिमा दीखेगी। अतः प्रतीति तो रहेगी, प्रतीति में सत्य का भ्रममात्र दूर करना है। जगत् कैसा प्रतीत हो और कैसा प्रतीत न हो, इसका सम्बन्ध अपनी ब्रह्मरूपता से कुछ नहीं है। क्योंकि जो सत्स्वरूप है, उसे प्रतीति प्रभावित नहीं कर सकती। अतः जगत् के मूल में एक ही आत्मा है वह स्वयंप्रकाश है।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन जगत् का मूल कारण एक ही सत्ता मानता है, किन्तु उसे जड़ मानता है। वे जड़ाद्वैत मानते हैं, किन्तु उसमें स्वयम्भवन की सामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वह अपने आप नाना रूपों में परिवर्तित होता रहता है। हमारी भाषा में यह स्वयम्भू हुआ। इधर हमारे चेतनवादी जगत् के मूलतत्त्व को चेतन किन्तु निष्क्रिय मानते हैं। अब चेतन का निष्क्रिय होना और जड़ का स्वयम्भवन सामर्थ्ययुक्त होना इन दोनों को मिलाओ तो चित् शक्ति को ही स्वयम्भवन सामर्थ्य कहते हैं और चेतन में जो निष्क्रियता है, वही उसमें जड़ता का आरोप है। तात्पर्य यह कि न तो जड़ाद्वैत-वादियों की मूल सत्ता अचेतन है और न चेतनाद्वैतवादियों का चेतन असत् है। चेतनाद्वैत चेतन सत् है और जड़ाद्वैतवादियों का जड़ाद्वैत चेतन है। वस्तुतः यह प्रतिपादन शैलीका अन्तर है, वस्तु एक ही है। इस अन्तर का कारण है। अन्य के रूप में जगत् के मूल कारण का जिन्होंने अन्वेषण किया, वे जड़ता पर पहुँचे। जो 'अहम्' के रूप में परमात्मा को ढूँढने चले, वे इस परिणाम पर पहुँचे कि परमात्मा चेतन है। क्योंकि 'अहम्' को अचेतन, अप्रकाश कहना बनता नहीं। अन्य के रूप में जो ईश्वर को चेतन मानते हैं, उनके पास अनुमान है, अनुभूति नहीं है। क्योंकि अन्य के रूप में जो होगा, दृश्य होगा। अतः जड़ होगा। हम श्रद्धा के कारण उसे चेतन कहते हैं। यह अन्यता का अभिशाप है कि या तो श्रद्धा के कारण चेतन कहो, या जड़ कहो या शून्य कहो।

अतएव जगत् के मूलकारण की शोध की ठीक पद्धति यह है कि हम देखें कि वस्तु हमें कैसे दीखती है। इन्द्रियों के बिना हम किसी वस्तु का कोई ज्ञान नहीं पाते। समस्त ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा आता है। कोई इन्द्रिय कोई अनुभव न दे, यदि मन उसके साथ न हो। इस प्रकार वृत्तियां ही सृष्टि के रूप में दीखती हैं और हम द्रष्टा हैं वृत्तियों

के। दृष्टि ही सृष्टि है। ये वृत्तियाँ–सृष्टिप्रपञ्च पृथक्–पृथक् हैं, उत्पत्ति–विनाशशील हैं; किन्तु अपना आत्मा एक रहता है। सम्पूर्ण वृत्तियों का सार, सम्पूर्ण वृत्तियों का आधार और प्रकाशक आत्मा है। उसी एक आत्मा को जानो। संसार में हमें जो दु:ख है, अहंकार है, राग–द्वेष है, वह आत्मा का अज्ञान है। आत्मा और ईश्वर की एकता के अज्ञान से यह सब है। संसार हमें जगत् के अधिष्ठान और अपने आत्मा के एकत्व के अज्ञान से भेदात्मक प्रतीत होता है। अतएव एकता के ज्ञान द्वारा अनेकता की भ्रान्ति दूर की जाती है।

जड़वादी लोग कहते हैं कि दो प्रकार के पदार्थ हैं–द्रव्यवस्तु और पर्यायवस्तु। जैसे एक मिट्टी से ही घड़ा, सकोरा आदि अनेक पदार्थ बनाये तो इनमें मिट्टी द्रव्य है और घड़ा, सकोरादि पर्याय हैं। पर्याय अर्थात् नाम मात्र। पर्याय परिवर्तनशील होता है और द्रव्य अपरिवर्तनीय होता है। अब हमारी जो वृत्ति है, वह भी पर्यायवस्तु है और आत्मा द्रव्य है। आत्मा वह द्रव्य है जिसमें नाना प्रकार की वृत्तियां उठती हैं, मिटती हैं, किन्तु वह एकरस रहता है। हमारा यह द्रव्य अजीव नहीं जीव-द्रव्य है। देश, काल, वस्तु के कारण यह खण्ड–खण्ड नहीं होता। यह अपरिच्छिन्न–अखण्ड है। एक अखण्ड चैतन्य में परिणाम नहीं होता, विवर्त होता है। जब यह कल्पना करते हैं कि सृष्टि अन्य में दीख रही है, तब यह ब्रह्म का विवर्त है और जब यह कल्पना करते हैं कि अपने में दीख रही है, तब यह अपनी दृष्टि ही है। 'स्व' पदार्थ की प्रधानता से सृष्टि दृष्टि है और 'तत्' पदार्थ की प्रधानता से सृष्टि विवर्त है। इस प्रकार दृश्य की समस्त विशेषता हमारी दृष्टि में है। दृष्टि द्रष्टा से भिन्न नहीं है। हम द्रष्टा हैं, चेतन हैं। चेतन देश, काल, वस्तु से परिच्छिन्न नहीं है। प्रत्यय में एक विषय रूप से प्रतीत होता पदार्थ और दूसरा चित्त की वृत्ति–ये दो भेद हैं। एक ज्ञेय और एक ज्ञाता। ये दोनों भेद जिस अधिष्ठान में प्रतीत हो रहे हैं, वही एकात्मप्रत्ययसार है। वह वृत्ति के रहने–न रहने से सर्वथा अप्रभावित है।

जो लोग समझते हैं कि ज्ञान का अर्थ है प्रपञ्च की प्रतीति न होना, वे जीवन्मुक्ति के विशेष आनन्द से वञ्चित हो जाते हैं। भूतकाल चाहे वह पांच सहस्र वर्ष पूर्व हो या पांच मिनट पूर्व, उसके विषय में सोचना चिन्ता है और इसी प्रकार भविष्य के सम्बन्ध में सोचना मनोराज्य है। हमारी चित्तवृत्ति इस भूत की चिन्ता तथा भविष्य के मनोराज्य में वर्तमान को खो रही है, च्युत हो रही है। अपने ठीक स्थान से हट गयी है। भूत भविष्य दोनों अपने हाथ में नहीं हैं। उनकी चिन्ता मनश्च्युति है। यह भूत भविष्य की चिन्ता एक स्वप्न है। हमारा मन प्रायः इस स्वप्न में ही मग्न रहता है। यह भूत–भविष्य के सम्बन्ध में विचार कल्पना है, स्वप्न है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च भी स्वप्न है। जैसे हम स्वप्न को लौटाकर नहीं ला सकते, वैसे ही जाग्रत् को भी लौटाकर नहीं ला

सकते। इच्छानुसार न स्वप्न दीखता, न जाग्रत् चलता। अत इस दृश्यमान प्रपञ्च को स्वप्न समझ लेना है। यही प्रपञ्च का निवारण है।

पञ्च शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो पांच सख्या, दूसरा विस्तार। उसी से पचानन शब्द सिंहवाचक बना है। पचानन का अर्थ है विस्तृत मुख वाला। अब प्रपञ्च शब्द के अर्थ हुए—पाच का विलास। हमारे पास जो पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं उनका ही यह विलास है। उनके द्वारा ही यह प्रतीत होता है। पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रियॉ, अन्त करण की चार वृत्तिया और एक स्थिति—पाच स्थितिया (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार और निरोध वृत्ति) इनका ही यह सब विलास है। यह प्रपच ब्रह्मज्ञान होने पर नहीं दीखेगा—अर्थात् अन्त करण एव इन्द्रियों की वृत्तिया नहीं रहेंगी, ऐसा मानना तो अविवेक है। इस प्रपच में सत्यत्व बुद्धि नहीं रह जायगी। ज्ञान मानका विरोधी नहीं है, केवल भ्रान्ति का विरोधी है। इस लिये ज्ञानी अज्ञानी दोनों को प्रपञ्च की प्रतीति एक सी ही होती है।

प्रपञ्च का एक अर्थ है बखेड़ा झन्झट। यह ससार एक जादूगर के खेल के समान मिथ्या बखेड़ा है जो अपने स्वरूप में दीख रहा है। इन सब बदलने वाले दृश्या में यह स्थिर है, कूटस्थ है। कूटस्थ का अर्थ भी समझने योग्य है। 'कूट' का एक अर्थ पर्वत है। जैसे चित्रकूट, त्रिकूट आदि। सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि परिवतन होते हैं; किन्तु पर्वत स्थिर खड़ा रहता है। इसी प्रकार समस्त दृश्य परिवर्तनों में अपना स्वरूप—आत्मा एकरस, निश्चल स्थित रहनेवाला है। कूट शब्द का दूसरा अर्थ है झूठ—मिथ्या। यह जितना दृश्य प्रपञ्च है, मिथ्या है। न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है। इन मिथ्या में जो सत्य रूप से स्थित है वह कूटस्थ है।

योगी समाधि में, मन्त्रयोगी जप मे, भक्त इष्ट के स्मरण मे इस ससार को विस्मृत कर देते हैं इसकी प्रतीति को हटा देते हैं, किन्तु यह एक अवस्था है। यह वस्तुसत्य का ज्ञान नहीं है। जब हम जान गये की नीलिमा कोई वस्तु नहीं, वह केवल दीखती है, तो यह न दीखे, यह आग्रह नहीं रह जाता। यह दीखे तो और न दीखे तो, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता।

अन्त करण में एक वृत्ति बना ली कि ससार मिथ्या है, इसे भी ज्ञान नहीं कहते। क्योंकि अन्त करण भी ससार ही है। ससार को मिथ्या समझने के साथ इस मिथ्या समझने वाली वृत्ति का भी बाध हो गया। इस वृत्ति को भी मिथ्या समझना चाहिये। वृत्ति का बाध अधिष्ठान के ज्ञान से होगा। वृत्ति न तो वृत्ति को जानेगी, न वृत्ति को बाधित करेगी। अत. अधिष्ठान के ज्ञान के बिना वृत्ति का बाध नहीं होगा। वृत्ति का जो अधिष्ठान है, प्रकाशक है, उसके ज्ञान से वृत्ति का बाध होगा।

अतएव 'नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं' आदि से यह बताया कि तुम विश्व नहीं हो, तैजस नहीं हो, प्राज्ञ नहीं हो, जाग्रत् आदि अवस्था नहीं हो। इन विश्व, तैजस, प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को रहने दो। इन्हें प्रतीत होने दो। तुममें ये प्रतीत हो रहे हैं। तुम न अवस्था हो, न अवस्था के अभिमानी। जैसे आँधी, बादल, वर्षा के आने जाने पर भी आकाश शान्त है, वैसे ही अवस्थाओं के रहने-न रहने पर भी अपना स्वरूप सर्वथा अलिप्त है, शान्त है। यह अपना स्वरूप प्रपञ्चोपशम उपशान्त है। अर्थात् इसमें प्रपञ्च की प्रतीति होने पर भी यह उपशान्त है। शान्त, शिव, अद्वैत है। शान्त का तात्पर्य यह कि इसमें विक्षेप नहीं है, कारण-भाव भी नहीं है। शिव कहने का तात्पर्य कि उसमें आवरणशक्ति-मायामल नहीं है।

शास्त्र में तीन प्रकार के मल माने जाते हैं। १-कर्म-मल अर्थात् मैं पापी-पुण्यात्मा सुखी-दुःखी हूँ। ये चारों कर्ममल हैं, क्योंकि चारों अभिमान हैं। २-मायामल अर्थात् मैं अकर्ता हूँ क्योंकि कर्तृत्व को दूर करने के लिये 'अकर्ता' वृत्ति है। कर्तृत्व की अपेक्षा से अकर्तापना है। अपने में अकर्तापन का अभिमान भी मल है। अज्ञान से अनुभूत कर्तापन का अभ्यास तो छूट गया; किन्तु अभ्यास की निवृत्ति के लिये जो शास्त्र और गुरुद्वारा अध्यारोपित वृत्तिज्ञान था उसमें उलझ गये। अतः अकर्तापन भी मल है। ३-आणव मल अर्थात् तत्वज्ञान होने के पश्चात् भी जो अपने में स्वातन्त्र्यहीनता का बोध है, वह आणव मल है। बोधहीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता है; किन्तु बोध होने पर जो कर्म, भाव, शास्त्र की परतन्त्रता का ज्ञान है, यह भी एक प्रकार का मल है। इन तीनों मलों से रहित अपना स्वरूप है। भगवान भाष्यकार ने प्रश्न उठाया कि जब अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मा में प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं तब केवल प्रतिषेध के ही कारण उनको रस्सी में प्रतीत होनेवाले सर्पादि के समान असत्य कैसे सिद्ध करते हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—रस्सी आदि में प्रतीत होने वाले सर्प, धारा आदि विकल्प-भेदों के समान उनके चित्स्वरूप में कोई भेद न होने पर भी परस्पर एक दूसरे का व्यभिचार होने के कारण वे असद्-रूप हैं, किन्तु चित्स्वरूप का कहीं भी व्यभिचार नहीं है, अतः वह सत्य है। यदि सुषुप्ति में चित्स्वरूप का व्यभिचार मानो, तो ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि सुषुप्ति का अनुभव हुआ करता है। श्रुति भी कहती है— 'विज्ञाता की विज्ञाति का लोप नहीं होता।'

स्वप्नावस्था में या कल्पना करते समय हमारी बुद्धि बिना बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहर गये भीतर ही एक संसार बना लेती है और हम समझते हैं कि मैं यह देख रहा हूँ। यह अन्तःप्रज्ञ अवस्था है। यहां मैं देख रहा हूँ, इतनी बात सत्य है; किन्तु मैं वहीं देखनेवाला ही हूँ, यह समझ भ्रम है। इसी प्रकार जाग्रत् में हमारी बुद्धि बहिर्मुख सी होकर अर्थात् देहाभिमान के कारण यह बाहर-यह भीतर की कल्पना करके, इन्द्रियों

के द्वारा बाह्य विषयों को देखती है। यहां भी हम देखने वाले हैं, यह ठीक है; किन्तु हम केवल बाहरी विषयों को देखने वाले (बहिष्प्रज्ञ-विश्व) ही हैं, यह ठीक नहीं है। क्योंकि हम स्वप्न देखना छोड़कर जाग्रत् में आ जाते हैं और जाग्रत् छोड़कर स्वप्न में चले जाते हैं। ये अवस्थायें परस्पर व्यभिचरित होती हैं अर्थात् एक के रहने पर दूसरी नहीं रहती।

राजा जनक ने स्वप्न देखा कि वे भिखारी हैं और कई दिन के भूखे हैं। किसी प्रकार मिली भिक्षा से खिचड़ी बना रहे हैं। उसी समय दो लड़ते सॉड़ आये और उन्होंने खिचड़ी गिरा दी। अब दुःख के मारे जनक रो पड़े। नींद टूट गयी। देखते हैं कि वे तो राजसदन में हैं। उन्हें धुन चढ़ी- 'यह सत्य या वह सत्य?' अन्त में अष्टावक्र जी ने समझाया कि 'न तुम राजा, न भिखारी। न यह सत्य, न वह सत्य। दोनों अवस्थायें तुम्हारी नहीं हैं। स्वप्न से जाग्रत् और जाग्रत् से स्वप्न में जाना-आना पड़ता ही है। अतः इन अवस्थाओं में किसी को अपनी अवस्था मानकर उसके हृदय से राग-द्वेष करना योग्य नहीं है।' कोई विद्वान समझते थे कि उनका तर्क में कोई पराजित नहीं कर सकता। एक दिन स्वप्न में उन्होंने देखा कि वे एक अन्य विद्वान से पराजित हो गये। जागने पर पहिले तो दुःख हुआ; किन्तु विचार करते ही बात समझ में आ गई कि स्वप्न में मैं जिससे पराजित हुआ, वह तो दूसरा नहीं था। वह तो मेरी ही बुद्धिवृत्ति थी। इसी प्रकार जाग्रत् के भी सब व्यवहार अपने में अपने से ही हो रहे हैं।

श्रुति कहती है कि "जो विज्ञाता है, उसके विज्ञानका लोप कभी नहीं होता।" अब इस बात को आगे अधिक स्पष्ट कर रहे हैं।

इसलिये वह आत्मा अदृश्य है। क्योंकि अदृश्य है अतः अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य है। अलक्षण है-चिह्नरहित है, तात्पर्य यह कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। इसलिये अचिन्त्य है। इसीसे शब्दों के द्वारा अवर्णनीय-अनिर्देश्य है, वह एकात्मप्रत्ययसार है। जाग्रत, स्वप्नादि अवस्थाओं में जो अव्यभिचारी एक-सा रहनेवाला है- उसी के प्रत्यय से अनुसरणीय है। अथवा जिस तुरीयतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने में एकमात्र आत्मप्रत्यय ही सार-प्रमाण है, वह तुरीयतत्त्व एकात्मप्रत्ययसार है; क्योंकि श्रुति कहती है- 'आत्मा है, इसी प्रकार उपासना करे!'

लोग कहते हैं कि हम परमात्मा को तो जानते ही नहीं; किन्तु संसार को तो जानते ही हो। अतः जिसे जानते हो, उधर से मन हटाओ। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि परमात्मा नहीं, अपने सगे-सम्बन्धी परमात्मा नहीं, अपना शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार परमात्मा नहीं। इधर से चित्त हटाओ। जिसे तुम ईश्वर नहीं मानते, वहाँ से चित्त हटा लो। यही ईश्वरप्राप्ति का उपाय है। ज्ञान की प्रक्रिया यही है कि जिसे देखना है,

उससे भिन्न से मन हटा लो। घड़ी देखना है तो फूल से और फूल देखना है तो घड़ी से मन हटाना पड़ेगा। एक काल में एक का ही ज्ञान हो सकता है। अतः ईश्वर को जानने के लिये जो भी ईश्वर से अतिरिक्त ज्ञान पड़े, उधर से मन हटा लो। इसीको निषेधशास्त्र कहते हैं।

जो परमात्मा नहीं है, उधर से मन हटाओ। परमात्मा 'अदृष्ट' है। वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जाता। यहाँ 'दृष्ट' शब्द ज्ञानेन्द्रियों से देखे जानेवाले पदार्थों के लिये है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये सबके सब पदार्थ सत्य नहीं हैं, क्योंकि कभी एक शब्द, कभी दूसरा। कभी शब्द रहता है, कभी नहीं रहता। इसी प्रकार रूप-रसादि की भी दशा है। ये सब कालपरिच्छिन्न हैं अर्थात् एक समय रहते हैं, एक समय नहीं रहते। देशपरिच्छिन्न हैं अर्थात् एक स्थान में रहते हैं, दूसरे स्थान में नहीं रहते। वस्तुपरिच्छिन्न हैं अर्थात् एक वस्तु में हैं, दूसरी में नहीं। ऐसे पदार्थ परमात्मा नहीं हो सकते।

'सन्तो आवै-जाय सो माया।'

जो आने-जाने वाले पदार्थ हैं, वे माया हैं। ये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द त्रिकाल-बाध्य हैं। सदा नहीं रहते। रहते हैं तब भी एकरस नहीं रहते। विकारी हैं। इनका ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष है। अतः ये परमात्मा का स्वरूप नहीं हो सकते। अतः दृष्ट का निषेध कर के मन इधर से हटाओ— अगन्ध, अरस, अरूप, अस्पर्श, अशब्द। अर्थात् हम ज्ञानेन्द्रियों से परमात्मा को देख नहीं सकते। अतः जब तक ज्ञानेन्द्रियों से देखेंगे- विषयों को देखेंगे, तब तक हम परमात्मा को कैसे पहिचानेंगे?

ज्ञानके दो पहलू हैं, जानना-न जानना। ज्ञानेन्द्रियों से शब्द-स्पर्शादि प्रतीत होते रहते हैं, तब भी परमात्मा है और ये नहीं प्रतीत होते, तब भी परमात्मा है। आत्मा इस ज्ञान होते और न होते दोनों से विलक्षण है। 'अदृष्ट' का एक अर्थ यह कि ज्ञानेन्द्रियों से जो दीखता है, वह नहीं। दूसरा अर्थ जिसमें दृश्य नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।

'यस्माददृष्टं तस्माद्व्यवहार्यम्।'

क्योंकि अदृष्ट है, अतः व्यवहार्य नहीं है। व्यवहार क्या? यह शत्रु-यह मित्र, यह प्रिय-यह अप्रिय, यह अच्छा-यह बुरा, यह धर्म-यह अधर्म। लेकिन आत्मा व्यवहार का विषय नहीं है। समस्त व्यवहार भेदज्ञान के अनुसार ही होता है। जो किसी ज्ञानेन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता, उसके साथ कोई व्यवहार कैसे हो सकता है? व्यवहार तो उसके साथ होता है जो ज्ञानेन्द्रियों में से किसीका विषय हो। आत्मा ज्ञानेन्द्रिय का विषय नहीं, अदृष्ट है, अतः व्यवहार का इससे सम्बन्ध नहीं।

अभेदज्ञान में—अद्वैत में व्यवहार सम्भव नहीं है; क्योंकि उसमें तो सब अपना स्वरूप है। माता, पुत्री, बहिन, पत्नी के भेदज्ञान से व्यवहार चलता है। कल्पित भेद की प्रतीति में परम्परा कल्पित व्यवहार ही योग्य है। जो जिस सम्प्रदाय में, जिस समाज में है उसकी परम्परा से कल्पित व्यवहार ही उसके लिये योग्य है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी व्यवहार तो अपने समाज-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार ही होगा। जो व्यवहार को परमार्थ मान लेते हैं उनमें एक ही प्रकारके व्यवहार का आग्रह आ जाता है। ऐसा व्यवहार ही श्रेष्ठ है, इस आग्रह से राग-द्वेष, साम्प्रदायिक संघर्ष होते हैं। अतः व्यवहार तो कल्पित रीति से ही चलते हैं। सब अपने-अपने धर्म का पालन करें और उसमें आस्था रखें। व्यवहार अपने पराये का विचार करके धर्म के अनुसार कानून के अनुसार, सामाजिक नियम-मर्यादा के अनुसार होता है। तत्त्व अव्यवहार्य है। 'अग्राह्य-कर्मेन्द्रियैः' कर्मेन्द्रिया से वह ग्रहण नहीं होता। हम हाथ से उसे पकड़ नहीं सकते। पैर से वहाँ तक पहुँच नहीं सकते।

यहाँ यह न समझ लिया जाय कि आत्मा का यह लक्षण हो जायगा कि 'जिसमें कुछ न हो, वह ब्रह्म' इसलिये आगे कहा गया है कि उसका कोई लक्षण-कोई चिह्न नहीं है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रिया का विषय न होने से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका कोई चिह्न नहीं, अतः वह अनुमान का विषय भी नहीं है। क्योंकि किसी वस्तु का कोई चिह्न दीखे, तभी उसका अनुमान किया जाता है।

संसार है, अतः इसको बनानेवाला परमात्मा होगा, यह अनुमान किया जाता है। लेकिन किसीने कभी परमात्मा को संसार या संसार की कोई वस्तु बनाते देखा है? घड़े को बनाते कुम्हार को देखते हैं, तब घड़ा देखकर कुम्हार का अनुमान करते हैं। परमात्मा को संसार बनाते किसी ने देखा नहीं, अतः इस प्रकार के सब अनुमान केवल विश्वासमूलक हैं। अनुमान के द्वारा परमात्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जो बुद्धि का द्रष्टा है, बुद्धि उसका अनुमान नहीं कर सकती।

अलक्षण का अर्थ अलिंग भाष्यकारने किया। क्योंकि श्रुति में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया है। यह असत् नहीं-यह सूचित करने के लिये सत्य, जड़ नहीं है-यह सूचित करने के लिये ज्ञान और परिच्छिन्न नहीं है-यह सूचित करने के लिये अनन्त कहा है। अतः अलक्षण का अर्थ कार्य-कारण सम्बन्ध से सर्वथा रहित हुआ।

बुद्धि के द्वारा परमात्मा का चिन्तन नहीं हो सकता। जो प्रत्यक्ष नहीं और अनुमान का विषय नहीं, वह चिन्त्य नहीं होगा। जितना चिन्तन होता है, मनसारूप्य होता है। ब्रह्म बुद्धि का विषय-बुद्धि का कर्म नहीं होता। जैसे हम पुष्प के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब पुष्प बुद्धि के सम्मुख आता है, बुद्धि का कर्म बनता है। लेकिन

इस प्रकार बुद्धि का विषय ब्रह्म नहीं होता। 'यस्यामतं तस्य मतं'। ब्रह्म जिसकी बुद्धि का विषय नहीं है, उसीने ब्रह्म को पहिचाना। जिसने ब्रह्म को बुद्धि का विषय बनाया, उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं। जो बुद्धि का विषय नहीं, शब्दों में उसका निर्देश नहीं हो सकता। किसी शब्द के द्वारा परमात्मा का वर्णन नहीं हो सकता। अतः श्रुति ने कहा– '' यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्।'

जब ये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि परमात्मा को जानने में समर्थ ही नहीं हैं तो इन्हें रोक दो। इनको रोक देने पर देखो, कौन रह गया? रह गया केवल 'मैं'। केवल एक आत्मप्रत्ययसार रहा, यही तुरीयतत्त्व है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएं क्रमशः आती हैं, चली जाती हैं। इन तीनों अवस्थाओं में एक 'मैं' समान रूप से रहता हूँ। यही आत्मा है। यह तीनों अवस्थाओं में एक सा बना रहता है। अपने बिना न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। इन तीनों में और तीनों के बिना भी मैं रहता हूँ। यही आत्मा, यही तुरीयतत्त्व है। इसीका अनुसरण करके परमात्मा को ढूंढो।

' आत्मेत्येवोपासीत '।

श्रुति कहती है कि वह परब्रह्म परमात्मा कोई दूसरा नहीं है, अपना आत्मा ही है। जिस 'मैं' के बिना संसार का कोई व्यवहार नहीं होता, यह आत्मप्रत्यय है। 'इद' के रूप में परमात्मा को देख पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि समस्त दृश्य जड़ है, नाशवान् है, विकारी है। अतः 'यह' के रूप में देखते हैं तब तक परमात्मा देखा नहीं जा सकता। लेकिन 'यह' के बिना भी 'मैं' रहता है। अतः 'यह' अनित्य है और 'मैं' नित्य है। जो नित्य है, वही परमात्मा है। अतः परमात्मा की प्राप्ति 'मैं' के रूप में ही होगी।

अन्तःप्रज्ञत्वादि से जाग्रत् आदि अवस्थाओं के अभिमानियों के धर्मों का प्रतिषेध किया गया। ' प्रपञ्चोपशमम् ' से जाग्रत् आदि अवस्थाओं के धर्मोंका अभाव बतलाया जाता है। यह तुरीयतत्त्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का साक्षी, इन अवस्थाओं का अधिष्ठान, इनका प्रकाशक है। ये तीनों अवस्थायें इस तुरीय में कल्पित हैं। अन्तःप्रज्ञत्वादि का निषेध करके अभिमानी का निषेध और 'प्रपञ्चोपशमम्' कह कर जाग्रत् आदि अवस्थाओं का निषेध हुआ। आत्मा न कोई स्थान है, न स्थानी। न विश्व है, न तैजस। यह और मैं, यहाँ-वहाँ, अत्र-तत्र सब अपने स्वरूप में ही कल्पित हैं। जो श्रोता है, जो वक्ता है, जो श्रोतापन एवं वक्तापन का अभिमान है, जो अवाक् और अश्रवण है, जो वचन का विषय है–यह सब इसी रूपमें अपना आत्मा है। यह अपने आप में, अनन्त, परिपूर्ण है।

इसलिये वह शान्त-अविकारी है । क्योंकि वह भेदरहित है-अद्वैत है, अत. शिव है । उसे चतुर्थ अर्थात् तुरीय मानते हैं; क्योंकि वह प्रतीत होने वाले तीन पादों से विलक्षण है । वही आत्मा है । वही ज्ञातव्य है । अतएव जैसे रस्सी अपने में प्रतीत होने वाले सर्प, भूच्छिद्र (दरार), दण्ड आदि से सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रुतियों का अर्थस्वरूप आत्मा है । 'वह अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है,' 'द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता' आदि श्रुतिवाक्यों मे उसीका प्रतिपादन किया गया है । वही ज्ञातव्य है, यह बात भूतपूर्व गति से कही गयी है, क्योंकि उसका ज्ञान होने पर द्वैत रहता ही नहीं है ।

'शान्त' का अर्थ भाष्यकार ने किया 'अविनिय' अर्थात् निर्विकार । भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

'आत्मा यदि भवेद्दु.खी कः साक्षी दु खिनो भवेत् ।
दुःखितः साक्षिता नास्ति साक्षिणो दु.खिता तथा ।'

'मैं दु.खी हूँ' यह अनुभव होता है । अतः इस दुःखी होने रूप वृत्ति का कोई साक्षी है । कम दु.ख, अधिक दुःख अथवा सुख, ये अवस्थायें परिवर्तित होती रहती हैं, लेकिन इनके आने-जाने में अपना आपा ज्यों का त्यों रहता है । यदि 'मैं' दु.खी होता तो दुःखीपने की निवृत्ति के साथ 'मैं' भी चला जाता । लेकिन मैं सुख-दु.ख और इनके अभाव में भी ज्यों का त्यों रहता हूँ । क्योंकि आत्मा यदि दुःखी या सुखी हो तो इस दु खीपन या सुखीपन का साक्षी कौन होगा ? सुख-दु.ख, ये एक प्रकार के चित्त के रोग हैं । यह सहज स्थिति नहीं है । अपना आत्मा इन दोनों का साक्षी, इनसे विलक्षण है । क्योंकि जो साक्षी है, वह विकारी नहीं होता । वह तो बुद्धि के सहस्र सहस्र विचारों का द्रष्टा है अत. अपना स्वरूप निर्विकार है । जिसे आत्मा के स्वरूप का बोध होगया, उसके लिये अशान्ति नामकी कोई अवस्था नहीं है ।

'महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ।'

देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित जिसने अपने आपको जान लिया, उसके लिये शोक नहीं रह जाता ।

हम लोग बातचीत में, समाचारपत्र में, सभी व्यवहार में सबसे अधिक 'मैं' शब्द का उपयोग करते हैं । मैं, मेरा, मेरे लिये, मुझे, मुझसे-ये शब्द भाषा के प्रयोग में सबसे अधिक प्रयुक्त होते हैं; किन्तु 'मैं' का अर्थ हम नहीं जानते । यह शरीर जिस पर से चमड़ा हटा दिया जाय तो इसे मक्खी, मच्छर, चींटियाँ चट कर जायें यह हमारा 'मैं' नहीं है । इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि 'मैं' नहीं । इसमें अभिमान करने स्थित जीवाभास को भी 'मैं' नहीं कहते । 'मैं' का अर्थ अपरिच्छिन्न, अखण्ड आत्मा ।

'निमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।'

जो आत्मा के स्वरूप को जान लेगा, वह किस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करेगा, किस भोक्ता के लिये शरीर के पीछे जलेगा? उसकी लौकिक-पारलौकिक कौन सी इच्छा हो सकती है जिसके लिये वह शोक करेगा? क्योंकि वह तो नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिपूर्ण ब्रह्म है। उससे पृथक् कोई सत्ता स्थिति है ही नहीं।

जाग्रत् अवस्था में पदार्थों का अभाव या विपरीत पदार्थ एवं स्थिति की प्राप्ति दुःख देती है। स्वप्नावस्था में अनुकूल कल्पना सुख और विपरीत कल्पना दुःख देती है। सुषुप्ति में अज्ञान दुःख देता है। 'अमुक काम का समय था, देर से सोकर उठने से वह काम रह गया।' इस प्रकार सुषुप्ति में अज्ञान से दुःख होता है। लेकिन अपने आत्मदेव तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति किसी से दुःखी नहीं होते। सुख-दुःख, अच्छाई-बुराई के आने जाने से इनका कुछ नहीं बिगड़ता। ये सदा विक्षेपजन्य-शान्त रहते हैं।

जो किसी प्रकार परिणाम को न प्राप्त हो, वह अपरिणामी-अविक्रिय-शान्त है। यह संसार जो हम देख रहे हैं, इसमें कहां विक्षेप, कहीं मूढ़ता और कहीं शान्ति दीख रही है। जो दोषदर्शी है, उसे सर्वत्र दोष दीखते हैं। जो गुण-दर्शी है, उसे सर्वत्र गुण दीखते हैं। जो परमात्मदर्शी है, उसे सर्वत्र परमात्मा दीखता है। यह दृष्टि का अन्तर है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में, सर्वत्र यह आत्मा है-एकरस शान्त है; किन्तु हमारी दृष्टि तो उसकी ओर नहीं है। हम तो उन वस्तुओं को देखते हैं जो क्षणिक सुख या दुःख देती हैं। हम अपने आप को न देख कर अन्य को देखते हैं। अतः जिज्ञासु को अपने आपको देखना चाहिये। यह अपना स्वरूप शान्त है-अविकारी है।

जिस समय जाग्रत्-प्रपञ्च, स्वप्न या मनोराज्यजन्य विक्षेप-तथा सुषुप्तिजन्य अज्ञान है, उस समय भी आत्मा अविक्रिय ही है, यह बताने के लिये शान्त कहा गया।

'शिवम्' अर्थात् प्रपञ्च जिस समय है, उस समय भी आत्मा ही है। 'शीङ् स्वप्ने शेरते अस्मिन् इति शिवम्।' इस 'शिव' शब्द का सुषुप्ति से सम्बन्ध है। जिसमें सब सो जाते हैं, वह शिव। तुम जब सोते हो, घर, धन, स्त्री, पुत्र, यहाँ तक कि इस शरीर को भी छोड़ कर सोते हो। हमें सुषुप्ति प्रतिदिन यह बतलाती है कि जो इतर है, वह हमारा प्रेमास्पद नहीं है। उसे हम छोड़ कर सो जाते हैं। जो द्रष्टा है, वह हमारा प्रेमास्पद है। वही शिव है। सुषुप्ति तो अज्ञानग्रस्त होनेके कारण 'अशिव' है, क्योंकि सुख-दुःख मिट जाने पर भी उनके बीज उसमें रहते हैं। सुख-दुःख के बीज से रहित निर्बीज आत्मा 'शिव' है।

शिव के सम्बन्ध में शास्त्रों में बहुत विचार है। संहारकर्ता रुद्र शिव का वास्तविक रूप नहीं हैं। निराकार रुद्र भी शिव नहीं हैं। सगुण-साकार अनुग्रह-विग्रह गंगाधर, नीलकण्ठ, त्रिनयन शिव भी शिव के वास्तविक रूप नहीं हैं। निरोधान शिव की उपाधि में

शिव में निराकारता कल्पित है। सगुण साकार शिव भी शक्तिमान हैं–अनुग्रह करने के लिये उन्होंने यह विग्रह-रूप बनाया है। यह भी उनका वास्तविक रूप नहीं है।

जहाँ अज्ञान और अज्ञान का कोई कार्य नहीं है, वह शिव हैं। जहाँ पंचकृत्य नहीं है, वे हैं शिव। यह पंचकृत्य हैं–१–उत्पत्ति, २–स्थिति, ३–संहार, ४–तिरोधान, ५–अनुग्रह। 'पञ्चकृत्यः परमेश्वरः' ये परमेश्वर के पाँच कृत्य कहे गये हैं। ये पाचों कृत्य इन्हीं पांच उपाधियों से होते हैं। जिनकी दृष्टि उपाधियों पर है, वही इन 'पंचकृत्य परमेश्वर' को देखते हैं। वे उपाधि से रहित शिव के वस्तुरूप को नहीं देखते। इन पाचों कृत्यों में विद्यमान एवं पाचों कृत्यों से विलक्षण शिव हैं। वही अपना आत्मा है।

कारणगत दोष-प्रपञ्चगत दोष के निवारण के लिये 'प्रपञ्चोपशमः', स्वप्नगत दोष के निवारण के लिये 'शान्तम्' और सुषुप्तिगत दोष के निवारण के लिये 'शिवम्' कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें और इनके विश्व, तैजस, प्राज्ञ ये तीन अभिमानी–ये कोई भेद आत्मा में नहीं हैं, यह कहने के लिये 'अद्वैतम्' कहा गया है।

जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति, विश्व–तैजस–प्राज्ञ, प्रमाता–प्रमाण–प्रमेय, ध्याता–ध्यान–ध्येय, द्रष्टा-दर्शन–दृश्य, कर्ता कर्म-कृत्य, भोक्ता-भोग-भोग्य आदि कोई त्रिपुटी, कोई द्वैत या इनमें से एक भी यह नहीं है। एक शब्द संख्यावाचक है जो दो की अपेक्षा से है; किन्तु आत्मा अद्वितीय है।

"वह एक कि दोय–न एक, न दोय।
यहाँ कि वहाँ – न यहाँ, न वहाँ ॥"

संख्या का निषेध करने के लिये अद्वैत कहा गया है। द्वैत सदा ज्ञान का विषय होता है, अज्ञान का आश्रय नहीं होता। जहाँ भी कोई दूसरी वस्तु दीखेगी, उसका ज्ञान होगा। वह कहीं दीखेगी, किसी समय दीखेगी, कुछ होगी और उसका एक द्रष्टा होगा। अतः वह देश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न होगी। द्रष्टा पूर्ण है और अधिष्ठान भी पूर्ण है। अतः पूर्ण दो तो हो नहीं सकते, दोनों एक हो जायेंगे, अर्थात् अन्तःकरणोपहित चैतन्य और रज्जूपहित चैतन्य जहाँ एक हो जायेंगे, वहाँ सर्प कोई वस्तु नहीं रहेगी।

ये जितने दृश्य हैं, इनका आधार कोई अन्य पदार्थ नहीं है। इनकी अपेक्षा से ही इनका देश–काल प्रतीत हो रहा है। देश–काल दोनों विषय की अपेक्षा से हैं और विषय देश–काल की अपेक्षा से हैं। अतः देश, काल, वस्तु ये तीनों सापेक्ष होने से अवास्तविक हैं। इनकी प्रतीति ज्ञान से होती है। द्रष्टा देश, काल, वस्तु तीनों को देखता है। द्रष्टा न हो तो ये तीनों प्रतीत न हों। अतः द्रष्टा ही इनका अधिष्ठान भी

है। तात्पर्य यह निकला कि अपने में, अपने को ही, स्वयं ही यह देश, काल, वस्तु के रूप में देख रहा है। अपनी आत्मा से भिन्न देश, काल, वस्तु नहीं है।

भ्रान्ति इसमें यह है कि हम अपने को शरीर और दृश्य को अपने से भिन्न समझ रहे हैं अथवा अपने को जीव तथा अधिष्ठान परमात्मा को अपने से भिन्न समझ रहे हैं। जब हमने अपने को परिच्छिन्न कर लिया तो आत्मा भी परिच्छिन्न हो गया। परिच्छिन्न हो गया तो भिन्न दीखने लगा। शरीर का नाम-रूप और पुष्प का नाम-रूप ये दोनों एक ही अधिष्ठान में दीख रहे हैं। अतः देह और पुष्प दोनों दृश्य हैं। दृश्य दृष्टि से भिन्न नहीं और दृष्टि द्रष्टा से भिन्न नहीं है। अतएव भिन्नता की प्रतीति भ्रान्ति है। भ्रान्ति का स्वरूप भेदभान नहीं, भेद-बुद्धि है। भेद-भान तो ब्रह्म की अद्वितीयता का साधक है, बाधक नहीं। अतः अद्वैत कहने का तात्पर्य कि अधिष्ठान से दृश्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

'चतुर्थं मन्यन्ते' भगवान् भाष्यकार के मंगलाचरण में यह बात प्रारम्भ में ही आ चुकी है-'मायासंख्यातुरीयं' अर्थात् माया की संख्या से-उसकी अपेक्षा से सत्य तुरीय है। हमें स्थूल विश्व का, सूक्ष्म विश्व का, कारण विश्व का, अनुभव होता है। यह स्थूल-सूक्ष्म-कारण माया से हमें प्रतीत होता है। यह वास्तविक नहीं है। तत्त्व तो एक ही है; किन्तु माया से यह जो हमें स्थूल सूक्ष्म, कारण प्रतीत होता है, उससे विलक्षण होने के कारण इसे तुरीय-चतुर्थ मानते हैं।

एक ही कारण सूक्ष्म बन करके पाँच कैसे हो गया? फिर पाँच अपञ्चीकृत सूक्ष्म परस्पर मिले तो पञ्चीकृत होकर स्थूल कैसे हो गये? सूक्ष्म और सूक्ष्म मिलकर स्थूल कैसे हुआ? अपनी कारणरूपता का त्याग कैसे कर दिया इन तत्त्वों ने? मिट्टी या जल जब अपञ्चीकृत थे तब सूक्ष्म और पञ्चीकृत हुए तब स्थूल, ऐसा क्यों? वास्तविक बात तो यह है कि जैसे स्वप्न में पञ्चमहाभूत प्रतीत होते हैं वैसे ही जाग्रत् में प्रतीत होते हैं। न कारण है, न सूक्ष्म और न स्थूल। ये सब दृष्टिमात्र हैं। अपनी आत्मा से भिन्न ये कुछ नहीं हैं। अतः इनकी कारण, सूक्ष्म, स्थूल रूप में प्रतीति माया है।

प्रथमावस्था जाग्रत् का अभिमानी विश्व, द्वितीयावस्था स्वप्न का अभिमानी तैजस और तृतीयावस्था सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ-ये तीनों अवस्थायें और उनके अभिमानी कल्पित हैं। ये अवस्थायें और इनके अभिमानी जिस अधिष्ठान में-हृद्भान वस्तु में कल्पित हैं, उसमें तुरीयत्व केवल समझाने के लिये आरोपित है। 'चतुर्थं मन्यन्ते' उसे चतुर्थ मानते हैं-वह वस्तुतः चतुर्थ है नहीं। उसमें चतुर्थत्व कल्पित है।

यह आत्मा परोक्ष होगा? यह परोक्षता का भ्रम लोगों में घर कर गया है। परोक्षता सदा परिच्छिन्न वस्तु में होती है। अपरिच्छिन्न वस्तु कभी परोक्ष हो नहीं सकती। आत्मा साक्षादपरोक्ष है, यह बात पहिले आ चुकी है। ऐसा साक्षादपरोक्ष,

शान्त, शिव अद्वैत, स्वयंप्रकाश अपना आत्मा है। वही ब्रह्म है। ब्रह्म और आत्मा शब्द पर्यायवाची हैं—जैसे, घट और कलश। वह आत्मा हमें होना नहीं है। वह तो हमारा स्वरूप है। उसे तुमने अब तक जाना नहीं उसे सिर्फ जान लेना है।

'स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या यह विज्ञेय है, यह बात भी भूतपूर्व अवस्था की दृष्टि से कही गयी। अज्ञान दशा में लोग समझते हैं कि हम ब्रह्म को नहीं जानते, आत्मा को नहीं जानते। वे नाना प्रकार की कल्पनायें करते हैं उसके सम्बन्ध में। अज्ञात ब्रह्म ही कल्पना का विषय संसार बन जाता है। अज्ञात आत्मा कल्पना का आधार बनकर विपर्यी जीव बन जाता है। अज्ञात ब्रह्म चेतन के रूप में कल्पित होकर ईश्वर और जड़ के रूप में कल्पित होकर जगत् बन जाता है। अज्ञात ब्रह्म अनन्त है। उसमें अहमर्थ के रूप में जीव और इदमर्थ के रूप में संसार की कल्पना होती है। फिर जड़ इदमर्थ के परोक्ष कर्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना होती है। यह सब का सब ब्रह्म के स्वरूप अज्ञान का विलास है। अपना आपा ही अज्ञता का विषय बनकर अन्य—'इद' बन जाता है और अज्ञता का आश्रय बनकर 'अहं' बन जाता है। यह अज्ञता भी कल्पित है। इस अज्ञता का विषय कल्पित और अज्ञता का आश्रय अभिमानी भी कल्पित है। ये कल्पित और कल्प्य दोनों शून्य मिथ्या हो गये, तब कल्पना का त्याग करके इदमात्र वस्तु रह गयी। उसी में जीव, ईश्वर, संसार आदि की प्रतीति हो रही है। आत्मा ही संसार, जीव, ईश्वर के रूप में भासमान है। एक ही नाना के रूप में प्रतीत हो रहा है।

ज्ञान का स्वरूप क्या है? संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान नहीं होता। अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और अपने स्वरूप के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर संसार में जो भेद की प्रतीति में सत्यत्व बुद्धि है, वह निवृत्त हो जाती है। संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान तो अन्तःकरण में होगा। अतः संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान जिसे होगा, उसका अन्तःकरण सच्चा बना रहेगा। क्योंकि 'संसार मिथ्या है' यह अन्तःकरण की वृत्ति उसमें बनी रहेगी। अतः अपनी आत्मा की अपरिच्छिन्नता के ज्ञान से अपने स्वरूप के अज्ञान की निवृत्ति होती है। इस अज्ञान-निवृत्ति से संसार में जो सत्यत्व-बुद्धि है, वह निवृत्त हो जाती है। इसी दृष्टि से संसार को मिथ्या कहा जाता है। श्रुति का उपयोग अज्ञानियों की दुःख-निवृत्ति है। परमार्थ में—तत्त्वज्ञानी के लिये श्रुति नहीं है। जितने शास्त्र हैं, सब अविद्यावान् को विषय करते हैं अर्थात् अज्ञानी को मार्ग दिखलाते हैं। तत्त्वज्ञ तो शास्त्र से ऊपर उठ जाता है। अतएव 'स विज्ञेय' यह भूतपूर्वगति से अज्ञानी की अवस्था को लक्ष्य में रखकर कहा गया है। ज्ञान हो जाने पर तो ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रह ही नहीं जाता। वहाँ तो द्वैत का नाश हो जाता है।

आज जनसामान्य की क्या स्थिति है? तुम्हारी मान्यता है कि हम मनुष्य हैं। ब्राह्मण—क्षत्रिय वैश्य—शूद्र, हिन्दू—मुसलमान—ईसाई अमुक देश, अमुक सम्प्रदाय, अमुक कुटुम्ब में

उत्पन्न एक भ्रान्ति है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि तुम अपने को सूक्ष्म शरीर भी नहीं-हड्डी, मांस, चमड़े आदि का यह स्थूल शरीर मानते हो। यह इसलिये मानते हो कि तुमने अपने सम्बन्ध में कभी विचार नहीं किया। इसलिये अपना आत्मा कैसा है, यह जानना चाहिये। इसे जाने बिना दुःख से तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता है। संसार के जितने दुःख हैं, ये अपने को शरीर मान लेने से-अपने को छोटा मान लेने से हैं। जैसे कोई नरेश अपने को भिक्षुक मान कर दुःखी हो रहा हो, वही तुम्हारी अवस्था है। अतः तुम्हें अपना स्वरूप जानना चाहिये।

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' ।'

श्रुति कहती है कि आत्मा देखने योग्य है। अब तक तुमने अपने को तो देखा नहीं, केवल अनात्मा को-अपने से अन्य को देखा है। आत्मा को अब देखो। देखने का उपाय! पहिले अपने से श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर श्रवण करो और उस श्रवण किये ज्ञान का मनन करो-उस पर विचार करो।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत!'

श्रुति कहती है कि अभी तो तुम सो रहे हो। अब उठो! जागो! और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये-अविद्या-ध्वंस के लिये डट जाओ।

'जीव सकल जग सोवनिहारा।
देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥'

अभी तुम यह जो नाना प्रकार के दृश्य देख रहे हो, यह स्वप्न है। इस स्वप्न से जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर सुनो! श्रेष्ठ पुरुष वे हैं जो जाग रहे हैं-

'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच वियोगी॥'

दुःख की निवृत्ति का एकमात्र यही उपाय है।

क्योंकि—

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥'

यदि समूचे आकाश को मृगचर्म की भाँति लपेटकर कोई बगल में दबा ले-तब भी अपने आपको जाने बिना उसके दुःख का नाश नहीं होगा।

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।'

अपने आत्मदेव को जान कर ही सम्पूर्ण दुःख-बन्धन से छुटकारा प्राप्त होता है। अतः अपने आप को जानना चाहिये।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा ज्ञान का विषय है। जैसे किसी ने कहा कि 'सब चीज़ें तलवार से काट दो।' अब यह बात स्वत समझ लेना चाहिये कि जो वस्तुएँ तलवार से कटने योग्य हैं, उन्हीं को काटने को कहा गया है। यहाँ जा पत्थर या लोहे की वस्तुएँ हैं, उन्हे काटने को नहीं कहा गया, क्योंकि वे तलवार से कट नहीं सकती हैं। अत प्रश्न उठा कि जब आत्मा ज्ञान का विषय नहीं है, तब 'स विजेय' उसे जानना चाहिये, 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' 'आत्मा देखने योग्य है' यह क्यो कहा गया? क्योंकि आत्मा देखा तो जा नहीं सकता।

यहाँ यह विवेक करना पड़ेगा कि क्या वस्तुए जानी जाती हैं और कौन उन्हे जानता है। आत्मा से अन्य जो भी दीखता है, एक बार अपने को उससे पृथक् करो। जानने के जो करण हैं, उनको भी हटा दो। अब देखो कि तुम क्या हो। जब तक अपने करण तथा करण के विषय को अपने से पृथक् नहीं करोगे, तब तक अपने आपको नहीं जान सकते। अत 'स विजेय' का तात्पर्य है कि अब तक तुम जो कुछ जानते रहे हो, उस से अपने को पृथक् करो। हमारा विज्ञान उल्टी दिशा में जा रहा है। हम अन्य को देखते हैं। अब उसे रोको। इससे होगा यह कि विज्ञान का कोई विषय नहीं रह जायगा और जब विषय नहीं रहेगा तब विज्ञान का कोई अभिमानी नहीं रहेगा, क्योंकि सविशेष विज्ञान का ही अभिमानी होता है। विषय और अभिमानी के न रहने से केवल विज्ञान रह गया।

विज्ञान में कोई परिणाम होता है? नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। जो ज्ञेय नहीं होगा, वह अनेक नहीं हो सकता। जो अनेक नहीं, उसमें परिणाम भी नहीं होगा। अतएव विज्ञान देश-काल-परिच्छेद सहित नहीं होगा। देश-काल का प्रकाशक विज्ञान है। विज्ञान में स्वगतभेद भी नहीं होगा, क्योंकि भेद देश-काल परिच्छेद से होता है। देश-काल का परिच्छेद न होने से विज्ञान से भिन्न अन्य सत्ता भी नहीं। अत अखड अद्वितीय विज्ञान ही आत्मा है।

यहा विजेय शब्द का तात्पर्य यह है कि तुम जो ससार के विभिन्न पदार्थों को, देह, मन, बुद्धि आदि अनात्म पदार्थों को विषय बनाकर उनके ज्ञान के अभिमानी बनकर ज्ञान को अनेक मान बैठे हो, यह तुम्हारा अज्ञान है। इस अज्ञान को दूर करने के लिये तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है। इस ज्ञान का—तत्त्वज्ञान का फल क्या? यह प्रश्न हम इसलिय करते हैं कि हमारी बुद्धि सासारिक भोगों को ही महत्त्व दिये बैठी है। प्रह्लाद से भगवान् नृसिंह ने जब वरदान मागने को कहा तब प्रह्लाद बोले-'मुझे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। आप ये जो त्रितापतप्त ससार के जीव हैं, इन सब को मुक्त कर द।'

भगवान हँस गये और कहा-'वत्स प्रह्लाद! बलपूर्वक सब को मुक्त करना तो ठीक नहीं। तुम पूछ देखो कि कौन मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें मुक्त कर दिया जाय।'

प्रह्लाद ने पूछा तो उन्हें कोई मुक्त होने को उद्यत नहीं मिला। उन्होंने एक ग्राम-शूकर से पूछा—'तुम मुक्त होगे ?'

शूकर बोला—'मुक्त होने पर मेरा आहार और शूकरी तो मुझे मिलेगी ?'

'नहीं।' यह प्रह्लाद के कहते ही उसने भी अस्वीकार कर दिया। यही दशा लोगों की है। उनकी बुद्धि विषयों को महत्त्व दिये बैठी है। वे विचार करते ही नहीं। सोचो कि तुमको बहुत स्वादिष्ट भोजन दिया जाय किन्तु तुम्हारी जिह्वा दवा लगाकर सूनी कर दी जाय, स्वाद का ज्ञान तुम्हें न हो तो उस भोजन से तुमको सुख होगा ? सुख तो पदार्थ में नहीं, ज्ञान में है। ज्ञान सबका फल है। ज्ञान का फल यह प्रश्न नहीं उठता। जीवन में दुःख है और उसकी निवृत्ति ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। अतएव आत्मा को जानना चाहिये।

एशिया के एक श्रेष्ठ दार्शनिक ने मुझसे बातचीत में कहा 'मनुष्य के मन में लोभ न हो तो उसे धर्म का उपदेश नहीं कर सकते और भय न हो तो उपासना का उपदेश नहीं कर सकते। लोगों के मन में लोभ है, अतः धर्म का उपदेश और भय है, अतः उपासना का उपदेश किया जाता है।' इसी प्रकार जीवन में दुःख है या नहीं ? उसकी निवृत्ति के लिये भोगवादियों ने काम पुरुषार्थ माना, किन्तु कामोपभोग न सदा प्राप्त होते, न इन्द्रियाँ भोग में सदा समर्थ होतीं। इसी प्रकार धर्म, उपासना योगाभ्यास हैं। ये दुःख की निवृत्ति के लिये ही विभिन्न साधन हैं; किन्तु इनमें श्रम है और ये नित्य बने नहीं रहते। किन्तु एक ऐसा उपाय है दुःख-निवृत्ति का जिसमें पलक गिराने तक का कष्ट नहीं है। केवल जानने मात्र से दुःख मिट जायँगे। वह उपाय है कि तुम अपने आपको समझ लो। अपने अविवेक को दूर कर दो।

तुरीय के स्वरूप की व्याख्या

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

माण्डूक्योपनिषद् के सातवें मन्त्र पर श्री गौडपादाचार्यजी की कारिका में ये श्लोक हैं :—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥१०॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः ।

अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत् । एतत्कुतः यस्माद्द्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस, विश्वरूप समस्त दुःखों की निवृत्ति में ईशान है । ईशान शब्द की व्याख्या है प्रभु । तात्पर्य यह है कि वह दुःखनिवृत्ति में समर्थ है; क्योंकि उसमें दुःख-निवृत्ति का कारण है ।

अव्यय-जो व्यय न हो अर्थात् जो स्वरूप से व्यभिचरित न हो । क्यों व्यभिचरित नहीं होता ? इसलिये कि अद्वैत है । दूसरे सब पदार्थ रज्जु में अध्यस्त सर्प के समान मिथ्या हैं । प्रकाशनशील होने के कारण यह देव है, तुरीय अर्थात् चतुर्थ है और विभु-व्यापक कहा गया है ॥ १० ॥

सब दुःखों की निवृत्ति में समर्थ तुरीय अपना आत्मा है । जाग्रत् में जितने दुःख आते हैं वे विश्व को पीड़ित करते हैं । स्वप्न में आने वाले दुःख तैजस को पीड़ा देते हैं और सुषुप्ति में अज्ञानरूप दुःख प्राज्ञ को होता है, किन्तु तुरीय को न जाग्रत् स्पर्श करता, न स्वप्न और न सुषुप्ति । अतएव यदि तुम अपने को तुरीय समझ लो तो सब दुःख निवृत्त हो जायँगे । दुःख तीन प्रकार के हैं । आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक । एक दुःख वे जो सांसारिक वस्तुओं से-रोटी, कपड़ा, आवासादि से न मिलने से होते हैं । ये आधिभौतिक दुःख हैं । दूसरे प्रकार के वे दुःख हैं जो

आकस्मिक होते हैं। जैसे–वर्षा, आँधी, ओले, अग्नि, बाढ़, भूकम्प आदि से होने वाले दुःख। इस प्रकार के दुःख आधिदैविक हैं। तीसरे प्रकार के आध्यात्मिक दुःख वे हैं जो अपने शरीर के भीतर किसी निमित्त से होते हैं अर्थात् जो मानसिक रूप में होते हैं। विचार किया जाय तो अधिकांश दुःख हमारे मानसिक ही हैं।

शरीर में जो अभावजन्य दुःख है वह अभाव दूर कर के मिट सकता है, यदि अभाव दूर करने की परिस्थिति बन सके। आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति देवताओं की पूजा–यज्ञ आदि से होती है। आध्यात्मिक दुःख, मानसिक दुःख उपासना से या मन की प्रसन्नता से दूर होंगे। लेकिन इन समस्त दुःखों की एक साथ निवृत्ति, सदैव के लिये निवृत्ति चाहते हो तो विचार करो कि तुम सदा दुःखी हो या दुःख आगन्तुक हैं ? दुःख आगन्तुक हैं। कोई दुःख सदा नहीं रहता। अतएव दुःख तुम में नहीं हैं। अपनी स्थिरता, ज्ञानरूपता, एकरसता को समझो। तुम्हें समझ में आ जायगा कि अपना आत्मा स्वभाव से दुःखरहित है। उसमें दुःख का लेश नहीं। तुम तुरीय हो, अतएव सम्पूर्ण दुःख की निवृत्ति में ईशान–समर्थ हो। यह तुरीय आत्मा देव है। संस्कृत में देव शब्द अद्भुत है–'द्योतनाद् देवः' प्रकाशित करने के कारण देवता। हमारी इन्द्रियाँ देवता हैं; क्योंकि वे अर्थ को प्रकाशित करती हैं। उनसे हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ देवता हैं तो उनका स्वामी इन्द्र है। यह इन्द्र कौन ? जो सबको प्रकाशित करता है। इस इन्द्र का भी जो द्रष्टा, प्रकाशक है, वह ईश्वर है। वही देवताओं का भी देवता है। वही सच्चा देव है।

यह जगत्, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, वह देव है। वह तुरीय है। अद्वैत है। सम्पूर्ण पदार्थों में, सम्पूर्ण भावों में, सम्पूर्ण क्रियाओं में, सम्पूर्ण स्थितियों में वह एकरस रहता है। वह अद्वितीय, निर्विकार है। इसे दुःख छू नहीं सकते। अतएव इसे–अपने आपको जानने से सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। विश्व–जाग्रत् में सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि व्यष्टि-समष्टि दोनों की ही जाग्रत् अवस्था में नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। संयोग–वियोग, अनुकूलता–प्रतिकूलता लगी ही रहती है। कोई चाहे कि जाग्रत् अवस्था का सत्यत्व भी बना रहे, इसमें अभिमान भी रहे–इसके पदार्थों का अभिमान रहे और सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा भी हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। तैजस–स्वप्नावस्था अपने नियन्त्रण में नहीं है। उसमें पता नहीं कब क्या अललटप्पू आ जाय। स्वप्न सदा हमारे अनुकूल ही हो, यह नियम नहीं है। सूक्ष्म शरीर में काम, क्रोध, लोभ, राग–द्वेषादि अनेकों प्रकार के दोष हैं। अतः यहाँ भी सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। सुषुप्ति अज्ञानात्मक अवस्था है। जहाँ हम कुछ समझते ही नहीं, वहाँ दुःख–निवृत्ति की कल्पना व्यर्थ है। वहाँ–अज्ञानरूप–दुःखबीज बना हुआ है। इसलिये दुःख

की निवृत्ति किसी अवस्था में नहीं है। दुःख की निवृत्ति जिस वस्तु में है उसी वस्तु का नाम परमात्मा है। अपना जो सच्चा स्वरूप है, उस तत्त्वस्वरूप में अवस्थान ही सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति का हेतु है।

व्याकरण की दृष्टि से विचार करें तो सुख और दुःख इन दोनों शब्दों में 'सु' और 'दुः' ये उपसर्ग हैं और 'ख' यह मूल वर्ण है, जो दोनों में समान है। 'सु' और 'दुः' उपसर्गों को पृथक् कर दें तो 'ख' हो जायगा और इन उपसर्गों को बनाये रहें तो सुख-दुःख पृथक्-पृथक् रहेंगे। उपसर्ग धातु के अर्थ को बलपूर्वक बदल देते हैं। 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।' जैसे 'हृ' धातु से 'हार' शब्द बना। उपसर्ग न हो तो हार का अर्थ गले में पहिनने की माला; किन्तु 'प्र' उपसर्ग लग जाने से यही शब्द 'प्रहार' बन जायगा, जिसका अर्थ होगा मारना। इसी प्रकार संहार, विहार, परिहार, उपहार आदि शब्द भी उपसर्ग लग कर इसी 'हृ' धातु से बनेंगे और सबके अर्थ भिन्न-भिन्न होते चले जायेंगे। इसी रीति से एक ही 'ख' 'सु' और 'दुः' इन उपसर्गों के कारण अनुकूल और प्रतिकूल हो गया। संस्कृत में 'ख' का अर्थ आकाश है। श्रुति कहती है-'खं ब्रह्म' ख वस्तु अर्थात् आत्मा। जैसे आकाश में कभी बादल, धूल, धुआँ आदि आते-जाते हैं, किन्तु आकाश सदा उनसे अलिप्त-निर्मल रहता है, वैसे ही आत्मा भी सम्पूर्ण अवस्थाओं अनुकूलता-प्रतिकूलता के आने-जाने पर भी उनसे अलिप्त ही रहता है। वही अनन्त सुखस्वरूप है।

'सु' और 'दुः' ये दोनों उपसर्ग हैं। इन्हें दूर कर दो। 'सु' अर्थात् सत्त्वगुण की उपाधि और 'दुः' अर्थात् रजोगुण और तमोगुण की उपाधि। तात्पर्य यह कि एक ऐसा सुख है जो सत्त्वगुण में है; किन्तु रजोगुण और तमोगुण में नहीं है और एक ऐसा दुःख है जो रजोगुण-तमोगुण में है, किन्तु सत्त्वगुण में नहीं है। लेकिन सुखस्वरूप परमात्मा तो सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों में उनका प्रकाशक होकर रहता है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का प्रकाशक है; विश्व, तैजस, प्राज्ञ का प्रकाशक है। उस तुरीय आत्मा में न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व और न सुषुप्तिकालीन अविद्या-वृत्ति है। सुख-दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति केवल इसीमें है।

संसार के प्राणिमात्र आनन्द चाहते हैं। लक्ष्य सबका एक ही है। लेकिन वे भटक गये हैं। आनन्द कहाँ मिलेगा, इसे जानते नहीं। आनन्द मिलेगा अपने भीतर। आनन्द सबका लक्ष्य है और आनन्दप्राप्ति का साधन भी निर्विवाद रूप से निवृत्त होना- अन्तर्मुख होना है। वह साधन है भोग में नियन्त्रण और उससे निवृत्त होना, कर्म में नियन्त्रण और उसमें निवृत्ति, इच्छाओं में नियन्त्रण तथा उनसे निवृत्ति। संसार के आस्तिक-नास्तिक सभी सम्प्रदाय इस साधन को स्वीकार करते हैं। धर्मानुष्ठान, उपासना एवं योग के द्वारा निवृत्ति ही इष्ट है।

'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्'

कोई धीर पुरुष प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करता है अपने नेत्र को-इन्द्रियों को भीतर लौटाकर। इसमें भक्ति और ज्ञान के सिद्धान्त में कोई भेद नहीं है। जो प्रत्यगात्मा को अपना आपा मानते हैं उन्हें भी बाहर के विषय से लौटकर भीतर आना है और जो प्रत्यगात्मा को अन्तर्यामी ईश्वर मानते हैं, उन्हें भी। जो वस्तु अपने हृदय में है, वह अन्तर्यामी हो या अपना आपा हो, वह नित्य प्राप्त तो है ही। नित्यप्राप्त की प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से होती है।

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

उपासक हो या जिज्ञासु दोनों को यह श्रुति समान रूप से स्वीकार करनी पड़ेगी। परमात्मा का ज्ञान दोनों को प्राप्त करना पड़ेगा। ज्ञान के स्वरूप में केवल भेद है। जहां परमात्मा सविशेष है, वहां सविशेष ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति में हेतु होगा और जहां परमात्मा निर्विशेष है, वहां निर्विशेष ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति में हेतु है। श्री रामानुजाचार्यजी कहते हैं कि भक्त्याकार परिणत ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिये ज्ञान को सभी लोग आवश्यक मानते हैं। अतः दुःख की निवृत्ति के लिये तुरीय वस्तु परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही होगा। उसके ज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति सर्वथा असम्भव है।

परमात्मा की प्राप्ति के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक कहता है कि अपने हृदय में ही परमात्मा की प्राप्ति होगी और दूसरा कहता है कि अपने सम्मुख वाले व्यक्ति के हृदय में हमें परमात्मा मिलेगा। लेकिन जो अपने हृदय में है, वही सम्मुख वाले व्यक्ति के हृदय में है। देह की उपाधि से अन्तःकरण भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। यदि अन्तःकरण में आरूढ परमात्मा को पाना है तब तो यह कह सकते हो कि वह यहाँ मिलेगा-वहाँ नहीं मिलेगा, किन्तु जो समस्त अन्तःकरणों का अधिष्ठान है, सबका द्रष्टा है, सब हृदयों का प्रकाशक है, सबके मूल उपादान के रूप में विवर्तित हो रहा है, वह अपने शरीर में मिलेगा और अन्यत्र नहीं मिलेगा अथवा दूसरे शरीर में मिलेगा, अपने शरीर में नहीं मिलेगा ऐसा भेद करने की क्या आवश्यकता है?

जो 'तत्' पदार्थ के रूप में परमात्मा का अनुसन्धान करते हैं, वे कहते हैं कि अन्य में ही परमात्मा की प्राप्ति होगी और जो 'त्वं' पदार्थ के रूप में परमात्मा का अनुसन्धान करते हैं, वे कहते हैं कि अपने हृदय में ही परमात्मा की प्राप्ति होगी। विचार की यह प्रक्रिया है कि संसार में जो कुछ भान हो रहा है, 'अहं' के द्वारा 'अहं' के आधार पर ही हो रहा है। 'इदं' का भान भी 'अहं' को ही होता है। इसलिए 'अहं' के रूप में परमात्मा को ढूँढने से उसकी प्राप्ति हो जायगी। 'अहं' का

मूल अथवा हमारा शुद्ध अहमर्थ जो तुरीय वस्तु है, उसी का अनुसन्धान करना है। इससे सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जायगी।

यह तुरीय वस्तु अव्यय है, विभु है, देव है और 'सर्व भावाना अद्वैतः' है। ये चारों बातें समझ में आ जायें तो तुम तुरीय वस्तु को समझ लोगे। 'निवृत्तेः सर्व दुःखानामीशानः।' यह तुरीय वस्तु सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति में समर्थ है अर्थात् परमानन्दस्वरूप है।

'मैं' शब्द का क्या अर्थ? यह पृथक्-पृथक् शरीरों के अभिमान के कारण 'मैं' भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहा है। यह सब पृथक्-पृथक् 'मैं' जिसके शरीर हैं, वह एक है। संसार की दृष्टि से यह स्थूल शरीर और 'मैं' शरीरी; किन्तु यह परिच्छिन्न 'मैं' शरीर है और एक पूर्ण शरीरी है। वह जो पूर्ण 'मैं' है वही आत्मा है। वही तुरीय है। वह विभु है, परिच्छिन्न नहीं है। विभु कहने का तात्पर्य यह है कि वह प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् नहीं है, सब शरीरों में एक ही है।

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।'

—गीता

भगवान् ने गीता में बताया कि आत्मा 'सर्वगत' है अर्थात् सम्पूर्ण देश में रहनेवाला एक ही है। वह परिच्छिन्न नहीं अर्थात् उसके टुकड़े नहीं हो सकते। वह भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न बँटा हुआ नहीं है। सब शरीरों में एक-अपरिच्छिन्न है।

आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है और सर्वगत-विभु है। एक बात यह भी कि वह अव्यय है अर्थात् उसमें से कभी कुछ घटता नहीं है। यह संसार बनता बिगड़ता रहता है; किन्तु आत्मा सदा एकरस है। जहाँ वस्तु जड़ होगी वहाँ वह रूपान्तरित होगी; किन्तु जहाँ वस्तु चेतन होगी, वहां वह रूपान्तरित होती प्रतीत मात्र होगी। क्योंकि यदि चेतन रूपान्तरित हो तो वह रूपमात्र रह जायगी, उसका चैतन्य समाप्त हो जायगा। इसलिए उसमें रूपान्तरण होता नहीं, प्रतीत होता है। इसी को-विवर्त कहते हैं। जो वस्तु सर्व देश, सर्वकाल में परिपूर्ण होगी उसमें देश-काल भी नहीं होंगे। वह देश-काल की भी प्रकाशक होगी। वहीं तुरीय वस्तु आत्मा है। अतः वह अव्यय है—अविनाशी है।

परमात्मा अव्यय है अर्थात् घटता-बढ़ता नहीं है। बहुत दिनों तक लोग समझते थे कि गति में भार नहीं होता; किन्तु अब वैज्ञानिकों ने पता लगा लिया है कि गति में भी भार (वजन) होता है। एक वस्तु यदि यहां पाव भर है तो आकाश में वहीं जाकर वह छटांक भर या तोले भर ही तौलने पर रह जायगी। वस्तु में भार नहीं होता। भार तो वायु के दबाव का है। वायु के दबाव के अनुसार वस्तु में भार होता है। परमात्मा वस्तुसत्य है, अतः उस में भार नहीं है; किन्तु उसमें भार यदि कल्पित कर लें तो वह घटता-बढ़ता नहीं, सदा समान रहता है। परमात्मा अव्यय है

अर्थात् अविनाशी है। वह काल से अपरिच्छिन्न है। भूत, भविष्य, वर्तमान यह काल उसमें नहीं हैं। इसी प्रकार वह देश से अपरिच्छिन्न है। इसलिये विभु है। काल से अपरिछिन्न है, अतः अव्यय-अविनाशी है। लेकिन वह जड़ नहीं, चेतन है इस बात को सूचित करने के लिये कहते हैं कि वह देव है। 'द्योतनात् देवः' वह प्रकाश स्वरूप है।

'दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' यह देव शब्द संस्कृत में 'दिव्' धातु से बना है। 'दिव्' धातु क्रीड़ा, विजयेच्छा, व्यवहार, प्रकाश, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति, इतने अर्थवाली है। आत्मदेव क्रीड़ाप्रिय हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उनका ही खेल है—

'कृष्ण ने कैसी होरी मचाई।

एक ते होरी बने नहिं कबहूँ, या ते करी बहुताई, यही मन में ठहराई।'

एक से तो क्रीड़ा सम्भव नहीं, अतः बहुत रूपों मे प्रतीत होने लगे।

'एकाकी नारमत ततो द्वितीयमसृजत'

श्रुति कहती है कि परमात्मा को अकेले अच्छा नहीं लगा तब उन्होंने यह द्वितीय जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति, विश्व-तैजस-प्राज्ञ बनाया। स्वय अनेकरूप हो गये।

खेल प्रारम्भ होने पर विजिगीषा हुई। परमात्मा को अपने पराक्रम को प्रकट करने की इच्छा हुई। वह स्वय इन्द्र, अग्नि, वायु आदि बना और यक्ष बनकर इन सब पर विजयी हो गया। यह कथा उपनिषद् मे है कि देवताओं के सम्मुख परमात्मा यक्ष के रूप मे प्रकट हुआ। उस यक्ष के सम्मुख अग्नि एक तृण को जला नहीं सके, वायु उस तृण को उड़ा नहीं सके, इन्द्र को उसका पता नहीं लगा। वही सर्वरूप है अतः विजयी तो वही है। व्यवहार भी सब वही कर रहा है। विश्व बनकर जाग्रत् का तैजस बनकर स्वप्न का और प्राज्ञ बनकर सुषुप्ति का समस्त व्यवहार वही कर रहा है।

द्युति का अर्थ है प्रकाश। ये आत्मदेव प्रकाशस्वरूप हैं। समस्त अवस्थाओं के यही प्रकाशक हैं। इनका कोई प्रकाशक नहीं। ये स्वयप्रकाश हैं। ससार के सब पदार्थ, सब अवस्थायें बदलती रहती हैं, किन्तु सब वस्तुओं के होने न होने को जो देखता रहता है वह सर्वावभासक है। समस्त रूपों में इन आत्मदेव-इन परमात्माकी ही स्तुति की जाती है। सभी उपास्यों के रूप मे यही हैं। 'सर्वदेव नमस्कारः केशव प्रति गच्छति।'

मोदस्वरूप-आनन्दस्वरूप हैं यह आत्मदेव और मदस्वरूप हैं-'मैं' के रूप मे सर्वत्र यही विद्यमान हैं। इनकी ही अभिव्यक्ति यह समस्त प्रपञ्च है। यह सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्च स्वप्न है आत्मदेव का। यह स्वप्न का दृष्टान्त तो अनेक बार आ चुका है।

कान्ति-प्रकाश, तेजस्विता के भी यही रूप हैं और सम्पूर्ण गति के यही आधार हैं। तात्पर्य यह कि 'देव' शब्द जिस 'दिव्' धातु से बना है-उस धातु के सबके सब अर्थ आत्मदेव में ही पूर्णतः घटित होते हैं।

'सर्व भावानां अद्वैतः'। सम्पूर्ण भावों में अद्वैत-अर्थात् यह तुरीयतत्त्व अद्वय है। जितने भी दूसरे भाव प्रतीत होते हैं, वे केवल प्रतीत होते हैं। यह जो देश से अपरिच्छिन्न, काल से अपरिच्छिन्न, विभु, अव्यय, चेतनसत्ता है, ये आत्मदेव ही हैं। यह अद्वैत है। सम्पूर्ण भावों के प्रतीत होने पर भी इनमें कोई भाव, कोई अवस्था नहीं है।

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्—

तुरीय का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये विश्व आदि के सामान्य और विशेष भाव का अब निरूपण करते हैं—

> **कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।**
> **प्राज्ञःकारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥११॥**

कार्यं क्रियत इति फलभावः। कारणं करोतीति बीजभावः। तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते। प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः। तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्। ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः ॥११॥

जो किया जाय, वह कार्य। कार्य फलभाव है। जो करता है, वह कारण। कारण बीजभाव है। विश्व और तैजस जिनका वर्णन पहिले हो चुका है, ये तत्त्व का ग्रहण न करने तथा अन्यथा-विपरीत ग्रहण करने रूप बीजभाव और फलभाव से बँधे हुए-अर्थात् कार्य-कारण भाव में पूर्णतः जकड़े हुए हैं। लेकिन प्राज्ञ बीजभाव से ही बँधा है। तत्त्व का अप्रतिबोध रूप बीज ही उसके प्राज्ञत्व में कारण है। इससे यह तात्पर्य है कि तुरीय में वे बीज और फलभावरूप तत्त्व का अग्रहण एवं अन्यथा ग्रहण दोनों ही नहीं रहते; वहाँ उनके रहने की सम्भावना ही नहीं है ॥११॥

जाग्रत् अवस्था का अभिमानी विश्व और स्वप्नावस्था [illegible] नी तैजस ये दोनों ही तत्त्व का ग्रहण न कर पाने के कारण अन्यथाग्रह [illegible] 'अहं' को 'इदं' के रूप में, एक को अनेक के रूप में ग्रहण [illegible] इस्तप्रपञ्च

तथा स्वप्न का जगत् दोनों कार्य हैं तथा इस कार्य के कारण की कल्पना भी जाग्रत् तथा स्वप्न में होती है। यह कार्य-कारण भाव जाग्रत् एवं स्वप्न दोनों के अभिमानियों को जकड़े है। सुषुप्ति में अज्ञान रहता है—अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं रहता, इसी अज्ञान के बीज से स्वप्न तथा जाग्रत् निकलते हैं। अतः सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ अज्ञान रूप बीजभाव से बँधा है। तुरीय में कार्यकारण भाव सम्भव नहीं है; क्योंकि वहाँ तत्त्व का अग्रहण या अन्यथाग्रहण नहीं है।

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति। यस्मात्—

यहाँ प्रश्न उठा कि प्राज्ञ कारण से बँधा है, यह कैसे सिद्ध हुआ और तुरीय में तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथारूप बन्धन नहीं है, यही कैसे सिद्ध हुआ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं। क्योंकि—

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥१२॥

आत्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति तथा विश्वतैजसौ। ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसान्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र। तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा सम्भवति। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४।३।२३) इति श्रुतेः।

आत्मा से भिन्न अविद्याबीज से उत्पन्न बाह्य द्वैतप्रपञ्च को प्राज्ञ तनिक भी नहीं जानता, जैसा कि विश्व और तैजस जानते हैं। इसलिये यह प्राज्ञ, विश्व और तैजस के अन्यथाग्रहण के बीजरूप तत्त्व के अग्रहण—अज्ञान से बँधा है। क्योंकि तुरीय से भिन्न पदार्थ का सर्वथा अभाव है, अतः तुरीय सदा-सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप ही है। जो सर्वरूप और उसका साक्षी हो उसे सर्वदृक् कहते हैं इसलिये उसमें तत्त्व का अग्रहणरूप

बीजावस्था नहीं है और इसीलिये उसमें उससे उत्पन्न होने वाले अन्यथाग्रहण का भी अभाव है, क्योंकि सदा प्रकाशस्वरूप सूर्य में उसके विपरीत अप्रकाशन अथवा अन्यथा-प्रकाशन सम्भव नहीं है। श्रुति कहती है–'द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता'।

अथ वा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० उ० ३।८।११ इत्यादि श्रुतेः ॥१२॥

अथवा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था के सम्पूर्ण भूतों में–समस्त पदार्थों में उनके साक्षीरूप से तुरीय ही भासमान है, इसलिये वह सर्वसाक्षी है। यह बात इस श्रुति से प्रमाणित है– 'इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' ॥१२॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥१३॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताशङ्का निवर्त्यते।

यस्माद्बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्; सा बीजनिद्रा, तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

यह श्लोक निमित्तान्तर से प्राप्त शंका की निवृत्ति के लिये है। प्राज्ञ के समान ही तुरीय में भी द्वैत का ग्रहण नहीं है, अतः प्राज्ञ के समान ही तुरीय में भी कारणरूप बन्धन क्यों नहीं? इस शंका की प्राप्ति हुई। उसे निवृत्त करते हैं। क्योंकि प्राज्ञ बीजनिद्रायुक्त है। तत्त्व के अज्ञान का नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञान की उत्पत्ति का बीज है, अतः उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं। प्राज्ञ उससे युक्त है। लेकिन सर्वदा सदृक्स्वरूप होने के कारण तुरीय में वह 'बीजनिद्रा' नहीं है। इसलिये तुरीय में कारणरूप बन्धन नहीं है, इसका यही तात्पर्य है ॥१३॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥१४॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम् । निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति । ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ । अतस्तौ कार्यकारण बद्धावित्युक्तौ । प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम् । नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः ॥ १४ ॥

रस्सी में सर्प के ग्रहण के समान अन्यथाग्रहण का नाम स्वप्न है और तत्त्व के अप्रतिबोधरूप तम–अज्ञान को निद्रा कहते हैं । इन स्वप्न और निद्रा से विश्व और तैजस युक्त हैं । अतः इन्हें कार्यकारण–बद्ध कहा गया है । किन्तु प्राज्ञ स्वप्नरहित है । वह केवल निद्रा से ही युक्त है, इसलिये उसे कारणबद्ध कहा है । निश्चित अर्थात् ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीय में ये दोनों बातें नहीं देखते, क्योंकि सूर्य में अन्धकार के समान वे उससे विरुद्ध हैं । अतः तुरीय कार्य अथवा कारण से बँधा नहीं है, ऐसा कहा गया है ॥ १४ ॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते—

अब यह बतलाते हैं कि कब तुरीय में मनुष्य निश्चित होता है

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥१५॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्व स्वप्नो भवति । निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या । स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम् । अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः । तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः ।

अतस्तयोःकार्यकारणस्थानयोः अन्यथाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारण बन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते । तदोभयलक्षणं बन्ध रूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

रस्सी में सर्प के समान तत्त्व का अन्यथाग्रहण ही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं का स्वप्न है और तत्त्व का न जानना ही निद्रा है, जो तीनों अवस्थाओं में समान है

इस प्रकार स्वप्न और निद्रा में समान होने के कारण विश्व एवं तैजस की एक राशि है। उनमें अन्यथाग्रहण की प्रधानता होने के कारण निद्रा गौण है। अतः उन अवस्थाओं में स्वप्नरूप विपरीत ज्ञान रहता है; किन्तु तृतीयावस्था (सुषुप्ति) में केवल तत्त्व की अग्रहणरूप निद्रा ही विपर्यास है।

अतः उन कार्यकारणरूप स्थानों के अन्यथाग्रहण और तत्त्व के अग्रहणरूप विपर्यासों का परमार्थ तत्त्व के बोध से क्षय हो जाने पर तुरीय पद की प्राप्ति होती है। तब उन अवस्थाओं में दोनों प्रकार का बन्धन न देखने से पुरुष तुरीय में निश्चित हो जाता है—यह तात्पर्य है ॥१५॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं गृहं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तः।

यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानः, तदैवं प्रतिबुध्यते—

कथम्? नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्; तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा ॥ १६ ॥

यह संसारी जीव तत्त्व के अज्ञानरूप बीजात्मिका तथा अन्यथाग्रहणरूप अनादि काल से प्रवृत्त मायारूप निद्रा के कारण स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में 'यह मेरे पिता, पुत्र, नाती, भूमि, खेत, घर तथा पशु हैं और मैं इनका स्वामी हूँ; इनके कारण मैं सुखी-दुःखी होता हूँ, क्षय या वृद्धि को प्राप्त होता हूँ,' इत्यादि प्रकार के स्वप्न देखता सो रहा है। जिस समय वेदान्त-तत्त्व के ज्ञाता किसी परम दयालु गुरु के द्वारा यह जगाया जाता है कि-'तू इस प्रकार कार्यकारणरूप नहीं है, तू तो वही परमात्मा है।' उस समय इसे बोध प्राप्त होता है।

किस प्रकार का बोध होता है, यह बतलाते हैं। इस आत्मा में बाहर भीतर का भेद नहीं है। जन्मादि विकार नहीं हैं। इसलिये यह अजन्मा अर्थात् सम्पूर्ण भाव विकारों से रहित है। क्योंकि इसमें जन्मादि की कारणभूत तथा अविद्यारूप अन्धकार की बीज-भूता अविद्या नहीं है, इसलिये यह अनिद्र है। यह तुरीय तत्त्व अनिद्र है, इसलिये अस्वप्न भी है, क्योंकि अन्यथाग्रहण तो तत्त्व के अज्ञानरूप निद्रा के ही कारण हुआ करता है। इस प्रकार क्योंकि अनिद्र और अस्वप्न है इसलिये उस समय अजन्मा और अद्वैत तुरीय आत्मा का बोध होता है ॥१६॥

विश्व, तैजस, प्राज्ञ की यह चर्चा पहिले विस्तारपूर्वक हो चुकी है, अतः इस विषय पर अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। यह जीव अज्ञान-निद्रा में सो रहा है। यह नहीं जानता कि इसका गन्तव्य किधर है। जीव का पुरुषार्थ क्या है ? हिन्दी में पुरुषार्थ शब्द का अर्थ उद्योग-परिश्रम है, किन्तु संस्कृत में इसके लिये पुरुषकार शब्द है। पुरुष जो चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। हम सब प्राणिमात्र क्या चाहते हैं आनन्द। अतः आनन्द ही हमारा परम पुरुषार्थ है।

हम भोग क्यों चाहते है ? आनन्द के लिये। हम भोजन, स्त्री, धन आदि सुख पाने के लिये चाहते हैं। अतः काम पुरुषार्थ नहीं, पुरुषार्थ आनन्द है। इसी प्रकार हम धर्म क्यों करना चाहते है ? परलोक में सुख पाने के लिये। मोक्ष क्यों चाहते हैं ? नित्य सुख की प्राप्ति के लिये। अतएव धर्म और मोक्ष भी पुरुषार्थ नहीं, केवल आनन्द पुरुषार्थ है। हम कैसा आनन्द चाहते हैं ? ऐसा आनन्द जो सब कहीं मिले, सब समय मिले अर्थात् हम देश और काल से परिच्छिन्न आनन्द नहीं चाहते। इस प्रकार हम सब एक ही मार्ग के पथिक हैं। एक ही वस्तु चाहते हैं और वह देश-काल से अपरिच्छिन्न आनन्द तो परमात्मा ही है। हम सब परमात्मा को ही चाहते हैं। हम सबके सब स्वतन्त्र आनन्द चाहते हैं, ऐसा नहीं चाहते कि हमारा आनन्द दूसरे के हाथ में हो और पूर्ण आनन्द चाहते हैं। साथ ही हम ज्ञात आनन्द चाहते हैं। आनन्द हो और अज्ञात हो तो आनन्द कैसा ? अतएव हम ज्ञात आनन्द-ज्ञानरूप आनन्द चाहिये।

अब देखिये कि भगवान् की दृष्टि क्या है ? ईश्वर जानता है कि 'जीवमात्र, बड़े से बड़े नास्तिक से लेकर जिज्ञासु, योगी, भक्त, धर्मात्मा सब मुझे चाहते हैं। क्योंकि आनन्दरूप तो मैं ही हूँ। सब मुझे ही पाना चाहते हैं।' जो भोग चाहता है, वह भी ईश्वर को ही चाहता है और ईश्वर जानता है कि 'बेचारा जीव भटक गया है। वह चाहता मुझे है, किन्तु मेरा परिचय उसे नहीं।' ईश्वर की दृष्टि में भेद हो तो उसमें भी भक्त से राग और अभक्त से द्वेष हो जायगा। फिर राग-द्वेष जन्य सुख-दुःख भी उसमें होगा। लेकिन ईश्वर में न राग-द्वेष है, न सुख-दुःख। उसकी दृष्टि में भेद नहीं है और दृष्टि उसी की सत्य है। अतः लक्ष्य में हम सब एक हैं।

जब लक्ष्य एक है तो परस्पर द्वेष-वैमनस्य-कटुता क्यों ! लोग कहते हैं कि यह साधन में भेद होने से है; किन्तु साधन में भी भेद नहीं है, यह समझने की बात है। सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय, नास्तिक तक का साधन एक ही है। साधन है भोग में संयम, क्रिया में संयम और इच्छा में संयम और यह सब को अभीष्ट है। कौन मूर्ख कहेगा कि इतना भोजन करो कि बीमार हो जाओ। भोग में नियन्त्रण सभी चाहते हैं। कोई नहीं कहेगा कि इतना परिश्रम करो कि खाट पकड़ लो। क्रिया में संयम सब को अभीष्ट है और इच्छा पर नियन्त्रण भी सब चाहते हैं; क्योंकि कोई अनुमति नहीं देगा कि आप ऐसी इच्छा करें जो देश और समाज के लिये हानिकर हो।

हम इसे धर्म कहते हैं और अनीश्वरवादी इसे सामाजिक कर्तव्य कहते हैं; किन्तु बात एक ही कि इन्द्रियों का नियन्त्रण, क्रिया का नियन्त्रण और इच्छा का नियन्त्रण सब को करना ही चाहिये। भोग, अर्थ और क्रिया का नियन्त्रण धर्म, मन का नियन्त्रण योग, और राग के नियन्त्रण का नाम उपासना है। इन्हें कौन अस्वीकार कर सकता है ?

अब भेद यह है कि आनन्द की—सुख की प्राप्ति दो प्रकार से होती है। इच्छा की पूर्ति करके और इच्छा को मिटाकर। जैसे प्यास लगने पर जल पीकर जो तृप्ति हुई, वह अवस्था उसे पहिले से प्राप्त है, जिसे प्यास लगी ही नहीं। जिसे इच्छा की पूर्ति करके सुख मिलता है, वह तो संसार में फँसा है। क्योंकि जिसकी इच्छा की पूर्ति पदार्थों के मिलने न मिलने पर निर्भर है उसका आनन्द परतन्त्र है। किन्तु इच्छा की निवृत्ति में जिसे सुख होगा, वह सुखप्राप्ति में स्वतन्त्र होगा। वह बिना किसी के बन्धन में बँधे सुखी है। सुख इच्छा होने पर नहीं, इच्छा की शान्ति होने पर मिलता है। इच्छित वस्तु पाकर इच्छा की शान्ति होने से होने वाला सुख वस्तु-परतन्त्र है, अतः अनित्य है और इच्छा को निवृत्त कर देने से होने वाला सुख स्वतन्त्र है। यही सच्चा सुख है।

तात्पर्य यह है कि लक्ष्य सबका एक है और साधन में भी विरोध अविचार-जन्य है। विरोध तो महापुरुष केवल अधर्म का, अनाचार का, असंयम का करते हैं। हमें चाहिये आनन्द। अब देखो कि आनन्द है प्रेम में, और प्रेम कहाँ है ? सबसे अधिक प्रेम अपने आप में है अतः यह अपना आपा ही आनन्द-सुख है। यही देश, काल में अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, स्वतन्त्र, ज्ञानस्वरूप, तुरीयतत्त्व है। इसीको जानकर समस्त दुःखों की निवृत्ति होती है।

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमित्युच्यते—

यदि बोध प्रपञ्च की निवृत्ति से ही होता है तो जब तक प्रपञ्च की निवृत्ति न हो तब तक अद्वैत कैसा ! इस शंका का उत्तर देते कहते हैं—

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥१७॥

सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते । विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः । न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः । नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता । तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

यह शंका सच होती यदि प्रपञ्च विद्यमान होता; किन्तु वह तो रस्सी में कल्पित सर्प के समान होने के कारण विद्यमान ही नहीं है । यदि यह होता तो इसमें सन्देह नहीं कि निवृत्त भी हो जाता । रस्सी में भ्रमवश कल्पित सर्प विद्यमान रहते हुए विवेक से निवृत्त नहीं होता । जादूगर द्वारा फैलाई माया देखने वालों के दृष्टि-बन्धन के हटाये जाने पर पहिले विद्यमान रहती हुई निवृत्त नहीं होती । इसी प्रकार यह प्रपञ्चरूप द्वैत भी मायामात्र ही है । परमार्थतः तो रस्सी अथवा जादूगर के समान अद्वैत ही है । इसलिये तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त या निवृत्त होने वाला नहीं है ।

इस कारिका का ठीक तात्पर्य समझने के लिये पहिले शंका को ठीक समझ लेना चाहिये । शङ्का यह है कि दृश्य प्रपञ्च जब सत्य नहीं है तब दिखाई क्यों देता है ? जब तक यह संसार दिखाई देता है तब तक अद्वैत-ब्रह्मज्ञान हो गया, यह कैसे माना जा सकता है ? जिज्ञासु के मन में यह बात बैठी हुई है कि 'ब्रह्मज्ञान होने पर यह संसार दीखता नहीं । क्योंकि मुझे संसार दीख रहा है, अतः ज्ञान नहीं हुआ ।' इस प्रकार की धारणा से अपने में अज्ञानीपने का, हीनता का भाव तो रहता ही है, गुरु में भी श्रद्धा नहीं होती । वहाँ भी यह भाव होता है कि 'गुरुजी को भी संसार दीखता है । वे भी खाते-पीते, सोते-जागते तथा सब काम औरों के समान करते हैं, अतः उन्हें भी ज्ञान नहीं हुआ है ।' यह शंका का स्वरूप है । लेकिन जो अद्वैत तत्त्व के ज्ञान का यह स्वरूप मानेगा कि ज्ञान होने पर संसार दीखेगा ही नहीं, उसे तो कभी ज्ञान नहीं होगा और उसे गुरु भी नहीं मिलेंगे, क्योंकि वह ज्ञान का स्वरूप समझता नहीं है ।

जिसको जीवन में ही मोक्ष नहीं मिलता, उसे मरने पर भी नहीं मिलता, क्योंकि जीवन में जब बुद्धि, शास्त्र और समझाने वाले गुरु के होने पर जो समझ नहीं सका,

मरने पर उसमें समझ कहाँ से आवेगी ? और समझ-ज्ञान के बिना मोक्ष होता नहीं। इसलिये यह बात ठीक समझ लेना चाहिये कि यह संसार दीखते हुए ही हम नित्य-शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप हैं। ज्ञान का स्वरूप ऐसा समझोगे तब वेदान्त समझ में आवेगा।

अतः यह प्रश्न गूढ़ अभिप्राय से उठाया गया है कि ज्ञान होने पर संसार की प्रतीति मिट जानी चाहिये। इस प्रतीति मिटने में भी कई मत हैं। एक पक्ष कहता है कि 'ज्ञान होने पर संसार की प्रतीति होनी ही नहीं चाहिये।' दूसरा पक्ष कहता है कि 'प्रतीति तो हो, किन्तु अच्छाई की ही प्रतीति हो, बुराई की प्रतीति न हो। सुख की प्रतीति हो, दुःख की न हो। समत्व की प्रतीति हो, राग-द्वेष की न हो। समाधि की प्रतीति हो, विक्षेप की न हो।' इस प्रकार का भ्रम जिज्ञासु के मन में बैठा रहता है। इस भ्रम को दूर करने के लिये कारिका में समझाते हैं कि यदि प्रपञ्च सचमुच होता तो उसकी निवृत्ति भी होती, इसमें सन्देह नहीं।।

'प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः'।

लेकिन प्रपञ्च तो है ही नहीं। यह द्वैत तो मायामात्र है-'मायामात्रमिदं द्वैतं।' परमार्थतः तो अद्वैत है-'अद्वैतं परमार्थतः।'

यह प्रपञ्च मायामात्र है, मिथ्या की धारा है। इसे मिथ्या की धारा के रूप में प्रतीत होने दो और जो सत्य है-परमार्थ है, उसे सत्य के रूप में रहने दो। क्या ऋषभदेव को संसार नहीं दीखता था ? क्या जड़भरत को राजा रहूगण और शुकदेव को राजा परीक्षित नहीं दीखते थे ? न दीखते तो वे उपदेश किसे करते ? कहने का तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञान के पश्चात् प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती, यह धारणा सर्वथा भ्रम है।

हम लोग एक बार महर्षि रमण के आश्रम पर गये और उनसे कुछ प्रश्न किये। उन्होंने कृपा करके हमारे प्रश्नों के उत्तर बोल कर दिये। वैसे वे प्रायः प्रश्न के उत्तर में कोई पुस्तक पढ़ने को कह देते थे या मौन हो जाते थे।

प्रश्न-'प्रतीति किसे हो रही है ?'

उत्तर-'यह प्रश्न पूछने की इच्छा प्रतीति से भिन्न है या अभिन्न ?'

हमने स्वीकार कर लिया कि यह भी प्रतीति है और यह प्रतीति हमें हो रही है।

महर्षि-'यह पूछने की इच्छा तुम्हारी है और इस इच्छा की प्रतीति तुम्हें हो रही है।'

प्रश्न-'यह प्रतीति मिटे कैसे ?'

महर्षि- 'प्रतीति मिट जायगी तो उसके मिटने की प्रतीति होगी या नहीं और यदि उसके मिटने की भी प्रतीति न रहे तो वह ज्ञान होगा या अज्ञान ? कुछ ज्ञान ही न होना तो ज्ञान नहीं है अज्ञान है और अज्ञान किसी का इष्ट-किसी का पुरुषार्थ नहीं होता।

आकाश में जो नीलिमा दीखती है, इसे क्या मिटाया जा सकता है? यह नीलिमा कोई वस्तु होती तो कदाचित् कभी वैज्ञानिक किसी उपाय से इसे धो भी देते, किन्तु यह कोई वस्तु ही नहीं तो धोयी कैसे जाय। इसी प्रकार प्रपञ्च यदि कोई सत्य वस्तु होता तो उसकी निवृत्ति भी होती, किन्तु यह तो आकाश की नीलिमा के समान केवल प्रतीत होता है। बालक के मन में जो यह भ्रम है कि आकाश की नीलिमा कुछ है, वहाँ तक जायँगे तो कपड़े रंग जायँगे या वहाँ अन्धकार मिलेगा, अथवा आगे जाने में यह रुकावट होगी आदि, इस भ्रम को दूर कर देना है। भ्रम दूर होने पर भी नीलिमा तो दीखती ही रहेगी। इसी प्रकार यह प्रपञ्च सत्य है, इस भ्रम का निवारण ज्ञान है। ज्ञान हो जाने पर भी प्रपञ्च दीखता तो रहेगा ही।

'मायामात्रमिदं' यह द्वैत प्रपञ्च मायामात्र है। जादूगर जो खेल दिखलाता है, उसे जादू समझ लिया—छुट्टी। फिर उस खेल को देखने में पर्याप्त मनोरंजन है। यह खेल मिट जाय ऐसा आग्रह तो खेल को सत्य मानकर डरने वाले करते हैं अज्ञान के कारण यह आग्रह करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जिसको यह ज्ञान हो गया कि यह प्रपञ्च मायामात्र है, उसे तो संसार में सुख-दुःख नहीं होना चाहिये। ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के अन्तःकरण में इच्छा रहती है या नहीं?

लेकिन यह प्रश्न भी भ्रान्त ही है, क्योंकि जिसे यह बोध हो गया कि 'मैं देह नहीं हूँ, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ, मैं अहंकार नहीं हूँ।' उसका एक देह, एक अन्तःकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यदि एक अन्तःकरण में कोटि इच्छायें आती हैं तो इससे उसके स्वरूप में क्या बाधा पड़ती है?

ज्ञानी की जीभ को स्वाद का, कर्ण को शब्द के स्वर का, नासिका को सुगन्ध-दुर्गन्ध का, त्वचा को स्पर्श की कठोरता-कोमलता का, नेत्र को रूप का ज्ञान नहीं होगा तो वह रोग होगा या ज्ञान होगा? इसी प्रकार उसका मन ठीक काम न करेगा, इन्द्रियबोध ठीक ग्रहण न करेगा, तो वह पागल होगा या ज्ञानी होगा? ज्ञान केवल अज्ञान को संसार में जो भेद का, सत्यत्व का भ्रम है, उसे ही मिटाता है। वह देह में, इन्द्रियों में, अन्तःकरण की प्रवृत्ति में कोई विकृति—कोई रोग, कोई परिवर्तन नहीं करता।

ज्ञानी जैसे देह को मिथ्या समझ लेता है, वैसे ही अन्तःकरण को भी मिथ्या समझ लेता है। वह प्रपञ्च में, इन्द्रिय में या अन्तःकरण में अमुक परिवर्तन की इच्छा क्यों करे? क्योंकि वह तो अपने को इनसे परे देखता है। वह संसार को ही मायामात्र नहीं देखता, अपने शरीर को, अपने मन को, अपने अन्तःकरण को भी मायामात्र देखता है। जैसे मक्खी, मच्छर, पशु, पक्षी मनुष्यादि अन्य व्यक्ति हैं, वैसे ही उसकी देह की भी स्थिति है। संसार मिथ्या है; लेकिन अपना देह, अपना अन्तःकरण सच्चा है, अपने

शरीर को ऐसा वस्त्र, ऐसा भोजन ऐसा घर चाहिये। अपने अन्तःकरण की अमुक ही अवस्था चाहिये, इसका कुछ अर्थ ही नहीं है। इस प्रकार के मान में ज्ञान कहाँ है ? यहाँ तो भेद-बुद्धि बनी है। जब तक मेरा देह, मेरा अन्तःकरण और दूसरों का देह, दूसरों का अन्तःकरण का भेद बना है, ज्ञान है ही कहाँ ?

संसारी मनुष्य चाहता है कि मुझे धन मिले, सुख मिले, भोग मिले; दूसरों को मिले या न मिले। इसी प्रकार यह भी एक दृष्टि है कि मेरे अन्तःकरण में शान्ति रहे, एकाग्रता रहे, अमुक-अमुक अच्छाई रहे, औरों के अन्तःकरण में रहे या न रहे। यह बात साधक की तो ठीक है; किन्तु यह भी है भेद-बुद्धि से। ज्ञानी में यह भेदबुद्धि रहती नहीं।

धर्मात्मा रहते हम चाहते थे कि सब धर्मात्मा हो जायँ और हम भी धर्मात्मा रहें। साधक रहते हम चाहते थे कि सब साधक हो जायँ और हम भी साधक रहें; किन्तु ज्ञान होने पर यह द्वैत मायामात्र प्रतीत हुआ। द्वैत है ही नहीं, अतः दूसरे कैसे रहें, यह प्रश्न नहीं रहा। अब रहा अपना अन्तःकरण, तो उसे अपना समझने हो, यह भी अज्ञान है। इस अभ्यास को मिटना चाहिये कि अन्तःकरण अपना है। यह भी मायामात्र है।

तत्त्वदृष्टि यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि के सब जीव, अच्छे-बुरे सब 'मैं' हूँ। मैं ही कीट-पतंग, यक्ष-राक्षस, भूत-प्रेत, देव-गन्धर्व, ब्रह्मा विष्णु-महेश हूँ। अथवा मैं कुछ नहीं हूँ। इन दोनों को छोड़ अन्य तत्त्वदृष्टि हो नहीं सकती। इसलिये जो कोई भी एक अन्तःकरण को अमुक प्रकार का बनाना चाहता है, तब-तक वह धर्मात्मा, साधक, भक्त, योगी हो सकता है; किन्तु तत्त्वज्ञ नहीं है। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में सब अन्तःकरण उसी के हैं। अतः एक अन्तःकरण शुद्ध रहे या अशुद्ध, इसका आग्रह उसमें हो नहीं सकता।

'अद्वैतं परमार्थतः' परमार्थ सत्ता अद्वैत है। वहा भेद नहीं है। भेद तो व्यवहार में है और व्यवहार भेद-दृष्टि से ही सम्पन्न होता है। जिसका जो धर्म, जो सम्प्रदाय, जो वर्ण या आश्रम है, उसके अनुसार उसको व्यवहार करना है। इसीलिये शास्त्र की मान्यता है कि धर्म तर्कगम्य नहीं है, शास्त्रगम्य है।

परमार्थतः अद्वैत है। अतः तत्त्व के सम्बन्ध में देखो कि तुमने अन्तःकरण को छोड़ दिया या नहीं। अन्तःकरण का स्थान इस देह में है, अनन्त सत्ता में उसका कोई स्थान नहीं। देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न ब्रह्म में उसका कोई स्थान नहीं। अतः अन्तःकरण के प्रति कोई आग्रह वहाँ नहीं है। वहाँ तो एक अद्वितीय चिन्मात्र सत्ता है।

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवर्तत इत्युच्यते—

यदि पूछो कि शासक (गुरु) शास्त्र और शिष्य-इस प्रकारका विकल्प कैसे निवृत्त हो सकता है ? तो इसका उत्तर देते हैं—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥१८॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात् । यथायं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथायं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादुपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति । उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ॥ १८॥

यदि किसी ने इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता । जिस प्रकार यह प्रपञ्च माया और रज्जु-सर्प के समान है, उसी प्रकार यह शिष्यादि भेद-विकल्प भी आत्मज्ञान से पहिले उपदेश के लिये है । अतः शिष्य, शासक और शास्त्र, यह वाद उपदेश के ही लिये है । उपदेश के कार्यस्वरूप बोध हो जाने पर अर्थात् परमार्थतत्व का ज्ञान हो जाने पर द्वैत नहीं रहता ।

ये गुरु हैं, यह शिष्य है और यह शास्त्र है-यह कल्पना और व्यवहार में है और ज्ञान प्राप्ति के लिये है । परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर तो न शास्त्र है, न शिष्य है, न गुरु है । क्योंकि यदि गुरु, शास्त्र, शिष्य का भेद वहाँ रहे तो द्वैत की निवृत्ति नहीं हुई । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि गुरु और शास्त्र निष्प्रयोजन हो गये । सोचने की बात यह है कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान हो जाने पर गुरु, शास्त्र, शिष्य का भेद मिथ्या प्रतीत हुआ या उनके पूर्व ? संसार को मिथ्या समझने से पूर्व गुरु शास्त्र-शिष्य का भेद तो मिथ्या बन नहीं सकता और संसार को जब मिथ्या समझ लिया तब तो तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध हो गया । अब तुम्हें किसी मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं, तुम्हें किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं । अतः संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाने पर यदि गुरु शास्त्र-शिष्य का विकल्प मिथ्या हो जाता है तो कोई आपत्ति की बात नहीं है ।

हमारे विचार करने की दो पद्धति हैं । एक तो तत्त्व का ठीक ठीक निरूपण हो इसलिये विचार किया जाता है और दूसरे मनुष्य के व्यवहार की-चित्त की शुद्धि हो, इसलिये विचार किया जाता है ।

जहाँ तत्त्व का निरूपण करना है, वहाँ अधर्म के निषेध के साथ धर्म का भी निषेध आवश्यक होता है । वहाँ संसार के राग के साथ परलोक का भी राग मिटाना होता है । वहाँ मनुष्य के कर्म एवं भावना का कोई मूल्य नहीं होता । यदि किसी

मनुष्य के आचरण या भावना को आधार बनाकर तत्त्व का निरूपण करेंगे, तो निरूपण होगा ही नहीं। सर्वाधिष्ठान के निरूपण में व्यक्ति एवं उसके कर्म का कोई मूल्य नहीं। अतः वहां सब का निषेध करके वस्तुतत्त्व का निरूपण करना पड़ता है।

जहां मनुष्य के जीवन का विचार करना होता है, वहां देश, काल, सामाजिक परिस्थिति, व्यक्ति की शक्ति एवं मर्यादा के अनुसार व्यवहार का विचार किया जाता है। इसीलिये श्रीमद्भागवत में आया है—

'न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति।'

विद्वान् पुरुष तत्त्वविचार के साथ व्यावहारिक दृष्टि को नहीं रखते। मिट्टी से घड़ा, सकोरा, दीपक बना। व्यवहार में घड़े का काम घड़ा और सकोरे का काम सकोरा देगा, किन्तु वैज्ञानिक विश्लेषण में दोनों मिट्टी हैं। सोने के बने गणेशजी और उनके वाहन चूहे में आराधक के व्यवहार में भेद है, किन्तु सराफ की दूकान पर ले जाओ तो दोनों का मूल्य समान क्योंकि वहां तो आकृति का नहीं, सुवर्ण का मूल्य है।

अतः भेद व्यवहार में है, तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नहीं है। गुरु शास्त्र शिष्य का भेद तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नहीं रहता। लेकिन जीवन्मुक्त पुरुष जिस देश, काल, समाज में रहेगा, उसकी मर्यादा के अनुसार ही व्यवहार करेगा। यह तो है नहीं कि यह अभेद दृष्टि होने के कारण रोटी के स्थान पर पत्थर खायगा अथवा गर्मी में कम्बल ओढ़ेगा। व्यवहार तो उसका भी देश, काल, समाज की मर्यादा के अनुसार ही होगा। तत्त्वज्ञ पुरुष सन्यासी है तो सन्यासी के समान और गृहस्थ है तो गृहस्थ के समान व्यवहार करेगा। इस प्रकार जब वह व्यवहार में दूसरी मर्यादा रखेगा तब जिसके उपदेश से वह तत्त्वज्ञ हुआ, उसके प्रति कृतज्ञता का, सम्मान का व्यवहार क्यों नहीं करेगा?

तत्त्वज्ञान के अनन्तर जो व्यवहार है, उसमें देश, काल समाज की मर्यादा के अनुसार ही व्यवहार होता है, किन्तु होता है राग द्वेषरहित भाव से। क्योंकि राग द्वेष प्रपञ्च में सत्यत्व बुद्धि होने से ही होते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय से प्रपञ्च को सत्य मानने का भाव मिट चुका है, अतः उसके हृदय में व्यक्ति, वस्तु, धर्म, भाषा, जाति, देश आदि किसी को भी लेकर राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष किसी भी कारण चित्त में आवे, आवेगा अपने ही चित्त में। भले हम घोर पापी या देश के शत्रु के प्रति द्वेष करें, हमारे द्वेष मात्र से उसका कुछ बिगड़ता नहीं। द्वेष हमारे चित्त में आकर जलन्-पीड़ा हमें ही देता है। इसी प्रकार किसी के प्रति राग आवेगा तो उससे मोह बढ़ेगा, उसका पक्षपात होगा, अन्याय होगा उसके विरोधी के सम्बन्ध में कुछ भी करने या सोचने में। अतः किसी के प्रति भी राग द्वेष हृदय में नहीं आना चाहिये। यह राग-द्वेषरहित हृदय उसी का होता है जो संसार के मिथ्यात्व को ठीक-ठीक समझ लेता है। तत्त्वज्ञ पुरुष के चित्त में राग द्वेष नहीं होता। उसे जिह्वा का वेग, उपस्थ का वेग

अर्थात् कामका वेग क्रोध का वेग विचलित नहीं करता। वह सम्पूर्ण वेगों को सह लेता है। निन्दा उसके, हृदय पर आघात नहीं पहुँचा पाती। वर्णन तो यहाँ तक है कि—

प्रलयस्यापि हुङ्कारैश्चलाचलविचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥

महाप्रलय की गर्जना होते देखकर भी तत्त्वज्ञ का चित्त भीत-विचलित नहीं होता। बन्धन कब है? जब हमारा चित्त किन्हीं विशेष दृष्टियों को पकड़कर उनमें आसक्त हो गया हो। जब कोई आग्रह चित्त में उद्मूल हो। जीवन्मुक्त पुरुष के चित्त में कोई आग्रह नहीं होता। उसमें न देह की वासना है, न शास्त्र की वासना है। अतः देश, काल, समाज एवं परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करना उसके लिये सर्वथा सुगम है, क्योंकि एक मान्यता का आग्रह पकड़कर तो वह बैठा नहीं है।

अतः जब हम तत्त्व का विचार करते हैं तब कहते हैं कि गुरु शिष्य शास्त्र का निरूपण मिथ्या है। अधिष्ठान तत्त्व में-परमार्थ में कोई गुरु नहीं, कोई शिष्य नहीं, कोई शास्त्र नहीं। एक अद्वितीय चिन्मात्र वस्तु है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार में गुरु-शासन का निषेध हो गया। जहाँ तक व्यवहार है, मनुष्य शरीर है, हँसना, बोलना, खाना पीना, उठना-बैठना, सोना जागना आदि है, वहाँ व्यवहार में गुरु शासन की मर्यादा भी है।

'यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।'

जब तक जीवन है, अपना मस्तक गुरु के सम्मुख झुकाओ। तब तक विनय पूर्वक जीवन व्यतीत करो। तब तक शास्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करो।

परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो गयी तो गुरु को मिटा दिया जाय या नहीं? भाई! मिटाया उसे जा सकता है, जिसे बनाया गया हो। गुरु कोई बनाता नहीं, वे तो स्वतः बन जाते हैं। गुरु वह है जो तुम्हारे अज्ञानान्धकार को दूर कर दे। जैसे पिता कन्या का हाथ वर के हाथ में दे देता है, वैसे जो तुम्हें ईश्वर के हाथ में दे दे, वह गुरु है। जब तक ऐसे गुरु की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक गुरुपने का नेगचार हो रहा है।

जिसने तुम्हें मन्त्र दिया, वह उपासना गुरु है। जिसने तुम्हें साधन बताया, वह भी गुरु है। इन्हें गुरु मानो। इसका निषेध नहीं है। जिसने तुम्हें अक्षरज्ञान दिया-पढ़ाया वह भी गुरु है। ये सब गुरु सम्मान्य हैं। लेकिन ये व्यवहार के या साधन के-उपासना के गुरु हैं। वास्तविक गुरु वह है जो तुम्हारे अज्ञान को मिटा दे। जो तुम्हें परमात्मा की प्राप्ति करा दे।

तुम जिसे अपना इष्ट मानते हो, मानते रहो। गुरु का, मन्त्र का, इष्ट का हम निषेध नहीं करते। हम तो केवल यह कहते हैं कि चाहे वे जो तुमने पृथक् पृथक् विषय बना

रखे हैं, उन धागों को जो समेट दे वह गुरु। जो कह दे–तुम्हारी सब इच्छाओं का लक्ष्य यह है और इसका नाम ईश्वर है। तुम ईश्वर को ही विभिन्न नामों और विभिन्न विषयों के रूपों में चाहते हो। इस ईश्वर को पाने का उपाय है तुम्हारे प्रयत्नों को समेट कर एक दिशा में लगा देना। इस प्रकार गुरु ने तुम्हें इष्ट दिया और साधन दिया, किन्तु यह इष्ट तुम्हारा तुमसे भिन्न नहीं है। तुम इच्छायें करके जिसे पाना चाहते हो, उसे इच्छा करके नहीं पा सकते। इच्छाओं को शान्त कर दो। क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु इच्छा एवं प्रयत्न से मिलती है, किन्तु अपना आपा इच्छा की निवृत्ति से प्राप्त होता है। इस प्रकार जो आचार की रीति बतावे वह-धर्म गुरु, जो इष्ट एवं मन्त्र बतावे वह योग गुरु, किन्तु जो तुम्हारे अज्ञान को–तुम्हारे मनके समस्त संशयों को, सम्पूर्ण जिज्ञासाओं को दूर कर दे, वह वास्तविक गुरु है।

जब तक सब संशय, सब जिज्ञासा मिट न जायँ, पूछते चलो। एक दिन अवश्य तुम्हें सच्चे गुरु की प्राप्ति होगी जो तुम्हारा अज्ञान निवृत्त कर देगा। अज्ञान है, इस लिये पूछना है, इसलिये मार्ग जानना है, इसलिये मार्ग बतानेवाला चाहिये। जब अज्ञान दूर हो गया, तब तो तुम कृतकृत्य हो गये। तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप हो गये। अब न तुम्हें मार्ग चाहिये, न मार्ग बतानेवाला। अतएव जहां अज्ञान नहीं है, वहां गुरु शास्त्र की आवश्यकता भी नहीं है। किसी ने तुम पर गुरु या शास्त्र लादा नहा है। तुम्हारे अज्ञान ने गुरु शास्त्र की आवश्यकता उत्पन्न की है। जब अज्ञान मिट गया तो आवश्यकता मिट गयी। ज्ञानोत्तर काल में गुरु शास्त्र शिष्य का भेद नहीं है।

किसी वस्तु का या व्यक्ति का अपने पास से जाना दुःख नहीं है और अपने शरीर की स्थिति बदलना भी दुःख नहीं है। किसान खेत की मिट्टी में मना अन्न डाल देता है और व्यापारी व्यापार में रुपया लगा देता है अधिक पाने की आशा से। अपने पुत्र को लोग उत्साहपूर्वक पढ़ने, नौकरी करने या व्यापार करने भेजते हैं। लोग प्रसन्नतापूर्वक व्रत करते हैं, पंचाग्नि तापते हैं और फोड़ा होने पर आपरेशन कराते हैं। वस्तुत दुःख चित्त की वृत्ति का नाम है। संसार की किसी घटना में हम दुःख का आरोप कर लेते हैं या अपनी चित्तवृत्ति में दुःखाकारता का उदय कर लेते हैं। यह दुःखाकार वृत्ति सदा आभासरूप है और इसलिये मिथ्या है। सुखाकार वृत्ति साक्षीभास्य है, किन्तु दुःखाकार वृत्ति आभासरूप है। इस वृत्ति के अतिरिक्त दुःख कोई वस्तु नहीं है।

यदि ऐसा कोई उपाय कर दिया जाय कि 'मैं दुःखी हूँ,' यह वृत्ति उदय न हो तो संसार में दुःख नामक वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। मूर्च्छा में, नशे में, उपासना की तन्मयता में और समाधि में यह दुःखाकार वृत्ति नहीं रहती। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने पर 'मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति नहीं रहती, क्योंकि अखण्ड परिपूर्ण चिन्मात्र सत्ता में

दुःख सम्भव नहीं। 'मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति न अभ्यास से बनती है न प्रारब्ध से। प्रारब्ध से प्राणी या पदार्थ का संयोग-वियोग हो सकता है, 'मैं सुखी या दुःखी हूँ' यह वृत्ति नहीं बनती। 'मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति अज्ञानजन्य है। अतएव इस अज्ञान को मिटाये बिना दुःख दूर नहीं होगा। अज्ञान को मिटाने के लिये गुरु और शास्त्र की आवश्यकता है।

'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।' जहाँ तत्त्वज्ञान हो गया वहाँ तो द्वैत रह ही नहीं जाता।

यहाँ तक कि जितनी कारिकायें आयी हैं उन्हें श्रीरामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य आदि वैष्णवाचार्यों ने भी श्रुतिरूप माना है।

उपनिषद् के आठवें मन्त्र से अब दूसरा प्रसंग प्रारम्भ होता है। जो लोग अद्वितीय तत्त्व को समझने में असमर्थ हैं, वे क्या करें?

जो बुद्धिमान नहीं, जिनमें उत्तम प्रतिभा नहीं, जो अज्ञ हैं, उन्हें श्रद्धा करनी चाहिये। जो स्वयं तो समझता नहीं और दूसरे पर भी श्रद्धा नहीं करता, अपनी बुद्धि भी संशयग्रस्त और दूसरे की बुद्धि पर भी संशय, वह तो संशयात्मा हो गया और भगवान् गीता में कहते हैं—

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।'

संशयात्मा के लिये विनाश के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। मार्ग तो दो ही हैं—समझो या मानो। विचार करो या विश्वास करो। अब जो विचार करने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिये प्रणव के द्वारा तत्त्वज्ञान समझाते हैं।

उपनिषद् का प्रारम्भ ओंकार से हुआ था। अब उसी ओंकार को आधार बनाकर विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि को समझाते हैं। यह प्रणव ज्ञान का आलम्बन है—आधार है। इसके आधार से चलकर सत्य का ज्ञान पाया जा सकता है।

शाङ्कर-भाष्य पर टीका टिप्पणी लिखने वाले श्रीआनन्दविज्ञानाचार्य जी ने लिखा है कि-'जो तत्त्वज्ञान में समर्थ मध्यम एवं उत्तम अधिकारी हैं, उनके लिये तो अध्यारोप एवं अपवाद की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में उनके लिये उपदेश हो गया। अब जो लोग तत्त्वग्रहण में समर्थ नहीं हैं, उनके लिये केवल अध्यारोप को ही स्वीकार करके ध्यान का विधान करने के लिये साधन की चर्चा की जाती है।'

अब तक के प्रसंग से इस आठवें मन्त्र का क्या सम्बन्ध है, यह जान लेना चाहिये। इसके लिये पहिले एक बार पूरे प्रसङ्ग पर दृष्टिपात कर लें।

मेरे पास एक सज्जन आये और पूछा-' महाराज! मुझे क्या-क्या भोजन करना चाहिये?'

मैंने कहा-' भाई, यह बात आप अपने पुरोहित से तथा चिकित्सक से पूछें। मैं तो आपको आपका स्वरूप समझा सकता हूँ।'

यह वेदान्तशास्त्र आपको आपका स्वरूप समझाता है। यह कोई नवीन विधान नहीं करता। यह कोई नवीन साधन नहीं बतलाता। यह वेदान्त न आचारशास्त्र है, न साधन-शास्त्र। यह तो तत्त्व का प्रतिपादन है। तुम जैसे हो उसे ठीक समझ लो, बस।

वेदान्त यह समझाता है कि तुम सुख चाहते हो। तुम जो पदार्थ और परिस्थिति के पीछे पड़े हो, यह भ्रमवश पड़े हो। तुम तो अविनाशी, परिपूर्ण, देश-काल से अपरिच्छिन्न नित्य सुख चाहते हो। लेकिन यह सुख विनाशी वस्तुओं से तुम चाहते हो यह भूल है। अब वेदान्त यह भी नहीं कहता कि तुम वैराग्य करो। वेदान्त कहता है कि वैराग्य तुम्हारे भीतर है, तुम उसे समझ लो। तुम्हारे राग के पदार्थ चले जाते हैं और तुम बने रहते हो, अतः वैराग्य तो तुम्हारा स्वरूप है। अपनी इस असंगता को समझ लो।

अब कहो कि यह बात समझ में नहीं आती, तो उसके समझने का भी सुगम साधन है। पहिले अपने को देह मत समझो. अपने को विश्व समझो-अपने को सम्पूर्ण विश्व समझो और अपने को एक अन्तःकरण का अभिमानी मत समझो-अपने को समष्टि अन्तःकरण का अभिमानी समझो और तब अन्तःकरण जिस सुषुप्ति में लीन हो जाता है, वह प्राज्ञ-ईश्वर समझो अपने को।

यह विश्व, तैजस, प्राज्ञ परस्पर बाधित हो जाते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एक दूसरे से बाधित हो जाती हैं। अतः तुम तीनों से विलक्षण नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप हो, यही बात सातवें मन्त्र तक समझायी गयी।

यह बात अब भी समझ में नहीं आयी, ऐसा कहनेवाले लोग तो हैं ही। अतः उन लोगों के लिये अब आलम्बन देते हैं। यह ओंकार का आलम्बन है।

❀ आठवाँ मन्त्र ❀

आत्मा और उसके पादों के साथ ओङ्कार और उसकी मात्राओं का तादात्म्य

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः—

अबतक जिस ओङ्काररूप चतुष्पाद आत्माका अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रधानतासे वर्णन किया है—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह, ओङ्कारः। सोऽयमोङ्कार पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् । कथम् ? आत्मनो ये पादास्त ओङ्कारस्य मात्राः । कास्ताः ? अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

यह यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है; वह मात्राओं को विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं, वे मात्रा हैं अकार, उकार और मकार।

उपनिषद् के प्रारम्भ में कह आये हैं कि ओंकार ही ब्रह्म है। इस ओंकार में चार भाग हैं—अकार, उकार, मकार तथा अमात्र। अकार विश्व, उकार तैजस, मकार प्राज्ञ एवं अमात्र तुरीय का स्वरूप है। जैसे गणित में अ, ब, स मान लेते हैं, वैसे ही बुद्धि में तत्त्व को आरूढ करने के लिये ओंकार में विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय अकार, उकार, मकार तथा अमात्र के क्रम से मान लो।

संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उनका स्मरण करने के लिये हमने उनका एक नाम कल्पित कर रखा है। बिना नाम के किसी वस्तु का स्मरण नहीं होता। इसी प्रकार विश्व के स्मरण के लिये 'अ', तैजस के स्मरण के लिये 'उ' तथा प्राज्ञ के स्मरण के लिए 'म' ये नाम बनाये। ये तीनों मायामात्र हैं और चौथा तुरीय निर्माया है, 'अमात्र' है। जैसे तुरीय तत्त्व मायारहित है, वैसे ही यहाँ चौथा अमात्र है।

समस्त मन्त्र वेदमूलक हैं और वेदमाता है गायत्री। जो वेदों में है, वह गायत्री में है। जो गायत्री में है, वह प्रणव में है। इस प्रकार संसार के सब मन्त्र और उनके द्वारा प्रतिपादित सब अर्थ प्रणव में आ जाता है।

यह प्रणव कोई बाहर से आई वस्तु नहीं है। समस्त आकृतियां ओंकार से ही बनी हैं। तुम अपने शरीर में देखो, दोनों भौंहे और नासिका को मिलाकर अकार बन जाता है। भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक 'उ' की मात्रा, ब्रह्मरन्ध्र विन्दु और अमात्र तो परिपूर्ण है। इसमें यदि स्पष्टता न दीखे तो दोनों हाथ और वक्ष मिलकर अकार, कण्ठ उकार की मात्रा, सिर विन्दु, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार दोनों पैर और कटि से ऊपर का भाग मिलकर भी ओंकार की आकृति बन जाती है।

यह ध्यान करने के लिये प्रणव के रूप की कल्पना है। ध्यान का फल उपलब्धि है, उपलब्धि का फल ध्यान नहीं है। यदि हम किसी वस्तु को जान लें तो उसका ध्यान करना आवश्यक नहीं रह जाता।

ध्यान का फल—क्रिया का फल ज्ञान होता है। जहाँ ज्ञान का विषय अन्य होता है, वहाँ ज्ञान का फल क्रिया होती है, किन्तु जहाँ ज्ञान का विषय अपना स्वरूप होगा, वहाँ ज्ञान का फल क्रिया या उपासना नहीं होगी। वहाँ ज्ञान स्वयं फलरूप होगा। दूसरे के विषय में जो ज्ञान होगा वह क्रिया, उपासना, अभ्यास का प्रेरक या उस ओर से निवृत्त करने वाला होगा। हम जिस अन्य को जानेंगे, वह श्रेष्ठ हुआ तो उसे पाना चाहेंगे, निकृष्ट हुआ तो छोड़ना चाहेंगे, किन्तु अपने विषय का ज्ञान प्रवर्तक या निवर्तक नहीं होता। अपने को पाना या छोड़ना बनता नहीं।

जिन लोगों ने परमात्मा को अन्य के रूप में जाना उनके ज्ञान का फल उपासना हुई, किन्तु जिन्होंने परमात्मा को स्वरूप से जाना, उनके ज्ञान का फल उपासना नहीं है। यदि उनके जीवन में पहिले उपासना रही है तो बाधितानुवृत्ति से चलती रह सकती है, किन्तु वह ज्ञान का फल नहीं है।

ओंकार का जप करते हुये उसमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ का ध्यान करना है इस अद्वय-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिये। अकार के उच्चारण के साथ विश्व को छोड़ कर तैजस से एक हो जाओ। मकार के उच्चारण के साथ तैजस को छोड़कर प्राज्ञ से एक हो जाओ और मकार के अनुस्वार की ध्वनि समाप्त होने पर अमात्र में तुरीय में स्थित होकर प्राज्ञ को भी छोड़ दो। इस प्रकार ओंकार के द्वारा ध्यान करो और विचार करो। यह 'त्वं' पद के चिन्तन-अनुसन्धान की रीति है।

यदि यह रीति भी सुगम न पड़े तो ओंकार के द्वारा ईश्वर का विचार करो। अकार विश्वात्मा विराट्, उकार तैजस—हिरण्यगर्भ, मकार प्राज्ञ—ईश्वर और तुरीय अमात्र शुद्ध ब्रह्म, इस प्रकार 'तत्' पदार्थ का चिन्तन करो। 'तत्' पद के चिन्तन के

पश्चात् 'त्वं' पद का चिन्तन करो और तब "तत्त्वमसि' महावाक्य के द्वारा दोनों की एकता समझ लो।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्रणव का उच्चारण कौन करे, कौन न करे? शास्त्रार्थ के विवाद में न जाकर हम यहाँ सीधी बात बता देते हैं कि वेद के मन्त्रों की एक आनुपूर्वी होती है। अमुक स्वर में, अमुक ढंग से बोलने पर उनमें वेदत्व रहता है और उससे भिन्न ढंग से बोलने पर नहीं रहता। जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्' वेदमन्त्र है; किन्तु 'वह्निमीळे पुरोहितम्' कह दें तो यह वेदमन्त्र नहीं रहेगा। इसी प्रकार प्रणव के भी वैदिक और लौकिक दो रूप हैं। किसी के नाम के साथ जो प्रणव लगा है जैसे ओंकारनाथ, यह लौकिक प्रणव है। 'ओ' के ऊपर अनुस्वार लगाकर बोलना लौकिक प्रणव है। संस्कृत में 'हाँ' के अर्थ में 'ओम्' है और 'ओम्' अव्यय है, यह सब लौकिक प्रणव है। इसी प्रकार गीता में, पुराणों में, जहाँ प्रणव आया है, वह भी लौकिक प्रणव है। वेद में प्रणव के उच्चारण की जो रीति बताई है, उस उदात्त रीति से 'ओ३म्' का जब तक उच्चारण नहीं होगा, तब तक उसमें वैदिकता नहीं आवेगी। लौकिक रूप में प्रणव का उच्चारण करने के सभी अधिकारी हैं।

श्रीमद्भागवत में प्रणव के उच्चारण की रीति बताई गई है—'दीर्घघण्टा निनादवत्' घंटे पर चोट मारकर छोड़ दें तो जैसे देर तक लम्बी ध्वनि निकलती रहती है, वैसे एक पूरे श्वास में एक बार प्रणव का उच्चारण होता है।

प्रणव का जप कब करना चाहिये? यह भी एक प्रश्न है। सामान्यतः तो मन्त्र का जप स्नान करके ही करना चाहिये, किन्तु जो एक मन्त्र की धारणा है उसे सब समय करना चाहिये। क्योंकि मृत्यु का तो कोई समय नहीं है। अतः जब भी जहाँ भी मृत्यु आवे जप होता रहे। उस समय यही बात मुख्य है।

इस प्रकार प्रणव के रहस्य को समझ कर प्रणव का जो जप करता है, वह प्रणव के उच्चारण के साथ विश्व, तैजस, प्राज्ञ से ऊपर उठकर अमात्र तुरीय में स्थिर हो जाता है।

किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में जब व्यवहार करना होता है तो शब्द की आवश्यकता पड़ती है। बिना शब्द के, बिना नामके परस्पर व्यवहार नहीं हो सकता, अतः वेदान्त में व्यवहार के सम्बन्ध में परिभाषा दी है—

'व्यवहारः शब्दोच्चारण स्फुरणरूपो वा।'

हम जो शब्दोच्चारण करते हैं, उसी का नाम व्यवहार है अथवा हृदय में जो स्फुरणा होती है, उसका नाम व्यवहार है। बिना शब्द के स्फुरणा-विचार भी नहीं होते।

जहाँ कोई कार्य होगा, वहाँ स्पन्दन-गति अवश्य होगी और जहाँ स्पन्दन होगा, वहाँ शब्द अवश्य होगा। अतः प्रत्येक शारीरिक एवं मानसिक व्यवहार से शब्द होता है।

अतः जब सृष्टि हुई, अर्थात् प्रकृति में जब क्षोभ हुआ, तब शब्द भी हुआ। उस शब्द में तीन भाग अवश्य होने चाहिये-क्योंकि हमें सृष्टि में सर्वत्र तीन बात-त्रिगुणात्मिकता प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। प्रकृति में तीन अवस्थाएं मूढ, घोर और शान्त स्पष्ट हैं। शरीर मूढ है, मन-प्राणादि घोर हैं, चित्त में शान्तावस्था देखने में आती है। मूढ के कारण-रूप से तमोगुण, घोर के कारणरूप से रजोगुण और शान्त के कारणरूप से सत्व गुण का अनुमान होता है।

अपने जीवन में हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं प्रत्यक्ष दीखती हैं। जाग्रत् का अभिमानी विश्व, स्वप्न का अभिमानी तैजस, सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ हमारा अनुभव किया हुआ है। इस प्रकार तीन गुण, तीन अवस्थाएं, उनके तीन अभिमानी और समष्टि में विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेश यह तीन-तीन हैं। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी है। तो इन सब त्रैतों के मूल में शब्द भी तीन प्रकार के होने चाहिये और वे तीनों प्रकार के होने चाहिये और वे तीनों शब्द मिलकर एकरूप भी होना चाहिये; क्योंकि सभी त्रिपुटी एकरूप होती हैं। अतः पृथक् रूप में वह शब्द अकार, उकार, मकार हैं और एक रूप में वही 'ओ३म्' है।

इसमें अकार स्थूलसृष्टि विराट का, उकार सूक्ष्मसमष्टि हिरण्यगर्भ का और मकार कारणावस्था प्राज्ञ का वाचक है। सृष्टि की ये तीन अवस्थाएं हैं और तीनों में एक ही प्रणव तीन प्रकार से गृहीत होता है। निर्गुण, निराकार, निर्धर्मक, अक्षरातीत जो है, वह अमात्र है। यह 'ओ३म्' पद का लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं है।

'ओ३म्' में अकार का वाच्यार्थ विराट्, उकार का वाच्यार्थ हिरण्यगर्भ, मकार का वाच्यार्थ ईश्वर और तीनों के सम्मिलित रूप पूरे 'ओ३म' का वाच्यार्थ सगुण ब्रह्म है। इनका लक्ष्यार्थ निर्गुण-ब्रह्म है। लक्ष्यार्थ निकालने की आवश्यकता तब पड़ती है, जब महावाक्य के 'असि' पद का तात्पर्य निश्चय करना होता है।

अब प्रणव के अक्षरों का विशेष रूप से वर्णन करते हुए उनके उच्चारण के महत्त्व को बतलाते हैं।

—: नवाँ मन्त्र :—

अकार और विश्व का तादात्म्य

तत्र विशेषनियमः क्रियते—अब उनमें विशेष नियम करते हैं—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओङ्कारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० आ० २। ३। ६) इति श्रुतेः। तथा वैश्वानरेण जगत् "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" (छा० उ० ५। १८। २) इत्यादि श्रुतेः।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम। आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवादिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य। तदेकत्वविदः फलमाह-आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद, यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥ ९ ॥

जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्व के कारण प्रणव की प्रथम मात्रा अकार है। जो इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और आदि-प्रधान होता है।

जो जागरित स्थान वाला वैश्वानर है, वही ओंकार की पहिली मात्रा अकार है। किस समानता के कारण पहिली मात्रा है? इस पर कहते हैं आप्ति के कारण। आप्ति का अर्थ व्याप्ति। 'निश्चय ही अकार सम्पूर्ण वाणी है' इस श्रुति के अनुसार अकार से समस्त वाणी व्याप्त है। तथा इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है, इस श्रुति के अनुसार वैश्वानर से सारा जगत् व्याप्त है।

अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) की एकता तो हम कह ही चुके हैं। जिसमें आदि (प्रथमता) हो उसे आदिमत् कहते हैं। जिस प्रकार अकार अक्षर आदिमान है, वैसे ही वैश्वानर भी है। इसी समानता के कारण वैश्वानर की अकाररूपता

है। इसकी एकता को जानने वाले के लिये फल बतलाया जाता है—'जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् उपरोक्त एकत्व को जाननेवाला है, वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषों में आदि-प्रथम होता है।'

उपनिषद् के तीसरे मन्त्र में यह निरूपण हो चुका है कि जाग्रत् अवस्था का जो अभिमानी है, वह वैश्वानर है। उसके सात अंग हैं, उन्नीस मुख हैं और वह स्थूल भोगों का भोक्ता है। वह वैश्वानर प्रणव की प्रथम मात्रा अकार है।

'प्रथममात्राप्तेरादिमत्त्वात्' इसमें 'आप्ति' का अर्थ व्याप्ति है अर्थात् अकार जो प्रणव की प्रथममात्रा है, वह सम्पूर्ण वर्णमाला में व्याप्त है। 'अकारो वै सर्वावाक्' सपूर्ण वाणी अकार ही है। प्रयत्न भेद से 'अ' ही नाना वर्णों के रूप में उच्चरित होता है। जैसे अकार व्याप्त है वैसे ही विश्व भी व्याप्त है। अकार के बिना जैसे वाणी नहीं है, वैसे ही विश्व के बिना सृष्टि नहीं है। जब विचार प्रारम्भ करते हैं तब प्रथम विश्व का विचार करते हैं। अतः प्रथम होने के कारण और व्याप्त होने के कारण अकार वैश्वानर का वाचक है।

अकार और विश्व का विचार क्या किया जाय? इससे लाभ क्या? इसका उत्तर देते हैं कि यह विचार करने से सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा सृष्टि हो जायगा। समस्त जगत् तुम्हारा घर-तुम्हारा देह बन जायगा।

अभी तुम अपने को एक देह मानते हो, इसलिये राग-द्वेष, लोभ-मोह, काम क्रोधादि समस्त बुराइयाँ हैं और इसलिये दुःख होता है। जब तुम सपूर्ण विश्व के अभिमानी विराट् रूप में अपने को देखोगे तो 'सर्वान् कामानाप्नोति आदिश्च भवति' सब कामनायें स्वतः पूर्ण हो जायेंगी। सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा शरीर है तो तुम्हारे लिये अप्राप्त क्या रहा?

कोई भी धर्म, कोई भी दर्शन देह को आत्मा नहीं मानता। लेकिन सब दुःख, सब दोष देह को ही 'मैं' मान लेने से उत्पन्न हुए हैं। अतः देह को छोड़ कर जब विराट् को तुम अपना स्वरूप समझ लोगे तो तुम्हारा असन्ताप दूर हो जायगा।

'आदिश्च भवति' केवल असन्तोष ही नहीं मिटेगा, केवल सकल्प-विकल्प ही शान्त नहीं होंगे, अपने को विराट्-वैश्वानर देखने वाला महापुरुषों में सर्वश्रेष्ठ माना जायगा। क्योंकि जब हम धर्म का विचार करते हैं तो 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिससे सबके अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। सृष्टि का विचार करते हैं तो सम्पूर्ण सृष्टि का विचार करते हैं, देशविशेष का नहीं। इसी प्रकार महापुरुष का विचार करेंगे तो जो विश्वात्मा बन चुका, उसकी गणना हमें प्रथम करनी होगी।

❋ दसवाँ मन्त्र ❋

उकार और तैजस का तादात्म्य

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओङ्कारस्योकारो द्वितीया मात्रा। येन सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात्। अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वा-कारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्व-सामान्यात्।

विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम् विज्ञानसन्ततिं वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

जिसका स्थान स्वप्न है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व के कारण ही द्वितीय मात्रा उकार है। जो ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञानसन्तान का उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञानरहित पुरुष नहीं होता।

जो स्वप्नस्थान वाला तैजस है, वह ओंकार की दूसरी मात्रा उकार है। किस समानता के कारण दूसरी मात्रा है? इसपर कहते हैं उत्कर्ष के कारण। जिस प्रकार अकार से उकार उत्कृष्ट है, उसी प्रकार विश्व से तैजस उत्कृष्ट है। अथवा मध्यवर्तित्व के कारण जिस प्रकार उकार अकार और मकार के मध्य में स्थित है, उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञ के मध्य में तैजस है। अतः उभयपरत्वरूप समानता के कारण भी उनमें अभिन्नता है।

अब इस प्रकार जानने वाले को जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह ज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञानसन्तान का उत्कर्ष-वृद्धि करता है। सबके प्रति समान-तुल्य होता है अर्थात् मित्रपक्ष के समान शत्रुपक्ष का भी अद्वेष्य होता है उसके कुल में कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता।

यहाँ एक व्यक्ति के लिये नहीं, एक पूरे कुल के लिये—सन्तानपरम्परा के लिये उपाय बतला रहे हैं।

उपनिषद् के चतुर्थ मन्त्र में यह बता आये हैं कि स्वप्नावस्था का अभिमानी जो तैजस है, वह अन्तःप्रज्ञ है, सात अंग और उन्नीस मुखवाला तथा सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है। यह तैजस ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार का वाच्यार्थ है। अब वैश्वानर-विराट् को छोड़ दो और देखो कि मैं सूक्ष्म समष्टि का अभिमानी हूँ। एक अन्तःकरण में जो काम, क्रोध, लोभादि हैं, उनको ज्ञानाग्नि में हवन कर दो। अविद्याको हवन कर दो।

भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है कि मनुष्य शान्त भाव से बैठ जाय और अपनी नाभि के पास एक त्रिकोण ज्योतिर्मय कुंड की मन में धारणा करके उसमें हवन करे। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की अट्ठाईस आहुतियाँ देने का विधान भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है। इसे प्रतिदिन करके देखो, अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। तात्पर्य यह है कि स्थूल को सूक्ष्म में हवन कर दो।

यह सूक्ष्म समष्टि तैजस उकार है। यह स्थूल सृष्टि से श्रेष्ठ है। क्योंकि पहिले मन में इच्छा होती है, तब क्रिया बनती है। क्रिया के मूल में संकल्प है और संकल्प के मूल में बुद्धि है। अतः बुद्धि को शुद्ध करना है। बुद्धि के शुद्ध होने से इच्छा शुद्ध होगी और इच्छा शुद्ध होने से क्रिया शुद्ध होगी। क्रिया को रोकने से क्रिया की शुद्धि नहीं होती। जैसे घूमते पंखे को पकड़कर रोकने से वह तभी तक रुका रहेगा, जब तक पकड़े रहोगे। उसे रोकने के लिये बिजली का स्विच बन्द करना चाहिये। इसी प्रकार कानून या समाज के दबाव से रोकने पर चोरी आदि निन्दित कर्म रुकते नहीं, छिपकर होते हैं। शरीर से न हों तो मन में रहते हैं। उनको रोकने का ठीक उपाय बुद्धि की शुद्धि है।

'उत्कर्षं उभयत्वात्' सूक्ष्म कार्य और कारण दोनों से सम्बन्ध जोड़ने वाला है। जाग्रत् और सुषुप्ति दोनों का सम्बन्ध स्वप्न जोड़ता है। इसी प्रकार अकार और मकार का सम्बन्ध उकार जोड़ता है। अतः उकार का अर्थ है *हिरण्यगर्भ–तैजस-सूक्ष्म समष्टि* का अभिमानी। इसके ज्ञान से उत्कर्ष होगा। बुद्धि शुद्ध हो जायगी। साथ ही ज्ञान-सन्तति की प्राप्ति होगी और समता आवेगी। सूक्ष्म समष्टि के अभिमानी से एकत्व होने पर स्थूल में राग-द्वेष मिट जायगा। इससे हिंसा की निवृत्ति हो जायगी और समता आ जायगी और आगे तुम्हारी सन्तानपरम्परा ब्रह्मज्ञानी होगी।

जिसके चित्त में क्रोध आता है, काम आता है उसके शरीर पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। उसके वीर्य पर भी प्रभाव पड़ता है और उसका प्रभाव सन्तान पर भी पड़ता है। यह बात आज मनोवैज्ञानिक निर्विवाद मानते हैं कि कुल के संस्कार की परम्परा चलती है। अतः जिसके चित्त में ज्ञान है, राग-द्वेष नहीं है, उसकी सन्तति पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा, यह कोई असंगत बात नहीं है।

इसलिये यह ज्ञान अत्युत्तम है। इससे व्यक्ति उत्कृष्ट हो जाता है, ज्ञानपरम्परा की रक्षा करता है, समता आती है और उसकी सन्ततिपरम्परा ब्रह्मवेत्ता हो जाती है।

* ग्यारहवाँ मन्त्र *

मकार और प्राज्ञ का तादात्म्य

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ माप और लय के कारण ओंकार की तृतीय मात्रा मकार है। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण जगत् का मान-प्रमाण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओंकारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र; मितेर्मितिर्मानं मीयते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। यथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे।

अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओंकारोच्चारणे ह्यन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः।

विद्वत्फलमाह; मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम् ॥ ११ ॥

सुषुप्तिस्थान वाला जो प्राज्ञ है, वह ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। किस समानता के कारण ? यह बतलाते हैं-यहाँ इनमें यह समानता है-ये मिति के कारण समान हैं। मिति मान को कहते हैं। जिस प्रकार प्रस्थ से गेहूँ, जव आदि मापते हैं, उसी प्रकार प्रलय-उत्पत्ति के समय मानो प्रवेश एवं निर्गमन के द्वारा प्राज्ञ में विश्व और तैजस मापे जाते हैं। ओंकार की समाप्ति एवं उसके पुनः प्रयोग पर इसी प्रकार अकार और उकार मकार में प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।

अथवा अपीति के कारण उनमें एकता है। अपीति एकीभाव को कहते हैं। ओंकार का उच्चारण करनेपर अकार और उकार अन्तिम अक्षर में एकीभूत हो जाते हैं,

इसी प्रकार सुषुप्ति के समय विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं। अतः इस समानता के कारण भी प्राज्ञ और मकार की एकता है।

अब इस प्रकार जाननेवाले को जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं। जो ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है। अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तथा जगत् का कारण स्वरूप हो जाता है। यहाँ जो अवान्तर फल बतलाये गये हैं, ये प्रधान साधन की स्तुति के लिये हैं।

ओंकार की तृतीय मात्रा मकार अर्थात् अनुस्वार प्राज्ञ का वाचक है। प्राज्ञ का वर्णन करते हुए उपनिषद् के छठवें मन्त्र में कहा गया है कि यह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थों की उत्पत्ति और लय का स्थान है। इस प्राज्ञ का वाचक मकार है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि नाम और वस्तु का भेद व्यवहार में होता है, परमार्थ में नहीं। पुष्प पदार्थ और पुष्प नाम, यह भेद व्यवहार में है, किन्तु सुषुप्ति या समाधि में शब्द, ज्ञान तथा वस्तु ये तीनों पृथक् नहीं रहते, एक हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन की चंचलता ही भेद-ज्ञान में प्रमाण है और मन की अचलता में भेद-ज्ञान नहीं रहता। अतः परमार्थ में नाम और नामी का भेद न होने से वाच्य प्राज्ञ और वाचक मकार एकरूप ही हैं।

सुषुप्ति हमारे जीवन का सत्य है। जीवन के सत्यों पर तुमने जगत् को लेकर ही विचार किया है, किन्तु सुषुप्ति को लेकर जीवन के सत्यों पर विचार नहीं किया है। सुषुप्ति को लेकर विचार करो। वहाँ प्रज्ञा का घनीभाव रहता है। इसी वस्तु को समझने के लिये मकार है।

यह प्राज्ञ-सुषुप्ति अवस्था जाग्रत् और स्वप्न के समस्त पदार्थों को तौल देती है—सबका निश्चित मूल्याङ्कन कर देती है। उसीसे ये सब उत्पन्न होते हैं और उसमें ही लय हो जाते हैं। 'अपीतिश्च भवति' उसमें सबका पार्थक्य समाप्त हो जाता है। सब उसमें लय हो जाते हैं।

यह बात पहिले बताई जा चुकी है कि जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्ति अवस्था प्रति शरीर भिन्न नहीं होती। इससे भी सरल रीति से यह समझ सकते हैं कि यह भूताकाश भेदरहित है। शरीर के भीतर का आकाश और बाहर का आकाश दो नहीं है। स्वप्न में जो पृथ्वी, पदार्थ, प्राणी दीखते हैं, वहाँ जो आकाश, ग्रह-नक्षत्रादि हैं, वे मन से ही निकले हैं। इसी प्रकार जाग्रत् का भी यह दृश्य-प्रपंच मन से ही निकला है, यह बात भी समझायी जा चुकी है। इस सम्पूर्ण दृश्य एवं आकाश को अपने भीतर लेकर मन सो जाता है। मन के भीतर का आकाश हुआ—चित्ताकाश। जब भूताकाश में ही भेद नहीं है तो चित्ताकाश, प्रत्यगाकाश में भेद कहाँ से होगा ?

पाञ्चभौतिक शरीर की उपाधि से जो आकाश है, वह है भूताकाश। स्वप्न में कल्पित दृश्यों की उपाधि से जो आकाश है, वह है चित्ताकाश। प्रज्ञा के घनीभाव से सुषुप्ति में जो आकाश है, वह है कारणाकाश या मूलाकाश और जो शुद्ध चिन्मात्र है, जिसमें द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं है, वह चिदाकाश-अपना स्वरूप ही है। उस चिदाकाश में इस प्रपञ्चगत भेद का होना कैसे सम्भव है?

इन अवस्थाओं को समझने के लिये हम प्रणव का सहारा लेते हैं। यदि समझ में न आवे तो भावना करो। भावना के द्वारा स्थित हो जाओ। यह भावना या उपासना दो प्रकार की है। एक तो 'तत्पदार्थ' के रूप में-कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का अधिष्ठान एक चेतन, अद्वितीय परब्रह्म है। दूसरा 'त्वं पदार्थ' के रूप में-कि इन अवस्थाओं का द्रष्टा, अखण्ड चेतन 'मैं' हूँ।

इनमें 'तत्पदार्थ' की उपासना अभासवादिनी और 'त्वं पदार्थ' की उपासना दृष्टि-सृष्टिवादिनी होती है। यह दोनों न हो सकें तो प्रणव का जप आकार की आवृत्ति करना चाहिये। प्रणव के अर्थ की भावना करते हुए जप करो। प्रणव का अर्थ क्या? यही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट् हिरण्यगर्भ-ईश्वर ये प्रणव के अक्षरों के अर्थ हैं। जो ऐसा जान लेता है वह सारे विश्व को तौल लेता है, अपने आप में मिला लेता है। अर्थात् वह सब के रहस्य को सब की यथार्थता को जान लेता है।

बात यह है कि जो वस्तु ज्ञान से मिलती है वह पहिले से प्राप्त होती है। वह मिली नहीं है ऐसा केवल भ्रम रहता है और ज्ञान इस भ्रम को दूर कर देता है। अपना स्वरूप तो नित्यप्राप्त है और उसमें ये तीनों जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें मायामात्र-प्रतीतिमात्र हैं। इनका ठीक-ठीक मूल्य-स्वरूप जानते नहीं, इसीमें भ्रम में पड़े हैं। इनको जान लेना है।

अब तक प्रणव के अकार, उकार, मकार को क्रमश विश्व, तैजस, प्राज्ञ का वाचक बतलाया और इनका पृथक्-पृथक् फल भी बतलाया, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कोई केवल 'अ' केवल 'उ' अथवा केवल 'म' का जप अथवा चिंतन करे। ये अवान्तर फल तो प्रधान साधन-सम्पूर्ण प्रणव के जप-चिन्तन की स्तुति के लिये कहे गये हैं। जप या उपासना तो प्रणव की ही करनी चाहिये।

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय ।' —योगदर्शन,

जितनी भी सिद्धियाँ हैं, वे समाधि में विघ्न हैं। इसी प्रकार अकार, उकार और मकार तथा विश्व, तैजस और प्राज्ञ के ज्ञान से जो सिद्धियाँ बतलाई गईं, उनका तात्पर्य उन सिद्धियों में नहीं है। सिद्धियाँ तो तत्त्वज्ञान में बाधक बनेंगी। जब तक कुछ भी चाहोगे, तब तक अविद्या बनी रहेगी। हमको बराबर आनन्द आता रहे, यह इच्छा

भी होगी तो आनन्दाकार वृत्ति से राग होगा। वृत्ति रहेगी अन्तःकरण में और अन्तःकरण अविद्या का कार्य है। अतएव एक वृत्ति भी रखना चाहोगे तो अविद्यावृत्ति रहेगी। अन्तःकरण बना रहेगा। तत्त्वज्ञान कहाँ हुआ? इसलिये समस्त सिद्धि सम्पूर्ण राग तत्त्वज्ञान में बाधक है।

अपने को सम्पूर्ण-विश्व-विराट्रूप सदा देखते रहोगे तो देखना कहाँ होगा? अन्तःकरण में। इसी प्रकार समष्टि के सूक्ष्म का अभिमानी हिरण्यगर्भ अपने को देखो ■ सुषुप्ति का अभिमानी ईश्वर देखो, देखना अन्तःकरण में ही होगा और अन्तःकरण रखोगे तो अविद्या रहेगी। आनन्दाकार वृत्ति या समाधि से राग होगा तो तुम राग के भोक्ता हुए, असग नहीं हुए। अतः श्रुतिमात्र से असग होने में वेदान्त का तात्पर्य है। प्रणव के आलम्बन को लेकर अमात्र-तुरीय को जान कर उसमें स्थित होने में तात्पर्य है। बताये हुए फल की उपलब्धि में तात्पर्य नहीं है।

समझना यह है कि अन्तःकरण की कोई अवस्था मेरी नहीं है। अन्तःकरण के किसी आकार के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि तुम किसी अवस्था को सच्ची समझते हो तो तुम 'सत्' स्वरूप नहीं हो। यदि तुम दृश्य वस्तु को 'सत्' स्वरूप समझते हो तो तुम सत्स्वरूप नहीं हो, यदि तुम किसी को ज्ञानस्वरूप समझते हो तो तुम ज्ञानस्वरूप नहीं, यदि किसी को आनन्दस्वरूप समझते हो तो तुम आनन्दस्वरूप नहीं हो। यदि तुम आनन्द को अपने से अन्य समझोगे तो मति होगी और अपना स्वरूप समझोगे तो आत्मरति होगी।

जो अन्य है, वह जड़ है और 'अहं' चेतन है। जड़ दुःख है और चेतन आनन्द है। मैं चेतन आनन्दस्वरूप हूँ और जड़स्वरूप दुःख मुझ से पृथक् है। यह सांख्य का द्रष्टा-दृश्य विवेक हो गया। मैं सत्स्वरूप हूँ और मुझ से जो भिन्न है वह असत् है। यह वेदान्त का विचार हुआ। भक्त दुःख और आनन्द का विवेक करते हैं कि संसार दुःखरूप है और परमात्मा आनन्दरूप है। योग और सांख्य चेतन का विवेक करते हैं कि मैं द्रष्टा चेतन और दृश्य जड़। लेकिन वेदान्त सत्ता का भी विवेक करता है कि मैं सत्स्वरूप और मुझ से भिन्न सब असत्।

इस विवेक की आवश्यकता यह है कि दुःख और जड़ता में सत्यत्व की भ्रान्ति दूर हो जाय। भ्रान्ति मिट जाने पर असत् प्रतीति अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं रहती। अतः यदि हम कुछ भी चाहते हैं—भले वह चित्त की शान्ति या आनन्द हो तो हम अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त होते हैं। हम अपने अखण्ड परिपूर्ण सच्चिदानन्द रूप से पृथक् होते हैं। अतएव यह जो प्रणव के अक्षरों का फल निर्दिष्ट है, उसका तात्पर्य है स्वरूपज्ञान में प्रवृत्त करना।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्यमुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यत इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते च शब्दात् ॥ १९ ॥

उपनिषद् के आठवें, नौवें, दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्र में जो बात कही गई है, उसी बात को श्रीगौड़पादाचार्यजी यहाँ तीन कारिकाओं में बतला रहे हैं—

जिस समय विश्व का अत्व अर्थात् अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता है, उस समय पूर्वोक्त न्याय से उनके प्राथमिकत्व की समानता उत्कट अर्थात् प्रकट रूप से दिखायी देती है। 'मात्रासम्प्रतिपत्तौ' यह 'अत्वविवक्षायाम्' इस पद की व्याख्या है। तात्पर्य यह कि जब विश्व के अकार मात्रत्व का ज्ञान होता है उस समय उनकी व्याप्ति की समानता तो स्पष्ट ही है। यहाँ 'च' शब्द से 'उत्कट' पद की अनुवृत्ति की जाती है ॥ १९ ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः उभयत्वं च स्फुटमेवेति। पूर्ववत्सर्वम् ॥ २० ॥

तैजस के उत्वविज्ञान में अर्थात् उसके उकार रूप से प्रतिपादन करने में उसका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिखलाई देता है। इसी प्रकार उभयत्व भी स्पष्ट है। शेष सब पूर्ववत् है ॥ २० ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥ २१ ॥

प्राज्ञ के मकाररूप होने में मान और लयरूप समानता स्पष्ट है, यह इसका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

उपनिषद् के मूल मन्त्र में प्रणव के अकार, उकार, मकार की जो समानता विश्व, तैजस और प्राज्ञ से बतलाई गई है, वही समानता इन तीनों कारिकाओं में भी बतलाई गई है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ में विश्व प्रथम (आदि) है, और अकार, उकार, मकार में अकार प्रथम है, अतः अकार से विश्व लेना चाहिये; क्योंकि अकार भी व्यापक है और विश्व भी व्यापक है। तैजस विश्व से उत्कृष्ट है और मध्य में है तथा उकार भी मध्य में है, अतः उकार से तैजस लेना चाहिये। मकार और प्राज्ञ दोनों में मान सामान्य है अर्थात् सबका इनमें एकीभाव हो जाता है, अतः मकार से प्राज्ञ लेना चाहिये।

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

यथोक्तस्थानत्रये यत्तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदितिनिश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त तीनों स्थानों में तुल्यरूप से बतलायी गयी समानता को जो 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता लोक में पूजनीय एवं वन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

इससे ठीक मिलता-जुलता श्लोक पहिले आ चुका है—

"त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो विषय हैं, वे भोग्य हैं और अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ उनके भोक्ता हैं, जो इन भोक्ता और भोग्य दोनों को जानता है, वह भोग करता हुआ व्यवहार में रहता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

क्योंकि ज्ञान का अर्थ भेद का–संसार का मिट जाना नहीं। ज्ञान का अर्थ उसमें सत्यत्व की भ्रान्ति का मिट जाना है।

ब्रह्मज्ञानी का अर्थ है कि जिसका अभिमान शरीर में नहीं रहा। वैसे जब तक शरीर रहेगा, तब तक शरीर को वायु, जल, अन्न की आवश्यक्ता तो होगी ही। ब्रह्मज्ञानी समझ लेता है कि वह शरीर नहीं–अनन्त चिन्मय आत्मा है। अपने को अनन्त समझ लेने पर अपने से भिन्न कोई वस्तु रह नहीं जाती। अनन्त में देश, काल एवं वस्तु का भेद नहीं हो सकता। अतः 'मैं ही अनन्त हूँ' यह बोध हो जाने पर परिच्छिन्नता का अभिमान दूर हो जाता है।

इस बोध का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य मर गया। व्यवहार में तो मनुष्य का देह है ही और देह है तो वह श्वास लेगा, जल पियेगा, भोजन करेगा। मनुष्य के सभी व्यवहार करेगा। यह व्यवहार तो रहता है; किन्तु जो जान लेता है कि 'इस व्यवहार–इस भोगवृत्ति का आश्रय मैं नहीं हूँ, इसका अभिमानी मैं नहीं हूँ,' वह लिप्त नहीं होता। उसके लिये सुख–दुःख, हँसना–रोना, मरना–जीना कोई महत्त्व नहीं रखता। उसका इनमें से किसी में आग्रह नहीं रह जाता।

अब ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष का माहात्म्य बतलाते हैं कि तीनों जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में जो एक तुल्य–सामान्य है, अर्थात् जो इन तीनों अवस्थाओं में समान रूप से बना रहता है, उसे जो निश्चय पूर्वक जान ले वह महामुनि सम्पूर्ण प्राणियों के द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय है।

आत्मा–ब्रह्म समाधि में रहता है और विक्षेप में नहीं रहता, ऐसा नहीं है। यह तुरीयतत्त्व–आत्मा अर्थात् मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, सभी अवस्थाओं में हूँ। अवस्थायें पृथक्–पृथक् दीखती हैं; किन्तु मैं पृथक्–पृथक् नहीं हूँ। मैं जो जाग्रत् में वही स्वप्न में और वही सुषुप्ति में भी हूँ। यह जितने भेद दीख रहे हैं, वे जिसके प्रकाश में दीख रहे हैं, जो इनका द्रष्टा है, वह मैं हूँ।

यह बात पहिले विस्तार से बता आये हैं कि विषय–भेद से या इन्द्रिय गोलकों के भेद से ज्ञान में भेद नहीं होता। देश, काल और वस्तु का प्रकाशक ज्ञान ही है और वह अखण्ड परिपूर्ण ज्ञान मैं हूँ।

हम जब एक बुद्धि, एक देह में रहनेवाली इन्द्रियों तथा एक अन्तःकरण के ज्ञान को अपना स्वीकार करते हैं, तब ज्ञाता बन जाते हैं। अन्तःकरण से अपने को पृथक् कर ले तो अन्तःकरण का ज्ञातापना, कर्मेन्द्रियों का कर्तृत्व, तथा अन्तःकरण का सुखित्व एवं भोक्तृत्व सब छूट जायगा। तब जो अखण्ड–सामान्य है, जिसमें सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद मात्र नहीं है, उस ज्ञान का नाम ही ब्रह्म है।

यह ब्रह्म और मैं यदि पृथक्-पृथक् हों तो दोनों के भेद का प्रकाशक कोई ज्ञान होगा, किन्तु ब्रह्म चेतन है और मैं भी चेतन हूँ, क्योंकि किसी को यह अनुभव कभी नहीं होता कि मैं जड़ हूँ या मैं नहीं हूँ। अथवा मैं अपने से प्यार नहीं करता, यह अनुभव कभी नहीं होता। अत मैं सत्, चित्, आनन्दस्वरूप-सच्चिदानन्द हूँ और यही ब्रह्म का स्वरूप है, अत मैं ही ब्रह्म हूँ।

यह जो भेद प्रतीत हो रहा है, यह दृश्य है प्रकाशसापेक्ष है, विकारी है, ज्ञान-निवर्त्य है, अत भेद मिथ्या है। यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का भेद मिथ्या है और इनमें एक समान रहनेवाला सच्चिदानन्द आत्मा मैं हूँ। यह जो जान लेता है, वही ससार मे सबके द्वारा पूजनीय एव वन्दनीय है।

ससार में पूजनीय कौन है? ईश्वर। जो एक शरीर को अपना मानकर देहाभिमानी बना बैठा है, उसीको तो जीव कहते हैं। लेकिन एक शरीर में तो अरबों कीटाणु हैं। ज्ञानी की मुक्ति होगी तो क्या उन कीटाणुओं की जो उसके देह म हैं, मुक्ति होगी? एक देह म अरबों कीटाणुओं को 'मैं' माननेवाला अज्ञानी उनमें से कौन सा जीव है? सच्चीबात यह है कि परिच्छिन्नता मे 'मैं' का भाव ही जीवत्व है, और जहाँ परिच्छिन्न में 'मैं' का भाव नहीं, वहीं ईश्वरत्व है।

ईश्वर मे माया तो है, इसलिये ईश्वरको प्रपञ्चकी प्रतीति तो होती है, किन्तु प्रपञ्च म सत्यत्वकी भ्रान्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर में अविद्या नहीं है। सत्यत्व की भ्रान्ति न होने से अभिमान भी नहीं होता। श्रीमद्भागवत में उद्धवजी ने भगवान से प्रश्न किया कि जीव कौन और ईश्वर कौन? तो भगवान् ने उत्तर दिया—

"गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्यय ॥" (भागवत ११। १६। ४४)

गुणोंमें-ससार-के विषयों में जिसकी बुद्धि आसक्त है, वह जीव और जिसकी बुद्धि गुणों में-देह, मन, इन्द्रिय, अन्त करण मे आसक्त नहीं है, वह ईश्वर।

अब देखो कि तत्त्वज्ञका स्वरूप क्या है। वह कभी परिच्छिन्न को 'मैं' नहीं मानता अत वह जीव नहीं है, वह ईश्वर है। ससार की प्रतीति तो ईश्वरको भी होती है। इसलिये सम्पूर्ण प्राणियों मे पूजनीय एव वन्दनीय वह तत्त्वज्ञ पुरुष ही है जिसकी परिच्छिन्नता का अभिमान मिट चुका है।

तत्त्वज्ञ महापुरुष के लक्षण शास्त्रों मे बतलाये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता म कर्मप्रधान साधन से जीवन्मुक्ति, भक्तिप्रधान साधन से जीवन्मुक्ति और ज्ञानप्रधान साधन से जीवन्मुक्ति प्राप्त महापुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं।

कर्मप्रधान साधन से जो जीवन्मुक्त हुआ है, उसके लक्षण गीताने दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ कह कर बताये गये हैं।

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानीन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥" (२।६४)

वह राग-द्वेष रहित होकर विषयों का भोग करता हुआ ही अन्तःकरण अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो जाता है। उसके जीवन में सुख-दुःख होते ही नहीं, यह कल्पना छोड़ दो।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।" (गीता २।५६)

दुःख आता है; किन्तु उसमें उसका चित्त उद्विग्न नहीं होता और सुख क्या रहे वह सुख आने पर स्पृहा नहीं करता।

गीता के बारहवें अध्याय में भक्तिप्रधान ज्ञानी का लक्षण वर्णित है। हम यहाँ जान-बूझकर ज्ञान की बात कहते हैं; क्योंकि गीता के इस बारहवें अध्याय में जिस भक्त का वर्णन है, वह आर्त, अर्थार्थी या जिज्ञासु भक्त का वर्णन नहीं है। तब ज्ञानी भक्त का वर्णन है, यही मानना होगा।

"मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।" (गीता १२।१४)

अन्य स्थानों पर भी 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय' भगवान् ने कहा है। यहाँ देखना है कि आश्रयरूप भगवान् में मन-बुद्धि का अर्पण होगा या विषयरूप भगवान् में। विषयरूप भगवान् में मन एवं बुद्धि की कल्पना में जो भगवान् आये उनमें मन-बुद्धि का अर्पण नहीं हो सकता। क्योंकि सुषुप्ति में मन-बुद्धि उस कल्पना को अपने में लेकर सो जायँगे। वहाँ भगवान् ही मन-बुद्धि के अर्पित हो जायँगे। अतः अर्पण आश्रयरूप भगवान् में होगा। आश्रय-आत्मा है। अतएव बुद्धि के अर्पण का अर्थ चिन्तन एवं मन के अर्पण का अर्थ मानना। विजातीय प्रत्यय रहित सजातीय वृत्तिप्रवाह-रूप निरन्तर आत्माकार वृत्ति ही मन का अर्पण है तथा अवस्थात्रय, पञ्चकोशादि का विवेक ही बुद्धि का अर्पण है। इस प्रकार मन-बुद्धि लगा देने पर 'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।' इसमें सन्देह नहीं कि मुझ में ही निवास करोगे।

'यदि इस ज्ञान में चित्त स्थिर न हो सके तो अभ्यास करो, अभ्यास भी न हो सके तो उपासनात्मक कर्म करो और यदि वह भी सम्भव न हो तो सर्वकर्मफल का त्याग करो।' यह बात वहीं भगवान् ने नौवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोक में कही है। ज्ञानी भक्त का लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥" (गीता १२।१५)

ज्ञानी भक्त का लक्षण माने बिना इस श्लोक की संगति ही नहीं लग सकती। क्योंकि यह लोगों से उद्विग्न न हो यह लक्षण तो भक्त में, योगी में आ जायगा, किन्तु संसार में कोई प्राणी उससे उद्विग्न न हो, यह लक्षण नहीं आयेगा। कुछ न करो, समाधि में बैठो तो भी कुछ कीड़े, चींटी टकरायेंगे देह से और उन्हें उद्वेग होगा। उद्वेग तो केवल साक्षी से, अपनी आत्मा से किसी को नहीं होता। अत जो अपने आत्मस्वरूप में स्थित है, उससे किसी को उद्वेग नहीं होगा। वह देह को 'मैं' मानता नहीं, अत. उसके देह से किसी को उद्वेग हो भी तो वह उद्वेग उसके द्वारा नहीं हुआ। अत यह लक्षण ज्ञानी भक्त का ही है।

ज्ञानप्रधान साधन से द्रष्टा-दृश्य विवेक से जो तत्त्वज्ञ हुआ है, उसका लक्षण गीता के चौदहवें अध्याय में बताया गया है—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥' (गीता १४।२२)

प्रकाश सत्त्वगुण का कार्य, प्रवृत्ति रजोगुण का कार्य और मोह तमोगुण का कार्य, इनमें तीनों अवस्थायें अपने-आप आ गईं। इनमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की वृत्तियाँ चित्त में आती हैं तो उन्हें दूर नहीं करना चाहता और नहीं आतीं तो वे आवें, ऐसी कामना नहीं करता। तत्त्वज्ञ चित्त की अवस्थाओं में परिवर्तन से अप्रभावित रहता है। यहाँ एक विलक्षण बात हो गई। सासारिक पुरुषों के चित्त में गुणवृत्तिविरोध रहता है। उन्हें अपने अन्तःकरण में तमोगुण-रजोगुण की वृत्ति आने से दुःख होता है। उनके चित्त में परिणाम, ताप, संस्कारजन्य दुःख होते हैं। लेकिन तत्त्वज्ञ के चित्त में गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख भी नहीं होता। परिणाम में उसे दुःख नहीं, ताप उसे है नहीं, संस्कार उसे पुनर्जन्म दे नहीं सकते। वर्तमान में गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख जो औरों को भोग के न मिलने से, चित्त की अमुक अवस्था न रहने से होते हैं, वे भी ज्ञानी को नहीं होते। वह न किसी संकल्प के आने पर उसे हटाना चाहता है, न किसी विशेष संकल्प की इच्छा करता है।

ऐसा तत्त्वज्ञ ही, सम्पूर्ण प्राणियों के द्वारा पूजनीय एवं वन्दनीय है। भारतीय संस्कृति में अतिथि की पूजा का विधान है। उसमें अतिथि को भगवान् मान कर उसकी पूजा करनी चाहिये, उसकी जाति, कुल, गोत्रादि नहीं देखना चाहिये, यह विधान है। जब सामान्य अतिथि के विषय में यह नियम है तो तत्त्वज्ञ तो ब्रह्मरूप ही है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' उसकी पूजा का विधान उपनिषदों में स्पष्ट है—

'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥'

जो पुरुष अपना कल्याण चाहता हो, इस लोक या परलोक की विभूति-ऐश्वर्य चाहता हो, उसे आत्मज्ञ पुरुष की अर्चना करनी चाहिये।

आजकल जो लोग महात्माओं की पूजा का निषेध करते हैं, वे भी महात्माओं की पूजा का निषेध नहीं करते। वे महात्मा का वेष बनाये दुरात्माओं की पूजा का निषेध करते हैं। वे यह नहीं कहते कि महात्मा की पूजा नहीं करनी चाहिये। वे कहते हैं कि अपने को महात्मा मानकर पूजा नहीं करवानी चाहिये। महात्मा के मन में अपने महात्मापन का अभिमान होगा तो ब्रह्मज्ञान कहाँ रहा? तब तो देहाभिमान हो गया कि यह महात्मा है। अतः निषेध का अभिप्राय यह है कि अपने को देह मानकर पूजा ग्रहण मत करो। पूजा करने वालों के लिये निषेध नहीं है।

श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में यह बात आई है कि तत्त्वज्ञ महापुरुष भगवान वासुदेव की चल मूर्ति है। पहिले सत्ययुग, त्रेतायुग में महात्माओं की ही पूजा होती थी, किन्तु द्वापर से मूर्तिपूजा ऋषियों ने इसलिये प्रचलित की; क्योंकि लोग महात्माओं की पूजा में सावधान नहीं रहते। करते तो हैं पूजा, किन्तु उससे अपमान एवं कष्ट होता है। ज्वर आया है और माला-चन्दन चढ़ायेंगे। पेट खराब है और गरिष्ठ पदार्थ खा लेने का आग्रह करेंगे। इस प्रकार पैर छूने की धक्का-मुक्की करेंगे कि चोट लग जाए। इससे महात्मा के शरीर को कष्ट होता है। लोग अधिकारी नहीं रहे महापुरुष की पूजा करने के, यह देखकर महापुरुषों ने ही मूर्तिपूजा का प्रचलन किया।

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तम्—

पूर्वोक्त समानताओं से आत्मा के पादों का मात्राओं के साथ एकत्व करके उपर्युक्त ओंकार को जानते हुए जो उसका ध्यान करता है, उसे—

> अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
> मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकारो नयते विश्वं प्रापयति । अकारालम्बनोङ्कारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः । तथोकारस्तैजसम् । मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम् । चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते । क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओङ्कारे गतिर्न विद्यत क्वचिदित्यर्थः ॥२३॥

अकार विश्व को प्राप्त करा देता है अर्थात् अकार के आश्रित ओंकार को जानने वाला पुरुष वैश्वानर होता है। इसी प्रकार उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त

करा देता है। 'च' शब्द से 'नयते' क्रिया की अनुवृत्ति होती है। मकार के क्षीण हो जाने पर बीजभाव का क्षय हो जाने से मात्राहीन ओङ्कार में कोई गति नहीं है, यह कारिका का तात्पर्य है ॥२३॥

अकार विश्व को, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त कराता है। तात्पर्य यह कि विश्वात्मा, तैजसात्मा एवं प्राज्ञात्मा-ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं। जाग्रत्, स्थूल सृष्टि और विराट् एक हो जायगा, स्वप्न, सूक्ष्म सृष्टि और हिरण्यगर्भ एक हो जायगा, सुषुप्ति, कारण सृष्टि और ईश्वर एक हो जायगा। इतना तो ओङ्कार कर देगा। लेकिन इसके पश्चात् अमात्र में ओङ्कार की गति नहीं है। अमात्र साधन-साध्य नहीं। वह तो स्वतःसिद्ध आत्मा है। अब उपनिषद् में बारहवें अन्तिम मन्त्र में उस आत्मतत्त्व का ही निरूपण करेंगे।

बारहवां मन्त्र

अमात्र और आत्मा का तादात्म्य

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

मात्रारहित ओङ्कार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार ही आत्मा है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह स्वतः अपने आत्मा में ही प्रवेश कर जाता है।

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कारस्त्रिमात्रस्त्रिपाद आत्मैव। संविशत्यात्मना स्वेनैव। स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजाभावं दग्ध्वात्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्।

न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति। मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्त सामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनीभवति तथा च वक्ष्यति–'आश्रमास्त्रिविधाः' (माण्डू० का० ३। १६) इत्यादि ॥१२॥

अमात्र–जिसकी मात्रा नहीं है, वह अमात्र ओङ्कार चौथा अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही है। अभिधानरूप वाणी और अभिधेयरूप मन का क्षय हो जाने के कारण वह अव्यवहार्य है। तथा वह प्रपञ्च की निषेधावधि, मङ्गलमय और अद्वैतस्वरूप है। इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानवान् उपासक द्वारा प्रयोग किया हुआ तीन मात्राओं वाला ओङ्कार तीन पाद वाला आत्मा ही है। जो इस प्रकार जानता है वह स्वतः ही अपने पारमार्थिक आत्मा में प्रवेश करता है। परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे बीज-भाव को भी दग्ध करके आत्मा में प्रवेश करता है, इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक है।

रज्जु और सर्प का विवेक हो जाने पर रज्जु में लीन हुआ सर्प जिन्हें उसका विवेक हो गया है उन पुरुषों को बुद्धि के संस्कारवश पुनः प्रतीत नहीं हो सकता। किन्तु जो मन्द और मध्यम भाव वाले साधक मात्र को प्राप्त सन्मार्गगामी सन्यासी पूर्वोक्त मात्रा और पादों के निश्चित सामान्य भाव को जानने वाले हैं, उनके लिये तो विधिवत् उपासना किया हुआ ओङ्कार ब्रह्मप्राप्ति के लिये आश्रयस्वरूप होता है। यही बात 'तीन प्रकारके आश्रम हैं' इत्यादि वाक्यों से कारिका में आगे कही गई है ॥ १२॥

विराट् अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल जगत् का अभिमानी। जितनी भी मूर्तिपूजा है, सब विराट् के अन्तर्गत है। सूक्ष्म समष्टि की दृष्टि से वही हिरण्यगर्भ कहा जाता है। योग और भक्ति, साकार ईश्वर एवं ब्रह्मलोक तक सब सूक्ष्म समष्टि के अन्तर्गत है। कारणावस्था की दृष्टि से निराकार ईश्वर है। प्रणव के अक्षरों के चिन्तन द्वारा हम विश्व से तैजस में और तैजस में प्राज्ञ में आरोहण करते हैं और फिर प्राज्ञ से तैजस में, तैजस से विश्व में अर्थात् ईश्वर से हिरण्यगर्भ में और हिरण्यगर्भ से विराट् में आते हैं। यह अवरोहण हुआ।

इतना ही परमार्थ नहीं है। विश्व, तैजस प्राज्ञ अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर- ये पाद हैं और अकार, उकार, मकार ये मात्रा हैं। इन तीनों पादों तथा तीनों मात्राओं से विलक्षण परमार्थ है। उसमें न मात्रा है, न पाद है। उसमें न आरोहण है, न अवरोहण। उसमें व्यवहार नहीं है। ये आरोहण-अवरोहण उसमें भास रहे हैं।

यह तुरीय वस्तु इन तीनों में है और इनमें होकर भी इनसे विलक्षण है। ये तीनों अवस्थायें काल की सीमा में हैं। एक काल में रहती हैं, एक में नहीं रहतीं। ये बहिर्देश या अन्तर्देश में होती हैं। इन अवस्थाओं में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद है; किन्तु तुरीयतत्त्व काल एवं देश की सीमा में नहीं है। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद भी नहीं है। अर्थात् तुरीयतत्त्व देश-काल से अपरिच्छिन्न अखण्ड है। उसमें मात्रा नहीं है और पाद भी नहीं है।

अमात्रपुरुष मात्रातीत चतुर्थ-तुरीय है। अब मन ही मन में प्रणव का उच्चारण करें तो उच्चारण करते-करते हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जिससे आगे प्राण की गति नहीं है। एक बात यहाँ प्रणव के उच्चारण के सम्बन्ध में जान लेनी चाहिये। प्रणव का उच्चारण काकवाणी के समान होता है। कौआ जब बोलता है तब गुदा तक शब्द का स्पन्दन होता है, इसी प्रकार दीर्घ घण्टा-नाद के समान प्रणव के उच्चारण का स्पन्दन मूलाधार चक्र से उठना चाहिये। लेकिन यह सीखकर करने की क्रिया है क्योंकि—

'देखा-देखी साधै जोग। छीजै काया बाढै रोग ॥'

योग की क्रिया बिना सीखे करने से रोग हो जाते हैं। शरीर में एक मृत्युनाड़ी है। प्रणव-उच्चारण में प्राण ऊर्ध्वमुख होते हैं। कहीं भूल से उस नाड़ी में प्राण चले गये तो मृत्यु हो जायगी। अत दीर्घ उच्चारण सीखकर करना ठीक है।

प्रणव के उच्चारण के समय मकार का अनुस्वार जब समाप्त हो जाता है, तब उच्चारण की गति नहीं रहती। वहाँ सम्पूर्ण वृत्तियाँ छूट जाती हैं। पुन वहाँ से आकर वे शरीर मे फैलती हैं। अब अकार के उच्चारण का प्रथम, उकार के उच्चारण का द्वितीय और मकार के उच्चारण का तृतीय काल जहाँ समाप्त हो गया, वहाँ अकाल रह गया। यह अकाल प्रणव है। इसी प्रकार अकार और उकार बाह्य देश में और मकार अन्तर्देश में है, किन्तु जहाँ बाहर-भीतर दोनों देश समाप्त हो गये, वह अदेश रह गया। ओङ्कार शब्द-उच्चारणरूप कर्म और उस कर्म का कर्ता था, किन्तु जहाँ कर्म समाप्त हुआ कर्ता-कर्म का भेद भी समाप्त हो गया। वहाँ अकर्ता रह गया। ओङ्कार के उच्चारण में एक सुख था, वह भोग्य था और उसमे भोक्तापन था। उच्चारण समाप्त होने पर भोग्य-भोक्ता नहीं रहा। अभोक्ता हो गया। यह प्रणव के अन्त में नित्य अदेश, अकाल, अकर्ता, अभोक्ता का साक्षात्कार होता है, उसी का विचार करना है।

जैसे घट का प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव है और वर्तमान में जो मिट्टी है, वह सदा तीनों अवस्थाओं में है। इसी प्रकार ये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एव विश्व, तैजस, प्राज्ञ जिस अधिष्ठान में प्रतीत होते हैं, वह चेतन आत्मा है। यह द्रष्टा, चेतन, अधिष्ठान अपना स्वरूप है। यह दृश्य स्फुरणामात्र होने से अधिष्ठान से भिन्न नहीं है। अत. अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा से भिन्न प्रपञ्च नहीं है।

यह आत्मा अकार, उकार, मकार के व्यवहार में नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के व्यवहार में या विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर के व्यवहार में भी नहीं है। लेकिन सब व्यवहार उसी से सिद्ध हो रहे हैं। आत्मा अव्यवहार्य है उसका तात्पर्य यह है कि वह कर्म का, भोग का या ज्ञान का विषय नहीं है। वह स्व-पर के भेदरूप व्यवहार से रहित है। अत. उसमें न शब्दोच्चारण है, न स्फुरणा है।

यह प्रपञ्च जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि का रचा है, इस प्रपञ्च में यह आत्मा उपशान्त है। अर्थात् इन पाँचों के शान्त, निक्षिप्त या मूढ होने से उसमें शान्तता, निक्षिप्तता या मूढता नहीं आती। अत. प्रपञ्चोपशम होने के कारण वह 'शिव' है—नित्य कल्याणरूप है। उसमे दुःख का, अमगल का चिन्ह ही नहीं। यह अद्वैत है। इन 'प्रपञ्चोपशम शिवमद्वैत' की व्याख्या पहिले विस्तृत रूप से आ चुकी है।

मात्रारहित अमात्र ओङ्कार अद्वैत है, आत्मा ही है। यही तुरीय वस्तु है। जो इस प्रकार जान लेता है, वह आत्मस्वरूप हो जाता है। उसे आत्मबोध हो जाता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इस मन्त्र के अर्थ से सम्बन्धित श्रीगौडपादाचार्य की ये कारिकायें हैं—

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२४॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो विद्यादित्यर्थः । एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किञ्चित् प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त समानताओं के कारण पाद ही मात्रायें हैं और मात्रा ही पाद हैं । अतएव यह तात्पर्य हुआ कि ओङ्कार को पादक्रम से जाने । इस प्रकार ओङ्कार का ज्ञान हो जाने पर कृतार्थ हो जाने के कारण किसी भी लौकिक-पारलौकिक प्रयोजन का चिन्तन न करे ॥२४॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः । यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित् "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै०उ०२।९) इति श्रुतेः ॥२५॥

जिसकी पहिले व्याख्या की जा चुकी है, उस परमार्थरूप ओङ्कार में चित्त को युक्त करे; क्योंकि ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म है । उसमें नित्य समाहित रहने वाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं होता । जैसा कि श्रुति कहती है-'विद्वान् कहीं भी भय को प्राप्त नहीं होता' ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥२६॥

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः । परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः । नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः । तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः । अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पर और अपर ब्रह्म प्रणव ही है। वस्तुतः मात्रारूप पादों के क्षीण होने पर आत्मा ही ब्रह्म है; इसलिये इसका कोई पूर्व अर्थात् कारण न होने से यह अपूर्व है। इसका कोई भिन्नजातीय नहीं है, अतः यह अनन्तर है। इससे बाहर कोई नहीं है, इसलिये यह अबाह्य है। इसका कोई अपर-कार्य भी नहीं, इसलिये यह अनपर है। तात्पर्य यह कि यह बाहर-भीतर से अजन्मा तथा सैन्धवघन के समान प्रज्ञानघन है॥२६॥

वेदान्त का मूल सिद्धान्त है कि जानने से-ज्ञान से ही परम कल्याण है। अपने सत्यस्वरूप का बोध होने पर जिजीविषा-जीने की इच्छा नहीं रहती। क्योंकि परिच्छिन्न देह में 'अहं' भाव नहीं रहता। अतः वह देह रहे हीं, यह आग्रह भी नहीं रहता। बुभुक्षा भी ज्ञान से दूर हो जाती है। क्योंकि सब भोग देह तथा इन्द्रियों को ही चाहिये और उनमें 'अहंता' रही नहीं। मुमुक्षा तो अपने आप ही समाप्त हो गई; क्योंकि यह जान लिया कि अपना स्वरूप नित्यमुक्त है। वहाँ बन्धन ही नहीं तो मोक्ष की कल्पना कैसी ? संसार में यह जितनी व्यथा, जितना ताप है, सब अज्ञान से है। अब उस अज्ञान को दूर करने के लिये प्रणवरूप आलम्बन-साधन बतलाते हैं—

'ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।'

ओङ्कार को पादक्रम से जाने। इसमें सन्देह नहीं कि प्रणव की मात्रा ही पाद हैं। अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ हैं। इसको जान लिया तो आगे कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि समस्त विचार उसमें समाप्त हो गये।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति का विवेक होने से पञ्चकोष-विवेक हो गया। क्योंकि विश्व (जाग्रत) का विवेक हो गया तो अन्नमय कोष का विवेक हो गया। तैजस-स्वप्न-सूक्ष्म शरीर का विवेक हो गया तो प्राणमय कोष, मनोमय कोष और विज्ञानमय कोष का भी विवेक हो गया। प्राज्ञ-सुषुप्ति-कारण शरीर का विवेक हो गया तो आनन्दमय कोष का भी विवेक हो गया। साथ ही अविद्या का भी विवेक हो गया; क्योंकि अविद्या ही कारण है। इस प्रकार प्रणव के अक्षरों को पादरूप से जान लिया तो ब्रह्मा-विष्णु-महेश, जीव-जगत्-ईश्वर आदि सब का विवेक हो गया। कोई ऐसी वस्तु बची नहीं, जिसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक समझदारी न आ गई हो। अतः अब कुछ चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् ने गीता में कहा है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।' मन को अपने स्वरूप में स्थिर करके कुछ भी चिन्तन न करे। वेदान्त में समाधि का अर्थ अचिन्तन है; क्योंकि किसी का भी ध्यान करोगे तो ध्याता, ध्यान, ध्येय इन तीनों का भेद अन्तःकरण में बना है। ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी समाप्त होकर ही तत्त्वरूप में अवस्थिति होती है। अतएव प्रणव की मात्राओं को पादरूप से जान कर 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' कुछ भी चिन्तन न करे।

मनके सकल्पों पर साधक बहुत ध्यान देते हैं; किन्तु सकल्प सर्वथा भौतिक वस्तु हैं और मन भी भौतिक है। यह भी सूक्ष्म शरीर ही तो है, और दवा से जो मूर्च्छित-क्रियाहीन हो जाता है, उसकी भौतिकता में भला क्या सन्देह ! अतएव मन के सकल्प-विकल्प को लेकर ग्लानि करने-दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। जैसे समुद्र में तरंगें उठती हैं, आकाश में वायु के झोंके आते हैं, अग्नि से चिनगारी निकलती है, वैसे ही मन की स्फुरणायें हैं। उनको लेकर दुःखी होना अनावश्यक है।

जो स्थूलदेह के प्रेमी हैं वे देह के चक्कर में पड़े रहते हैं कि रोग न हो, बाल न पकें, दांत न टूटें, बुढापा न आवे। लेकिन देह तो बूढा भी होगा और मरेगा भी। इसी प्रकार जो सूक्ष्म शरीर में आसक्त हैं, वे मन के चक्कर में पड़े रहते हैं कि मन में ऐसा सकल्प आवे, ऐसा न आवे। कारण शरीर के प्रेमी समाधि के चक्कर में रहते हैं। विषयी धन को रोक रखना चाहता है, देहाभिमानी देह को रोक रखना चाहते हैं और सूक्ष्म शरीर का अभिमानी मन को एक ओर लगाये रखना चाहता है; किन्तु ज्ञानी इनमें से किसी के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं रखता। यह दृश्य-जड़ जगत् एकरस रह नहीं सकता। मन भी दृश्य है, जड़ है यह कैसे एकरस रहेगा ! आग्रह, देह या मन को एकरस रखने के आग्रह में हम अपनी चेतना से दूर हो जाते हैं। व्यस्त बन जाते हैं।

गीता में भगवान् ने ज्ञानी का स्वरूप 'उदासीनवदासीन' बताया। जैसे कोई शिला पर बैठा है और सामने नदी बहती आ रही है। नदी के जल में पुष्प, काँटे, मिट्टी, मुर्दा सब बहते हैं; किन्तु उस शिला पर बैठे व्यक्ति को नदीमें क्या बहे, क्या न बहे, इससे कोई सम्बन्ध नहीं। वह तटस्थ है। इसी प्रकार देह, मन आदि से तटस्थ जो बैठा है, उसे इनकी क्या अवस्था रहे, क्या न रहे, इससे क्या सम्बन्ध ! यह ससार गुण-दोष की धारा है। सत्त्व, रज, तमोगुण के प्रवाह इसमें चलते रहते हैं। "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" ये गुण गुणों में ही व्यवहार कर रहे हैं। इनमें विचलित होने की आवश्यकता नहीं है।

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।"

जो तत्त्वज्ञ है वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। शरीर, मन, बुद्धि अविद्या-सम्पूर्ण विश्व से कोई स्पर्श नहीं। इन सबकी सत्ता ही नहीं, ये तो प्रतीतिमात्र हैं। अतः मन में समाधि हो तो और विक्षेप हो तो, निद्रा रहे तो और जागति आवे तो मेरा क्या ? प्रयत्न में लगने से मेरे लिये कोई सिद्धि नहीं और अप्रयत्न रहने से कोई हानि नहीं। किसी अवस्था में आस्था नहीं। कर्तापन नष्ट हो चुका अतः कर्तव्यबुद्धि रहा ही नहीं। न कुछ पाना है, न छोड़ना है, न जानना है। पाना-छोड़ना वहाँ है जहाँ अच्छाई-बुराई का भाव है। इस भाव के बिना कामना नहीं रहती। जहाँ अपना [illegible] निजापता [illegible] वहाँ क्या [illegible] रह सकता है ?

'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' का यह अर्थ नहीं कि निःसङ्कल्प बैठा रहता है। इसका तात्पर्य यह कि सङ्कल्पों के आने-जाने से सर्वथा तटस्थ हो जाता है। तत्त्वज्ञ पुरुष के लिये जीवन-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय का कोई अर्थ नहीं। वह सब में समान है। यह बात तो तत्त्वज्ञ की है-उनकी है जो प्रणव को समझ चुके हैं। लेकिन जो तत्त्वज्ञ नहीं हैं; जिन्होंने प्रणव को समझा नहीं है, उनके लिये प्रणव की उपासना बतलाई गई है-'युञ्जीत प्रणवे चेतः' उनको अपना मन प्रणव में लगाना चाहिये। क्योंकि प्रणव ही परम ब्रह्म है। योगदर्शन में कहा गया है-

'तस्य वाचकः प्रणवः'

परब्रह्म परमात्मा का वाचक ओङ्कार है। जितने भी रूप हैं, वे नाम के आधीन हैं-

'देखिय रूप नाम आधीना।
रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना॥'

रूप बदलता रहता है, अतः रूप कोई वस्तु नहीं है। रूप अन्यता की भ्रान्ति उत्पन्न करता है, किन्तु नाम से अन्यता की भ्रान्ति उतनी प्रबल नहीं होती। घट, कलश, कुम्भ ये नाम तीन हैं; किन्तु हम जानते हैं कि ये एक ही वस्तु के नाम हैं। नाम वस्तु-भेद उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार भगवान् के जो नाम हैं वे अन्यता का भ्रम उत्पन्न नहीं करते। क्योंकि नाम निराकार है और रूप साकार है। साकार वस्तु में एक से दूसरे का भेद होता है। निराकार के कितने भी नाम रखो, वस्तु एक रहेगी। रूप तेज का गुण है और नाम-शब्द आकाश का गुण है, अतः तेज से आकाश के सूक्ष्म होने के कारण रूप से नाम अधिक शक्तिशाली है।

उपनिषद् में आता है-'नाम ब्रह्म' नाम ब्रह्म है। नाम की एक विशेषता यह है कि वह नाम का अर्थ होने में बल नहीं देता, वक्ता के होने में बल देता है। बोलने वाले की बात झूठी या निरर्थक हो सकती है; किन्तु उसका बोलने वाला तो विद्यमान है ही। अतः नाम वक्ता को पहिले सिद्ध करता है। नाम की गति इसी से आत्मा की ओर है।

'वाचं न विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्।'

क्या कहा जा रहा है यह मत देखो, कौन कह रहा है यह देखो। तुम्हारा शब्द कहाँ से उठता है-मन के संकल्प से? अब मन में सकल्प कहाँ से उठते हैं? इस प्रकार शब्द की डोरी पकड़ कर अपने स्वरूप तक पहुँचो। यह चैतन्य का प्रकाश तुम्हारी इन्द्रियों में आ रहा है; किन्तु चित्तवृत्ति से मिल जाने के कारण वह अन्य के रूप में-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि के रूप में प्रतीत होने लगता है, उसी तरह जैसे सूर्य की किरणें वर्षा के जल में होकर निकलती हैं तो उनसे आकाश में इन्द्रधनुष बन जाता है।

अतः इनके सहारे बाहर मत देखो, मछली के समान चलो। मछली जिधर से जल का प्रवाह आता है, उधर चलती है। तुम भी शब्द के उद्गम की ओर चलो।

चित्त को प्रणव में लगाओ 'युञ्जीत प्रणवे चेतः।' प्रणव का अर्थ है प्रणव अर्थात् प्रकृष्टता से नवीन–जो कभी पुराना नहीं पड़ता। अथवा जो संसार से खींचकर परमात्मा में पहुँचा दे वह प्रणव। प्रत्येक उच्चारण में प्रणव नवीन रहता है। यह ध्यान का प्रसंग है और ध्यान में योगदर्शन ही सम्यक् प्रमाण है, अतः योगदर्शन का विचार कर लें। योगदर्शन ने कहा कि—

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

ईश्वर का वाचक प्रणव है। उस प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये। ईश्वर का स्वरूप वहाँ बताया गया—

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।'

ईश्वर में सर्वज्ञता का सब से बड़ा बीज है। इसका तात्पर्य हुआ कि ईश्वर समष्टि-चित्तस्वरूप हुआ।

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'

ईश्वर अनादि है, अविनाशी है अर्थात् त्रिकालाबाध्य है। वह सत् एवं चित्स्वरूप हुआ। अब आगे कहते हैं—

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

उसमें क्लेश, कर्म और आशय नहीं हैं। इसका तात्पर्य है कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है।

अब प्रणव की मात्राओं का अर्थ यहाँ मिलावें तो अकार हुआ सत्, उकार चित् तथा मकार आनन्द, लेकिन योगदर्शन कहता है–'पुरुषविशेष ईश्वरः' सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर एक पुरुष-विशेष है। इसका तात्पर्य हुआ कि यह अविद्या में फँसा पुरुष-विशेष अपना आत्मा ही ईश्वर है। इसलिये जब तक तुम ईश्वर को अन्य समझते हो तब तक ओङ्कार के द्वारा सच्चिदानन्दघन ईश्वर का चिन्तन करो और यदि ईश्वर को अपना स्वरूप समझते हो तो सच्चिदानन्दघन आत्मवस्तु का चिन्तन करो। ईश्वर-चिन्तन का फल योगदर्शन में बताया है—

'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमः।'

ईश्वर के चिन्तन से अपनी अन्तरात्मा का अनुभव होता है। यदि ईश्वर अपनी अन्तरात्मा न होता तो ईश्वर-चिन्तन से अन्तरात्मा का अनुभव कैसे होता? क्योंकि जिसका चिन्तन करेंगे, अनुभव भी उसी का होगा।

इसलिये ईश्वर के चिन्तन के लिये प्रणव का आलम्बन बतलाया गया है। यह प्रणव कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व से रहित साक्षात् ब्रह्म है। इसलिये जो प्रणव में नित्ययुक्त है, उसके लिये कहीं कोई भय नहीं है।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥२७॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव। मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवद् उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः। एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सबका आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रणव ही है। जिस प्रकार कि मायामय हाथी, रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्नादि के समान उत्पन्न होने वाले आकाशादि रूप प्रपञ्च के कारण मायावी आदि हैं, उसी प्रकार मायावी आदि स्थानीय उस प्रणवरूप आत्मा को जानकर विद्वान् तत्काल ही तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है, यह अभिप्राय है ॥ २७ ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥२८॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोङ्कारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्मत्वा न शोचति शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" (छा०उ०७।१।३) इत्यादि श्रुतिभ्यः॥२८॥

प्रणव को ही समस्त प्राणियों के स्मृतिप्रत्यय के आश्रयभूत हृदय में स्थित ईश्वर समझे। बुद्धिमान् पुरुष आकाश के समान सर्वव्यापी ओङ्कार को असंसारी आत्मा जानकर शोक का कारण न रह जाने से शोक नहीं करता। श्रुतियों से भी यह प्रमाणित है कि 'आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है।' ॥ २८ ॥

प्रणव ही ईश्वर है। प्रणव के द्वारा ही ईश्वर का वास्तविक रूप समझ में आता है, इसलिये प्रणव का अनुसन्धान करना चाहिये। प्रणव के अर्थ का अनुसन्धान करने पर यह निश्चय हो जाता है कि जो परमात्मा है, वही प्रणव है।

सृष्टि की उत्पत्ति का विचार करते समय कहते हैं कि प्रथम नाद-शब्द उत्पन्न हुआ। उसीसे सृष्टि हुई। सृष्टि के मूल में नाद है। कम्पन के मूल में ही नाद है। सृष्टि के उस मूल नाद का नाम ओङ्कार है।

शब्द दो प्रकार का होता है, एक स्फुट और एक स्फुरणरूप। कुछ भी बोलने से पूर्व मन में उसकी स्फुरणा होती है। यह स्फुरणा ही स्फोट है। स्फोट उसे कहते हैं जिससे अर्थ प्रकट होते हैं—'स्फुटति अर्थः यस्मात्।' यह स्फोट-ब्रह्म प्रणव है। यह पता कैसे चले? 'वृत्तिरोधाद्विभाव्यते'—तुम अपनी चित्तवृत्तियों को रोक लो तो उसका पता चल जायगा। कान को बन्द करने से एक प्रकार का शब्द सुनाई पड़ता है; किन्तु वह मन का शब्द है। मन को भी रोक दो तो एक प्रकार का दीर्घ घंटानाद के समान शब्द सुनाई पड़ेगा। यही अनहद-अनाहत नाद है। यही सृष्टि के मूल में रहने वाली प्रणवध्वनि है। यही सृष्टि का उपादान और निमित्त है।

'स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।'

हमारे मुख से जो शब्द निकलता है, उसे वैखरी वाणी कहते हैं। इसके मूल में मध्यमा वाणी है। मध्यमा के मूल में पश्यन्ती और पश्यन्ती के मूल में परा वाणी है। परा वाणी चैतन्यरूप है। यही आदिशक्ति ओङ्कार है।

जिसे बोला जाता है और सुना जाता है वह विश्वात्मक शब्द, जो मन में विचार-रूप से आता है स्वप्न के समान वह तैजस शब्द, उस शब्द को भी प्रेरणा देने वाली पश्यन्ती वाणी प्राज्ञ शब्द और परा वाणी तुरीय। इस चैतन्यात्मक तुरीय वाणी का अनुसन्धान करो। वाणी से प्रणव बोलो, मन से सुनो और ओङ्कार ही हो जाओ। वास्तव में तुम ओङ्कार ही हो। इस प्रकार परमात्मा को प्राप्त करानेवाला प्रणव स्वयं परमात्मा का स्वरूप है। इसका निवास कहाँ है?

यह है तो सर्वव्यापी; क्योंकि सृष्टि के मूल में जो शब्द है वह सृष्टि में व्यापक होगा ही और ईश्वर भी सर्वव्यापी है; किन्तु सर्वव्यापी होते हुए भी ईश्वर अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में रहता है। वह चैतन्यरूपा परा वाणी ओङ्कार सबके हृदय में स्थित है।

हमने एक पुष्प ले लिया और उसे रख दिया। कुछ दिनों में उसमें छोटे-छोटे कीड़े पड़ गये। चलने-फिरनेवाले उन कीड़ों में हृदय है या नहीं? आपसे पूछे कि आपका हृदय कहाँ है? तो छाती पर आप हाथ रखेंगे, किन्तु आपके पूरे देहमें कहाँ हृदय नहीं है? आपके रक्त में-रक्त की एक बूँद में लाख-लाख कीटाणु हैं, उनमें हृदय है या नहीं? इसलिये यह ईश्वर जो सबके हृदय में स्थित है, सर्वव्यापी है।

'सर्वस्य हृदि सन्निविष्टम्'। प्रत्येक प्राणी या पदार्थ के भीतर उसकी गहराई में जाओगे तो अन्त में वहाँ तुम्हें चेतन ही मिलेगा। चेतन सर्वत्र सबमें एक समान है।

चेतन ही इस जगत् का अधिष्ठान है। चेतन में ही यह जगत् प्रतीत हो रहा है। सबके हृदय में सर्वावभासक रूप से चेतन स्थित है। वह प्रत्येक अणु में है। 'सर्वस्य हृदि संस्थितम्' का अर्थ ही 'सर्वव्यापिन्' है। वस्तुतः तो ईश्वर ही ईश्वर है, सर्व तो प्रतीति है, मिथ्या है। यह प्रणव ईश्वर है और वह सर्वव्यापी है। सर्व देश में, सर्व काल में, सबके हृदय में स्थित है। ऐसे प्रणव को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

यह देह की उपाधि, इन्द्रियों की उपाधि, मन की उपाधि, अन्तःकरण की उपाधि और परिच्छिन्नता की उपाधि से ही हम जीव बन गये हैं। यह उपाधि है, इसीलिये शोक है। उपाधि छोड़ दी तो हो गये ईश्वर और ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है। वहाँ शोक है ही नहीं।

जीव देह के मरने–जीने, रोग आदि को अपना मानता है। देह के कर्म को और मन के सङ्कल्प को अपना मानता है। बुद्धि के विचार तथा चित्त के विक्षेप–समाधि को अपना मानता है। इनकी अनुकूलता–प्रतिकूलता में सुखी–दुःखी होता है। जो इनसे अपने पार्थक्य को जान चुका, वह इनके कारण क्यों सुखी–दुःखी होगा?

'सर्वव्यापिनमोङ्कार' ओङ्कार सर्वव्यापी है, इसका अर्थ है कि ओङ्कार से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वेदान्त में व्यापकता का जो अर्थ है, उसे पहिले विस्तार से समझा आये हैं। व्यापकता का अर्थ जैसे घड़े में मिट्टी अर्थात् व्याप्य अपने व्यापक से भिन्न नहीं होना।

जो सर्वव्यापक होगा उसमें परिणाम नहीं हो सकता। मिट्टी से घड़ा इसलिये बनता है कि मिट्टी के टुकड़े हो सकते हैं और मिट्टी से बाहर स्थान तथा समय है। यदि किसी कमरे में ठसाठस मिट्टी भर दें तो उस कमरे के भीतर ही घड़ा बन सकेगा? अतएव जो सर्वव्यापी है, वह अद्वैत है और अपरिणामी है। उसमें भेद की प्रतीति विवर्त से ही होती है। ऐसी अवस्था में जो अद्वैत, अपरिणामी, एकरस तत्त्व को अपना स्वरूप जान लेगा, वह शोक किस लिये करेगा? उसके लिये शोक का कोई निमित्त ही नहीं रहा।

ईश्वर के सम्बन्ध में जितने शब्द हैं अच्युत, परमात्मा, ब्रह्म, व्यापक, अन्तर्यामी आदि, उनमें से किसी एक का भी अर्थ ठीक–ठीक जान लें तो परमात्मा की पहचान हो जायगी। प्रणव ही ईश्वर है, यह बात यहाँ प्रतीकात्मक है। भगवान् के सभी नाम भगवान् के स्वरूप हैं। उनमें से एक का भी ठीक–ठीक अर्थ जान लेने से परमात्मा का ज्ञान हो जायगा। यह ठीक है कि परमात्मा के ही सब नाम और सब रूप हैं और इसीलिये श्रद्धालु भक्त जिस रूप में भी परमात्मा की उपासना करते हैं उसी रूप का उन्हें दर्शन होता है, किन्तु परमात्मा का अपना रूप क्या है, यह जानना हो तो उसके

नाम का ठीक-ठीक अर्थ जानना चाहिये। शब्द के अर्थ का ज्ञान होने से परमात्मा की पहचान हो जायगी। परमात्मा की पहचान हो जायगी तो शोक मिट जायगा।

इस ज्ञान का प्रयोजन है राग द्वेष एवं भेद के कारण जो नाना प्रकार के अनर्थों की प्राप्ति हो रही है, उन सम्पूर्ण अनर्थों से छुटकारा होकर अपने परमानन्द स्वरूप में सर्वदा के लिये अवस्थान। यही जीवन्मुक्ति है।

"सर्वव्यापिनमोङ्कार मत्वा धीरो न शोचति"

इसके दो प्रकार के अर्थ होते हैं-' धीर. पुरुष सर्वव्यापिनमोङ्कार मत्वा न शोचति' धीर पुरुष सर्वव्यापी ओङ्कार को जानकर शोक नहीं करता और ' सर्वव्यापिनमोङ्कार मत्वा धीरो न शोचति' सर्वव्यापी ओङ्कार को जानकर पुरुष धीर हो जाता है और फिर शोक नहीं करता। अर्थात् ओङ्कार-ज्ञान के पूर्व धैर्य और ओङ्कार ज्ञान के पश्चात् धैर्य यह 'धीर' शब्द बड़े महत्त्व का है। गीता में, उपनिषदों में सब कहीं साधक और सिद्ध दोनों के लिये इस शब्द का बार-बार प्रयोग मिलता है। अतः इस पर विचार कर लेना है।

हमारे अनादि वैदिक धर्म में जहाँ द्विजाति का बालक पाँच-सात वर्ष का हुआ कि उसका यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये। यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् उसे नित्य सन्ध्या करना चाहिये। सन्ध्या नित्यकर्म है और ऐसा कर्म है जिसके करने से पुण्य नहीं होता, किन्तु न करने से प्रत्यवाय होता है। तात्पर्य यह है कि बालक को तभी से शास्त्र में, ईश्वर में श्रद्धा करना सिखलाया जाता है और तभी से उसे बिना किसी स्वार्थ के, बिना कामना के निष्काम भाव से प्रतिदिन कुछ मिनट भगवान् के चिन्तन में बिताने का अभ्यास कराया जाता है। सन्ध्या में गायत्री का जप मुख्य है। गायत्री एक प्रकार की प्रार्थना है और वह प्रार्थना है समस्त बुद्धिवृत्तियों के प्रेरक-प्रकाशक परमात्मा से। समष्टि के प्रकाशक अखण्ड ज्ञान का हम ध्यान करते हैं गायत्रीके द्वारा, और प्रार्थना करते हैं कि

'धियो योनः प्रचोदयात्।'

'वह सर्वावभासक परमात्मा हमारी बुद्धि को भली प्रकार प्रेरित करे अर्थात् हम धीर बनावे।' इस प्रकार अपने धार्मिक जीवन के आरम्भ से हम 'धीर' बनने की कामना करते हैं। 'धीर' का अर्थ क्या? महाकवि कालिदास ने थोड़े में इस शब्द का अर्थ बताया है-

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिसके चित्त में विकार न हो, वह धीर है। बहुत सा धन लेने का अवसर हो, किन्तु उसे लेना न्यायसंगत न हो तो लेने की इच्छा मन में न आवे। सुन्दर युवती, परस्त्री प्रेम करती हो तो भी उसके प्रति मन में काम न आवे। बहुत उत्तम भोजन उपस्थित हो, किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर हो या धर्म की दृष्टि से सेवनीय न हो तो उसे भोजन करने को जी न चाहे। कोई अपना तिरस्कार कर दे-हानि कर दे; और उसे दंड देने की शक्ति अपने में हो, तब भी

क्रोध न आवे। इस प्रकार नेत्र से देखना हो या जिह्वा से बोलना हो अथवा कुछ खाना हो, नासिका से सूंघना हो, शरीर से कोई क्रिया करना हो तो सोचकर करे कि उसका करना ठीक है या नहीं। ऐसे पुरुष का नाम धीर है।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥"

उपनिषद् में आया है कि धीर पुरुष इन्द्रियों को प्रिय लगने वाली वस्तु को छोड़ कर उसी का ग्रहण करता है जो अपने लिये परिणाम में कल्याणकारी हो।

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥"—गीता

इन्द्रिय-प्रवृत्ति के पीछे जिसका मन भागता है, उसका मन उसकी प्रज्ञा-विचारशक्ति का इस प्रकार हरण कर लेता है जैसे पानी में नौका को प्रबल वायु। अतएव धीर पुरुष इन्द्रियों के प्रिय पदार्थों का वरण नहीं करते।

अपने जीवन को देखिये कि आप किधर चल रहे हैं! यदि आप इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले भोगों को एकत्र करने में लगे हैं तो अपने जीवन में दुःख के बीज बो रहे हैं। भोग यदि आपको सुखी करते हैं तो आप दुःख की ओर बन्धन की ओर बराबर बढ़ते आ रहे हैं। यदि भोगों के त्याग-निवृत्ति की ओर आप बढ़ रहे हैं तो सुख की ओर-ईश्वर की ओर बढ़ रहे हैं। जो पाकर-भोगकर सुखी होता है, वह जीव है। जो त्यागकर, देकर, खिलाकर सुखी होता है, उसका सुख ईश्वर का सुख है। जो बिना खाये खिलाये, बिना दिये-बिना पाये सुखी है और पाकर-देकर भी सुखी है, वह ब्रह्म है।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥"

श्रुति ने बताया कि ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बाह्यदर्शिनी बना दिया है, इसलिये ये बाहर ही देखती हैं। भीतर अपना अन्तरात्मा इनसे नहीं दीखता। अधर्म का भार पीठ पर लदा है और धर्म हृदय पर है। लोग दिखाते फिरते हैं कि हम धर्मात्मा हैं; किन्तु पीठ पर कितना अधर्म का भार है, यह दीखता ही नहीं। श्रुति कहती है कि ऐसे संसार के लोगों में कोई जो धीर पुरुष होते हैं, वे अपने अन्तरात्मा को देखने में समर्थ होते हैं। भगवान् गीता में कहते हैं—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥"—(२।१४ गीता)

संसार के ये विषय तो तन्मात्राओं के स्पर्शमात्र हैं। सर्दी-गर्मी या सुख-दुःख देने वाले ये सब विषय आने-जाने वाले हैं। जैसे मार्ग में कभी अच्छी सड़क मिलती

है तो कभी धूलभरी पगडण्डी भी आती है। ऐसे ही जीवन के मार्ग में कभी अनुकूलता और कभी प्रतिकूलता आवेगी। इन्हें सहन करलो। जैसे यात्री मार्ग अच्छा होने पर वहाँ रुक नहीं जाता और मार्ग धूलभरा होने पर लौट नहीं पड़ता, वैसे ही सुख-दुःख में आसक्त नहीं होना है।

"यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥"—(२। १५ गीता)

जिसे ये मात्रास्पर्श व्यथा नहीं देते—जो सुख-दुःख में समान है, वह धीर पुरुष है। वह अमृतत्व को प्राप्त करता है अर्थात् अमृतत्व की प्राप्ति के लिये धीर होना आवश्यक है। अमृतत्व के लिये हृदय की पूँजी चाहिये। वह लाल कपड़ा पहिनता है या सफेद, त्रिपुण्ड्र लगाता है या ऊर्ध्वपुण्ड्र, तुलसी की माला पहिनता है या रुद्राक्ष की, इस प्रकार बाह्य वेश का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है धीरता का। संसार में सुख-दुःख तो रथ के पहिये के समान घूमते हैं। कभी एक ऊपर आता है, कभी दूसरा। इनमें समान रहिये।

संसार में जीवन तीन प्रकार का है—१—विकारी २—संस्कारी ३—समाहित। विकारी जीवन अर्थात् भोगपरायण जीवन अपने आप बनता है। यह किसी को सिखलाना नहीं पड़ता। संस्कारी जीवन अर्थात् धार्मिक जीवन। संयम के लिये शिक्षा और प्रयत्न आवश्यक होता है। समाहित जीवन अर्थात् समाधि में स्थिति।

यदि आप विकारी जीवन व्यतीत कर रहे हैं तब तो स्वस्थ हैं ही नहीं, क्योंकि विकार तो अस्वास्थ्य का लक्षण है, और आप संस्कारी जीवन व्यतीत कर रहे हैं तब भी स्वस्थ नहीं हैं, क्योंकि विकार उसमें बीजावस्था में है। यदि आप समाधि में ही रहते हैं, तब भी आपका जीवन एकाङ्गी है। अतएव जीवन में समानता लानी होगी। हमारा जीवन सर्वाङ्गीण-पूर्ण होना चाहिये। केवल समाधिपरायण नहीं और केवल भोगपरायण भी नहीं। जीवन तो दोनों के मध्य में धर्मपरायण रहना चाहिये और उसमें भी दुःख-सुख में समता रहनी चाहिये। स्वस्थ जीवन है समता का—तटस्थता का जीवन। यह तटस्थता का जीवन व्यतीत करनेवाला धीर है।

जब ओंकार के सर्वव्यापी रूप को प्रणवोपासक समझ लेता है, तब धीर हो जाता है और उस धीर के जीवन में शोक प्रवेश नहीं करता—

शोक की निवृत्ति के लिये संसार में कई मार्ग अपनाये जाते हैं। प्रथम मार्ग है भोग का मार्ग। हमको अमुक भोग मिलेगा तो हम सुखी होंगे। हमारा दुःख अमुक वस्तु पाकर मिटेगा। लेकिन अमुक भोग या वस्तु का मिलना तो प्रारब्ध के आधीन है। वह वस्तु मिल भी जाय तो सदा बनी नहीं रहेगी। इन्द्रियों में भोग को भोगने की शक्ति सदा नहीं रहेगी। एक भोग मिलने के बाद ही नीरस होने लगेगा। रसगुल्ला

खाने का बहुत मन था; किन्तु जब मिल गया तो क्या दस-पाँच दिन केवल रसगुल्ला खाकर रहा जायगा ? वह प्रतिदिन मिले तो स्वादिष्ट लगेगा ? अतः भोग से शोक मिटाने का प्रयत्न कभी सफल नहीं होगा। कामपुरुषार्थ शोक दूर नहीं कर सकता।

शोक मिटाने का दूसरा उपाय लोग करते हैं संग्रह करके। बहुत सादा भोजन बहुत सादे कपड़े, बहुत सादा मकान है। कोई नशा-सेवन नहीं करते। काम, क्रोध आदि के विषय में संयमी हैं। लेकिन एक धुन है कि बैंक-बैलेंस बढ़ता रहे। धन आता है तो सुख होता है और जाता है तो जैसे प्राण निकल जाते हैं। लेकिन धन तो प्रारब्ध के अनुसार आवेगी भी और जायगा भी। वह चोर-डाकू के हाथ में न भी पड़े तो सरकार ले लेगी या बैंक फेल हो सकता है। संग्रह से अर्थात् अर्थपुरुषार्थ से शोक दूर होगा, यह धारणा भी मृगमरीचिका ही है।

अपने को श्रम में लगाये रखो, यह भी एक उपाय लोग शोक-निवृत्ति का मानते हैं। श्रम में लगे रहो तो दूसरी सब बात भूले रहोगे। लेकिन कोई कब तक श्रम करता रहेगा ? यह तो नशा-सेवन के समान आवेश में रहना है और आवेश श्रम का हो या नशे का, सदा नहीं बना रह सकता।

एक उपाय कल्पना में रहने का है। मन में कोई उत्तम योजना बनाओ, अच्छी भावना करो, भगवान् का चिन्तन करो तो शोक भूल जाओगे। यह उपासना का मार्ग है। मनोराज्य में, भावना में चले गये तो शोक मिट गया, किन्तु भावना भी सदा टिकी नहीं रहेगी। शरीर ने कष्ट अपनी ओर खींचेंगे ही।

योगी कहते हैं कि समाधि लगा लो। न शरीर और मन का ध्यान रहेगा, न शोक होगा। लेकिन समाधि से उत्थान होगा तब ? समाधि सब समय तो नहीं लगी रहेगी।

इसका अर्थ हुआ कि शोक निवृत्ति का इनमें से कोई व्यावहारिक एवं सफल उपाय नहीं है। शोक व्यावहारिक है, अतः उपाय भी व्यावहारिक चाहिये। रोग की दवा रोगी को मार देना नहीं है। भिक्षुक आने के भय से भोजन बनाना बन्द कर देना कोई उपाय नहीं है। उपाय व्यावहारिक चाहिये।

शोक की निवृत्ति का ठीक उपाय क्या है ? तुम ओङ्कार-प्रतिपाद्य तत्त्व को जान लोगे तो धीर हो जाओगे। तब भोग मिले या न मिले, धन आवे या जाय, दुःख अभाव रहें या मिटें, कर्म हो या न हो, चित्तवृत्ति एकाग्र हो या विक्षिप्त, तुम सबमें समता प्राप्त कर लोगे। तुम जहाँ, जिस अवस्था में, जैसे रहोगे, वहाँ, उस अवस्था में वैसे ही शोकरहित रहोगे। शोक तुम्हें छू नहीं सकेगा। शरीर रहते, व्यवहार में रहते शोकनिवृत्ति का उपाय है।

नाम-रूप के दलदल में फँसा हुआ जीव सहसा नाम रूप को छोड़कर उससे निकल नहीं सकता, इसलिये वेद भगवान् उसे प्रणवरूप नाम का सहारा देते हैं कि इसके सहारे वह इस नाम रूप के दलदल से निकल जाय।

'प्रणवो ह्यपर ब्रह्म' का अर्थ हुआ कि व्यवहार में तुम्हारी जो अवस्था है, वह सारी सब ओंकार है। तुम्हारी जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था तीनों ओंकार है और इन तीनों अवस्थाओं का अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ भी ओंकार है।

यह जितना नाम-रूपात्मक जगत् है, सब ओंकार है। समस्त नाम ओंकार से बनते हैं। अकार ही समस्त वाणी है, यह बात पहिले समझा आये हैं। समस्त रूप भी ओंकार से बनते हैं। क्योंकि जितने रूप बनते हैं, उनमें बिन्दु, रेखा तथा गोलाई यही तीन बातें होती हैं और प्रणव में बिन्दु है, रेखा है तथा उकार एवं चन्द्रबिन्दु में गोलाई है। इसलिये सब रूप भी ओंकार हैं। यह अपर ब्रह्म अर्थात् सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च प्रणव है।

'प्रणवश्च परः स्मृतः' परतत्त्व-तुरीय ब्रह्म जिसमें देश, काल, वस्तु नहीं है, वह भी प्रणव ही है। तात्पर्य यह कि नाम-नामी का भेद नहीं है। एक अखण्ड, परिपूर्ण अद्वैत सत्ता जो चिन्मात्र है, वही प्रणव है।

'अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः।'

उस प्रणव में पहिले-पीछे का भेद नहीं है। बाहर-भीतर का भेद नहीं है, वह अव्यय है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उससे कुछ पहिले होता है, जो वस्तु नष्ट हो जाती है उससे कुछ बाद में रहता है। जिसके पहिले कुछ नहीं, वह अनादि और जिसके पीछे कुछ नहीं वह अनन्त है। प्रणव अनादि अनन्त है और अव्यय है, अर्थात् अविनाशी है। उसके बाहर-भीतर कुछ नहीं अर्थात् वह अद्वैत है। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रणव में से ही निकला है, प्रणव में ही लय होगा और मध्य में भी यह प्रणव रूप ही है।

अब प्रणव और ब्रह्म की एकता कर लो। जाग्रत् अवस्था सत्त्वगुण, विष्णु, विराट्, विश्व इनको प्रणव के अकार से एक कर दो। स्वप्नावस्था, रजोगुण, ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, तैजस इनको प्रणव के उकार से एक कर दो। सुषुप्तावस्था तमोगुण, रुद्र, ईश्वर, प्राज्ञ इनको प्रणव के मकार से एक कर दो। अब जहाँ मकार समाप्त हुआ, उस अमात्र में देखो। वहाँ सत्त्व-रज-तम नहीं है, विश्व-तैजस प्राज्ञ नहीं है, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर नहीं है, वहाँ द्रष्टा-दर्शन-दृश्य नहीं है। वही प्रणव है। वही तुम्हारा आत्मा है।

यह समूची सृष्टि अपने अत्यन्ताभाव वाले अधिष्ठान में ही भास रही है। यही माया है। रस्सी में साँप एकदम नहीं है; किन्तु वह रस्सी में प्रतीत होता है। अनन्त,

निराकार, निर्गुण, निर्धर्मक, अद्वितीय, अखण्ड सत्ता में ही ये छोटे-छोटे आकार प्रतीत हो रहे हैं। इसीसे यह दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या है; क्योंकि जहाँ है नहीं, उसमें प्रतीत हो रहा है। इसीका नाम विवर्तवाद है।

यह जो कुछ दीख रहा है, सबका आदि वही तुरीय तत्त्व है। वही चिन्मात्र सन्मात्र ब्रह्म प्रणव सबका अन्त है और जो आदि और अन्त में रहता है, मध्यमें भी वही होता है। जैसे घड़ा बनने से पहिले मिट्टी के रूप में था और फूटकर मिट्टी रह जायगा तो जब वह घड़े के रूप में है, तब भी मिट्टी ही है।

यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है-प्रणव है। अब अपनी ओर देखो। इन्द्रियों से बाहर देखनेवाला, चखनेवाला, छूनेवाला, रस लेनेवाला, सुननेवाला कौन ? सङ्कल्प। प्राण की उपाधि में सङ्कल्प की क्रिया होती है। अब सङ्कल्प और प्राण की उपाधि को हटाओ तो अज्ञान और अज्ञान को भी दूर करने पर जो रह जाता है, वही प्रणव है, वही आत्मा है। वही जगत् के मूल में भी अधिष्ठान रूप से है। अतः तुम अपने को जो पृथक्-परिच्छिन्न समझते हो, यही अज्ञान है।

अपने से भिन्न जगत् का कारण मानोगे तब केवल श्रद्धा से ही उसे चेतन कह सकते हो; अन्यथा वह जड़ होगा या बौद्धों के समान शून्य होगा। जो लोग आत्मानुभूति के अनुसार ही विचार करते हैं, शास्त्रप्रमाण नहीं मानते, उनको अपना आत्मा तो चेतन ज्ञात हो जाता है; किन्तु जगत् का कारण चेतन है, यह ज्ञात नहीं होता। जैसे जैन आत्मा को चेतन मानते हैं, किन्तु जगत् का कारण उन्हें शून्य लगता है। सांख्य आत्मा को चेतन और जगत् के कारण को जड़ मानता है। कर्ममीमांसा (पूर्व मीमांसा) कर्ता को तो चेतन मानता है; किन्तु जगत् का कारण कर्म, जो जड़ द्रव्याश्रित है, मानता है। भक्ति सिद्धान्त में जगत् का कारण चेतन मानते हैं; किन्तु श्रद्धा के कारण मानते हैं।

अनुभूति के आधार पर सम्पूर्ण जगत् के कारण रूपमें मैं ही हूँ, क्योंकि मेरे बिना किसी का अनुभव नहीं होता और मैं न जड़ हूँ, न शून्य हूँ, न कर्म हूँ। मैं चेतन हूँ यह बात वेदान्त सिद्धान्त कहता है। अतः वेदान्त का सिद्धान्त अनुभवारूढ सिद्धान्त है।

उपनिषद् ने बताया कि सबके आदि में प्रणव था, अन्त में प्रणव रहेगा और मध्य में भी प्रणव ही है। इसकी कल्पना मत करो, विचार करो। सबकी प्रतीति के पूर्व तुम थे। सबकी प्रतीति मिट जाने पर भी तुम रहते हो; क्योंकि प्रतीति का मिटना तुम्हें ज्ञात होता है अतएव प्रतीति के रूप में भी तुम्हीं हो। तुम्हीं प्रणव हो।

श्रुति कहती है कि-'नासदासीन्नोसदासी' न पहिले सत् था, न असत् था। जागने से पूर्व सुषुप्तिमें जगत् की प्रतीति नहीं थी, जागना समाप्त होनेपर पुनः सुषुप्ति में

यह प्रतीति नहीं रहेगी । 'मैं' जब तक स्फुरित होता है, तभी तक सृष्टि स्फुरित होती है । अतः सम्पूर्ण सृष्टि का मूल 'अहम्' है ।

जहाँ प्रणव का सिरा–मकार की समाप्ति है, वहाँ 'इदम्' और 'अहम्' दोनों समाप्त हो जाते हैं । प्रणव के इस रूप को जानकर उसमें एकरूप हो जाता है ।

जगत् में जितने मत हैं वे केवल तीन बातों का विचार करते हैं–१–मैं क्या हूँ ? २–जगत् क्या है ? ३–जगत् का कारण परमात्मा क्या है–? विचार के लिये कोई चौथी वस्तु नहीं है । वैज्ञानिक जगत् का विचार करते हैं, भक्त ईश्वर का विचार करते हैं और दार्शनिक 'अहं' का विचार करते हैं ।

वैज्ञानिक जड़ में से चेतन की उत्पत्ति मानते हैं । भक्त चेतन परमात्मा से जड़ की उत्पत्ति मानते हैं । लेकिन ये तीनों तब तक हैं जब तक 'अहम्' की स्फुरणा है । अतएव 'सर्वोत्तमाहमतिशून्यनिष्ठा ।' अर्थात् 'अहम्' बुद्धि मिट जाय तो सब बखेड़ा मिट जाय । 'अहं बुद्धि' अर्थात् परिच्छिन्नदेहात्म–बुद्धि, यह जहाँ अपरिच्छिन्नात्म ज्ञान से दूर हुई सब झंझट समाप्त । यह नित्यमुक्त है ।

यह मुक्ति भी कई प्रकार की मानी जाती है; किन्तु तीन ही भेद हैं मोक्षके– एक में अपना रूप बना रहता है, एक में अपना अलग रूप नहीं रहता, और एक उभयात्मक है । भक्त लोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य और सार्ष्टि यह पाँच प्रकार का मोक्ष मानते हैं ।

सालोक्य–भगवान् के लोक में किसी भी रूप में रहना ।

सामीप्य–माला, आभूषणादि बनकर भगवान् के समीप रहना ।

सारूप्य-भगवान् के समान ही रूप पाकर पार्षद होना ।

सायुज्य–भगवान् में भेदसहिष्णु अभेद के रूप में रहना ।

सार्ष्टि–ब्रह्मा के समान सृष्टि बनाने की शक्ति प्राप्त कर लेना ।

जड़वादी देह की मृत्यु को ही मुक्ति मानते हैं । योगी विवेक की ख्याति होने से– 'सत्त्वान्यता ख्याति'-प्रकृति पुरुषके अविवेक की निवृत्तिमें मुक्ति मानते हैं । कर्मी लोग, पार्थसारथि मिश्र ने '*प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः*' अर्थात् *प्रपञ्च भले बना रहे,* किन्तु उससे अपना सम्बन्ध न रह जाय–इसे मोक्ष माना है ।

ये सब जितनी भी मोक्ष के रूप की मान्यतायें हैं वे तीन भेदों के अन्तर्गत आ जाती हैं । सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि ये ऐसे मोक्ष हैं, जिनमें अपना रूप बना रहता है । इसी प्रकार सांख्य योगादि के मोक्ष में भी अपना स्वरूप–जीव का व्यक्तित्व बना रहता है । सायुज्य उभयात्मक है, और बौद्धों का शून्यभाव अरूप मोक्ष है ।

मुक्ति के इन तीनों प्रकारों का विवेक करने वाली बुद्धि ही है। जब ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से यह भी बाधित हो जाती है तब अद्वितीय आत्मस्वरूप ही रहता है—इसी को कैवल्य कहते हैं। यही अद्वैत वेदान्त की मुक्ति है।

जो भी मोक्ष पाया जायगा, वह नित्य नहीं होगा। उसमें से पुनः आना सदा सम्भव रहेगा। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्यादि प्राप्त मुक्त लोग भी भगवान् की इच्छा से जन्म लेते हैं, यह बात सभी भक्ताचार्य मानते हैं। लेकिन जहाँ मोक्ष अपना स्वरूप है, वहाँ बन्धन का भ्रम निवृत्त हो गया तो वह नित्यमुक्त है।

यह कैवल्य मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के ज्ञान से नहीं होता। ईश्वर की प्राप्ति से नहीं होता। समाधि से नहीं होता। केवल 'तत् पदार्थ' परमात्मा को या केवल 'त्वं पदार्थ' अपने आपको जान लेने से नहीं होता। यह होता है आत्मा और परमात्मा —'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थ के एकत्व के ज्ञान से और यह एकत्वज्ञानरूप वृत्ति भी तत्काल बाधित हो जाती है। इस प्रकार प्रभव को जो जान लेता है वह 'ब्यश्नुते तदनन्तरम्' वह स्वयं प्रणवरूप हो जाता है। 'वह' और 'मैं' का भेद वहाँ रह नहीं जाता।

विचार करें कि मनुष्य का सार्वभौम धर्म क्या हो सकता है? धर्म का विचार करते समय पहले दृष्टि क्रिया पर जाती है। हमारे शरीर से ऐसी क्रिया होनी चाहिये, जिससे किसी की कोई हानि न हो। लेकिन क्रिया इच्छा से सञ्चालित होती है, अतः हमारे मन में ऐसी कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिये, जिससे दूसरे की कोई हानि हो। क्योंकि इच्छा की शुद्धि के बिना क्रिया की शुद्धि नहीं होगी। इच्छा की-सङ्कल्प की शुद्धि कैसे हो? यह तभी शुद्ध होगी जब हम अनेकता में एकता देखेंगे। मनुष्य मनुष्य में, जातियों में, धर्मों में, भाषाओं में, राष्ट्रों में जब तक अनेकत्व बुद्धि रहेगी, तब तक किसी से राग होगा—किसी से द्वेष होगा। तब तक न इच्छा शुद्ध होगी, न क्रिया शुद्ध होगी। इन सब की अनेकता में कोई एकता स्थापित करनी होगी। इस लिये हमारा ध्यान उस वस्तु पर जाना चाहिये जो समस्त अनेकताओं के रहते भी अनेक नहीं है, सब में एक है। उस एक का ध्यान ही हमारे मन को शुद्ध कर सकता है। अतएव सार्वभौम धर्म कोई हो सकता है तो वह पूर्ण ब्रह्म-परमात्मा का चिन्तन ही है।

जो सदा के लिये अज्ञान, अभाव, आलस्य, संघर्ष, प्रमाद, मेरा तेरा भाव तथा उससे उत्पन्न वैमनस्य मिटा दे, वही सार्वभौम धर्म होगा। वह परमात्मा ही है। वह एक अभेद का चिन्तन ही है। क्योंकि जहाँ हमने एक घेरा बनाया, एक सीमा में अपने को बाँधा, वहाँ मेरा-तेरा का भेद उत्पन्न हुआ, और यह भेद आवेगा तो राग द्वेष भी आवेगा ही। अतः संसार के कल्याण के लिये और चित्त की शुद्धि के लिये अखण्ड अनन्त परमात्मा का चिन्तन ही सार्वभौम धर्म है। परमात्मा के चिन्तन के लिये

आलम्बन चाहिये, क्योंकि आलम्बन के बिना चित्त स्थिर नहीं होता। वह ऐसा आलम्बन चाहिये कि उस के द्वारा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का हम चिन्तन कर सकें। ऐसा आलम्बन प्रणव है। इस प्रणव के तीन अक्षरों से स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत् का ग्रहण हो जाता है और अमात्र से तुरीय तत्त्व परमात्मा का संकेत भी हो जाता है।

अब प्रातःकाल, सायंकाल और व्यवहार करते हुए भी तुम प्रणव के द्वारा परमात्मा का चिन्तन करो। इससे तुम्हारे हृदय की शुद्धि होगी। इच्छा की शुद्धि परमात्मा के चिन्तन से होती है, क्रिया की शुद्धि विश्वात्मा की सेवा से होती है और बुद्धि की शुद्धि परमात्म-बोध से होती है। यही सार्वभौम धर्म है। इसमें देश, जाति, सम्प्रदाय का भेद नहीं है। परमात्मा का चिन्तन, परमात्मा का स्मरण यह सामान्य धर्म है। अपने सम्प्रदाय, जाति, देश आदि के विशेष धर्मों का पालन करते हुए यह सामान्य धर्म सब के लिये पालनीय है।

इस परमात्म-स्मरण के लिये प्रणव सब से पूर्ण नाम है। यह निर्भय ब्रह्म है—'प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।' जहाँ हम अपने स्वरूप से च्युत होते हैं, वहाँ भय की उपस्थिति होती है। 'भय द्वितीयाभिनिवेशात् स्यात्' अपने पराये का भेद हुआ और भय का कारण उपस्थित हो गया। यह भेद होता है अपने हृदय में स्थित ईश्वर को भूल कर उससे विमुख हो जाने से। अतः भय की निवृत्ति के लिये ईश्वर के सम्मुख होना है, उसे स्मरण करना है। इसलिये प्रणव का स्मरण करना है, क्योंकि यह पूर्ण ब्रह्म का बोधक है। यह प्रणव निर्भय ब्रह्म का स्वरूप है। प्रणव में जिस का चित्त सदा लगा है, उस के लिये कहीं कोई भय नहीं रह जाता। उस के लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में कहीं भय नहीं है।

प्रणव में चित्त लगाने का तात्पर्य पहिले विस्तार से बताया जा चुका है कि अपने को देह में परिच्छिन्न मत देखो। अकार के उच्चारण के साथ भाव करो कि मैं विश्वात्मा हूँ, उकार के उच्चारण के साथ सूक्ष्म समष्टि रूप हिरण्यगर्भ अपने को देखो और मकार के साथ कारण समष्टि रूप ईश्वर देखो और फिर तीनों से परे अमात्र-तुरीय परमात्मा में स्थित हो जाओ। इस प्रकार परिच्छिन्नता के अभिमान को समाप्त कर दो।

प्रणव अपर ब्रह्म है और प्रणव ही पर ब्रह्म है अर्थात् कार्य-कारण हेतु फलात्मक ब्रह्म है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति प्रणव है, स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रणव है और इन से परे तुरीय तत्त्व भी प्रणव है। प्रणव में आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं है। यह सम्पूर्ण है। इस बात को समझना चाहिये।

जगत् के सम्बन्ध में विचार करते हुए सांख्य शास्त्र जगत् को सत्य तो मानता है, किन्तु शरीरों के भेद को सत्य नहीं मानता। वे कहते हैं कि एक केवल कार्य ही है, वह किसीका कारण नहीं बनता. यह कार्य पञ्चभूत है। ये पञ्चभूत किसी के कारण नहीं

है। पञ्चभूत में जो आकार-भेद हैं, नाम-रूप हैं, यह सांख्य के मत से भी मिथ्या हैं-प्रतीतिमात्र हैं। पञ्चभूत पर्यन्त ही कार्य है। प्रकृति का कारण कुछ नहीं, वह केवल कारण है। सर्वकारण प्रकृति और सम्पूर्ण कार्य पञ्चभूत, इनके मध्य की अवस्था कार्य कारण उभयात्मक अर्थात् प्रकृति-विकृति है। यह तीन तत्त्व और चौथा तत्त्व पुरुष। पुरुष अनेक है, चेतन है। वह न कार्य है, न कारण है। अब इन चार में से मूल-तत्त्व केवल दो हैं-प्रकृति और पुरुष, क्योंकि प्रलय के समय प्रकृति के कार्य उसमें लीन हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध है तत्त्वाविवेक।

अब भागवत दृष्टि से विचार करें तो प्रकृति और पुरुष ये दोनों भी नित्य हैं। वस्तुतः चेतन और प्रकृति का भी एक पूर्ण पदार्थ है ब्रह्म। इसमें भोक्ता है जीव, भोग्य है प्रकृति और प्रेरिता है ईश्वर। ये तीनों एक दृष्टि से ब्रह्म हैं और व्यवहार दृष्टि से तीन हैं। जैसे अनार ऊपर से एक होता है और भीतर बीज, रस तथा छिलका तीन वस्तुएं होती हैं, तीनों के सम्मिलित रूप को अनार कहते हैं। वैसे ही जीव, प्रकृति, ईश्वर का सम्मिलित रूप ब्रह्म है। इसका अर्थ है कि कार्यावस्था में जीव, प्रकृति, ईश्वर का भेद रहता है और कारणावस्था में अभेद है। यह विशिष्टाद्वैत मत हुआ। उपासना के अन्य सिद्धान्तों में अनेक भेद हैं। प्रकृति को कोई ईश्वर की अचिन्त्य माया शक्ति मानते हैं और इसलिये ईश्वर से अभिन्न मानते हैं।

अद्वैत वेदान्त का निरूपण इन सबसे विलक्षण है। यहाँ कार्य-कारण का भेद वास्तविक नहीं, कल्पित माना जाता है। जगत् अध्यारोपमात्र है। तत्त्व दृष्टि से सब परमात्मा ही है।

'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।'—गीता

यह परमात्मा ही कार्य एवं कारण दोनों के रूप में प्रतिभासित हो रहा है, इसलिये प्रणव ब्रह्मरूप होने से कार्यरूप भी है और कारण रूप भी तथा तुरीय परमात्मा भी है।

प्रणव का केवल उच्चारण करने की बात यहाँ नहीं कही जा रही है। केवल क्रिया से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। केवल क्रिया में लगे रहने से जब तक क्रिया चलती रहेगी, उतने ही समय तक अन्तःकरण शुद्ध रहेगा, व्यवहार में आने पर फिर अशुद्ध हो जायगा। प्रणव का जप या प्रणव के ध्यान से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। प्रणवार्थ का विचार-चिन्तन करना होगा।

ये चारों बातें जो ब्रह्म के सम्बन्ध में कही गई थीं, अब प्रणव के लिये कह रहे हैं। इसे समझना चाहिये। अपूर्व, अनन्तर, अबाह्य और अनपर प्रणव है। उसके पूर्व या पीछे कुछ नहीं। उसके भीतर-बाहर कुछ नहीं। वह अविनाशी है, पूर्ण है।

चारों वेद कण्ठस्थ, किन्तु वेदार्थ न जानते हों तो लाभ? केवल दूसरों को पढ़ा सकते हो, परन्तु तुम्हारा उद्धार तो नहीं हुआ, इसी प्रकार प्रणव के केवल जप या ध्यान से कुछ नहीं होगा। उसके स्वरूप का चिन्तन करना होगा।

'अपूर्वो' इससे पहिले कोई नहीं और 'अनन्तरो' इसके पीछे कोई नहीं। अर्थात् इसका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं है। यह कालपरिच्छिन्न नहीं है। यदि कहो कि यहाँ इस समय ब्रह्म नहीं है तो ब्रह्म में टुकड़ा हो गया और वह कहीं छिपा हुआ हो गया। अतः वह वर्तमान में भी है, देश-काल से अपरिच्छिन्न है। 'अबाह्यो' उसके बाहर कुछ नहीं-भीतर कुछ नहीं। क्योंकि बाहर जो है वह ब्रह्म नहीं मानोगे तो उसमें टुकड़े होंगे। अतः वह देश-अपरिच्छिन्न है। 'अनपर' उससे भिन्न और कुछ नहीं अर्थात् वह वस्तु से अपरिच्छिन्न अद्वय है और 'अव्यय' अविनाशी है। वह अभी है, यहीं है, इसी रूप में है। वक्ता, श्रोता सब ब्रह्म। उस ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं। ब्रह्म ही प्रणव है। इस प्रकार प्रणव को जानना पड़ेगा। प्रणव के इस अर्थ का चिन्तन करना होगा। ओंकार स्वरूप परमात्मा सबके हृदय में स्थित है, यह बात जब अधिकारी पुरुष जान लेता है, तब उसके सम्पूर्ण शोक की निवृत्ति हो जाती है।

अब यहाँ पुरुष के अधिकार की बात आती है और वेदान्त में अधिकार साधन-चतुष्टय से माना जाता है। इसको समझ लेना चाहिये। किसान जब अन्न उत्पन्न करना चाहता है, तब खेत में बीज डालता है अर्थात् अन्न का त्याग करता है। व्यापारी लाभ उठाना चाहता है तो पहिले रुपया लगता है। इसी प्रकार बड़े लाभ के लिये छोटे स्वार्थ को छोड़ना पड़ता है। हम तत्त्वज्ञान चाहते हैं तो देह का ममत्व, देह के स्वार्थ की उपेक्षा करनी पड़ती है। इसीका नाम वैराग्य है।

शास्त्र में भी है और बहुत से लोग मानते भी हैं कि तत्त्वज्ञान का अधिकार ब्राह्मण को ही है और ब्राह्मणों में भी सन्यासी को ही है। लेकिन यहाँ न जन्मना ब्राह्मण की बात है, न वेश से सन्यासी होने की बात। वैदिक यज्ञ-यागादि करना हो तो जन्मना ब्राह्मण होना चाहिये, किन्तु तत्त्वज्ञान के लिये जन्मना ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं है। जो जन्म से ब्राह्मण है और उनमें जिन्होंने सन्यास-दीक्षा ले ली है, वे सब तत्त्वज्ञानी नहीं हो गये हैं। अतः यहाँ तो गुण से ब्राह्मण होने की बात है। ब्राह्मण के गुण आने चाहिये।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता (१८।४२)

ब्राह्मण के ये गुण आवेंगे और सन्यासी की वृत्ति आवेगी निष्परिग्रह, निर्मोहता आवेगी तब तत्त्वज्ञान का अधिकार होगा। गुण से ब्राह्मण, गुण से सन्यासी होना चाहिये। वेश से और जन्म से वह किसी वर्ण, किसी भी वेश में हो, कोई अन्तर

नहीं पड़ता। भगवान् को पाने में जाति का बन्धन नहीं और वेश का बन्धन नहीं। भगवान् को पाना संसार की सम्पत्ति और पद को पाने की अपेक्षा सरल है। क्योंकि भगवान् को पाने में कोई बाधा-बन्धन नहीं है। वहाँ तो गुण से ब्राह्मणत्व चाहिये और सर्वकर्मसमर्पणरूप संन्यास चाहिये। इस संन्यास के बिना भगवान् नहीं मिलते, किन्तु वेश से संन्यास लेना सर्वथा आवश्यक नहीं है। 'त्यागः. सन्यास लक्षणम्' भागवत में भगवान् ने बताया कि संन्यास का लक्षण है त्याग। 'मेरा सब कुछ प्रभु का' यह त्याग ही सन्यास है। स्त्री हो या पुरुष हो, गृहस्थ हो या साधु हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो, जिसके हृदय में परमात्मा को पाने की तीव्रेच्छा है, और जो संसार की ओर से अपनी चित्तवृत्ति हटाकर भगवान् की ओर लगा रहा है, वह भगवत्प्राप्ति का अधिकारी है।

भगवत्प्राप्ति में जन्मगत असम्भावना, वर्णगत असम्भावना मत करो और भोगगत तथा कर्मगत असम्भावना भी मत करो। हम ऐसे भवन में रहते हैं, ऐसे कपड़े पहिनते हैं तो भगवान् कैसे मिलेंगे, यह मत सोचो। सब भोग भगवान् को अर्पित करके भगवत्प्रसाद मानकर सेवन करो। इसी प्रकार अपने कर्मों के विषय में मत सोचो कि मैंने इतने पाप किये, इतने अपकर्म किये, तो मुझे भगवान् कैसे मिलेंगे? भगवान् पतित पावन हैं। वे तो कहते हैं कि—

'सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' —गीता

यही बात ज्ञान के सम्बन्ध में भी है—

'अपि चेदसि पापेभ्यो सर्वेभ्यो पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सतरिष्यसि॥' —गीता

जिनमें बुद्धि नहीं है, समझने की शक्ति नहीं है, उनके लिये भी ज्ञान का द्वार बन्द नहीं है। उन्हें गुरुजनों से सुनकर वैसी धारणा बनानी चाहिये।

'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥' गीता

एक असम्भावना यह होती है कि हमारा चित्त एकाग्र नहीं होता। लेकिन अद्वैत वेदान्तियों का तो कहना है कि समाधि में परमात्मा का साक्षात्कार होता ही नहीं। समाधिजन्य प्रज्ञा तो ज्ञान में हेतु है। अविद्या की निवृत्ति तो ब्रह्माकार वृत्ति से होती है और समाधि में कोई वृत्ति रहती नहीं, अतः समाधि में परमात्मा का ज्ञान नहीं होता। जितना अज्ञान लेकर समाधि लगाई, समाधि टूटने पर उतना ही अज्ञान रहेगा। समाधि से अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें परमात्मा के विचार का

उदय हो तो ज्ञान होगा। इसलिये तत्त्वज्ञान में एकाग्रता न होना बाधक नहीं है और भक्ति में तो भगवान् की लीला का चिन्तन करने में मन को पूरा चंचल रहने का अवसर है।

यह तीन बातें बहुत गम्भीरता से स्मरण रखने योग्य हैं—

१–परमात्मा की प्राप्ति को दुर्लभ मत मानो। क्योंकि दुर्लभ मान लोगे तो स्वयं अपने लक्ष्य को अपने से दूर कर दोगे। उसे अत्यन्त सुलभ समझो। जब यह बात समझ में आगई कि यह सब ईश्वर है तो उसकी प्राप्ति में देर क्यों है? इसलिये है कि आप इस बात को जानते नहीं। उद्देश्य–दुर्लभत्व एक बड़ी बाधा है, अतः दुर्लभ मत मानो उद्देश्य को।

२–स्वदोषानुसन्धान–अर्थात् भगवान् की दया, कृपा, असीम शक्ति, पतित पावनता को न देखकर अपनी ओर देखना कि मैं साधन हीन हूँ, पापी हूँ, मैं कैसे भगवान् को पा सकता हूँ, यह दूसरी बड़ी बाधा है। अपनी तुच्छता, अपने पाप, अपनी साधनहीनता मत देखो। अपनी ओर नहीं, भगवान् की ओर देखो। विमुख मत बनो ईश्वर से, उसके सम्मुख हो जाओ। अपने दोष–दुर्गुण की बात मत सोचो, भगवान् के गुण सोचो। भगवान् का अनुसन्धान करो।

३–भगवान् को साधन–साध्य मानना तीसरा विघ्न है। इतने जप से, इतने ध्यान से, अमुक अनुष्ठान से हम भगवान् को पा लेंगे यह धारणा अपने अहंकार को पुष्ट करती है। भगवान् मिलेंगे तो अपनी कृपा से मिलेंगे। वे कृपा–साध्य हैं, साधन साध्य नहीं हैं। कोई क्रिया या कोई व्यक्ति भगवान् को पकड़कर लाकर हमें दे देगा, यह सर्वथा भ्रम है।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"

जिसे वह स्वयं वरण करे, उसी को मिलता है। तात्पर्य यह कि परमात्मा की प्राप्ति के सम्बन्ध में तुम्हारे मन में कोई भी असम्भावना हो कि अमुक कारण से हमें परमात्मा नहीं मिल सकता तो उसे दूर कर दो। परमात्मा की प्राप्ति क्या है, यह मैं पहिले बता चुका हूँ। प्राणिमात्र सुख चाहते हैं–ऐसा सुख जो सदा, सर्वत्र रहे और कभी नष्ट न हो। वह अविनाशी नित्य सुखस्वरूप परमात्मा ही है। सब उस परमात्मा को ही चाहते हैं। यह भ्रम है कि हमारा राग संसार में है। संसार के किसी पदार्थ में हम स्थिर राग कहाँ करते हैं? जैसे गंगाजल बहता जा रहा है, पर भ्रम है कि यह वही धारा है जो कल देखी थी, उसी प्रकार संसार में राग का भ्रम है। इसलिये यह भ्रम छोड़ दो कि हमारा राग संसार में है, हमें ईश्वर कैसे मिलेगा? ईश्वर की ओर चल पड़ो और जहाँ से तुम चलोगे, ईश्वर वहीं है। उसे ढूढने बाहर जाओगे तो भटकोगे। वह तो तुम्हारे भीतर ही है—

"ईश्वरः सर्व भूताना हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति।"—गीता

उसे ढूँढ़ने कहीं जाना नहीं है। वह तो तुम्हारा स्वरूप है। तुम्हारा अपना आपा है। 'अमृतस्यपुत्राः' तुम अमृत के पुत्र हो। पुत्र नहीं, स्वयं अमृत हो। तुम नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो। तुमको बाँधा किसीने नहीं। जैसे धोबी गधे को खूटे के पास खड़ा करके पैर में रस्सी लगाये बिना बाँधने की भाँति हाथ घुमा देता है और गधा मान लेता है कि मैं बँध गया, चुपचाप खड़ा रहता है, इसी प्रकार बन्धन का तुम्हें भ्रम हो गया है।

मतों के चक्कर में मत पड़ो। वेद कहता है—'चरैवेति' चलो! तुम्हें अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत जो ठीक लगे, उससे चलो। नदी पार होने के लिये एक नौका चाहिये। नौका के रंग-रूप को देखना व्यर्थ है। तुम किसी मार्ग से चलो, परमात्मा की प्राप्ति होने पर सत्य स्वयं विदित हो जायगा।

यह हड्डी-मांस-चर्म के देह में ममत्व करके जो बैठे हो इसे छोड़ो। मुझे धन मिलने से सुख होगा, स्त्री मिलने से सुख होगा, पुत्र से सुख होगा, इस प्रकार विषयों में सुख होने की धारणा दूर करो। परमात्मा की प्राप्ति होने पर ये सब हृदय की गाँठें दूर हो जाती हैं। फिर दुःख स्पर्श नहीं करेगा, शोक स्पर्श नहीं करेगा, भय स्पर्श नहीं करेगा। अतः पहिले उस परमात्मा को जानो।

"सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति" में 'धीर' कहने का अर्थ है साधन-सम्पत्ति-सम्पन्न। क्योंकि सत्य का साक्षात्कार करना हो तो राग-द्वेष रहित होना चाहिये। जहाँ राग होता है उसके दोष नहीं दीखते, और जहाँ द्वेष होता है उसके गुण नहीं दीखते। सत्य के दर्शन में राग-द्वेष दोनों ही बाधक हैं।

"कंकड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा, ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा॥"

सृष्टि में 'मेरा' क्या है? जो पृथ्वी, जो धन, जो नोट आज तुम्हारा है, कल दूसरे के हाथ में जायगा। जो मिलने से पहिले तुम्हारा नहीं, जाने के बाद तुम्हारा नहीं, वह मध्य में तुम्हारा कहाँ से होगा? यही बात स्वर्ग के सम्बन्ध में, देह के सम्बन्ध में भी है। अतः विवेक करो कि नित्य क्या है? जो स्वतःसिद्ध नित्य वस्तु है, वह सांसारिक पदार्थ या श्रम के मूल्य पर तो मिलेगी नहीं। उसके लिये विवेक करना है। इसलिये कर्म से प्राप्त वस्तु का विवेक करके सत्य के जिज्ञासु को उससे वैराग्य करना है।

आत्मा-अनात्मा, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य, पवित्र-अपवित्र का विवेक करो। विवेक करके जो नित्य, सत्य, पवित्र आत्मा है, उससे प्रेम करो और अनित्य, असत्य, अपवित्र अनात्मा को छोड़ो—उससे वैराग्य करो। यह साधन-सम्पत्ति है। यह हमारे जीवन में आनी चाहिये। वैराग्य का अर्थ राग-द्वेष दोनों अर्थात् अनात्मा में, संसार में हमारा न राग हो, न द्वेष हो। वैराग्य का अर्थ संसार से घृणा या शत्रुता नहीं है।

ये राग और द्वेष दोनों त्याज्य हैं।

एक बात और, वेदान्त विचार के समय कहीं ऐसा न हो कि आप कुछ शब्दों के जाल में ही उलझ जायें। विवेक, वैराग्य, अध्यास, प्रतीति आदि शब्दों को समझें और उनके अर्थ को अपनी बुद्धि में बैठाकर तत्त्व का विचार करें।

साधन चतुष्टय के दो साधन हो गये विवेक और वैराग्य। मुमुक्षा का अर्थ आप जानते ही हैं कि संसार में जो दुःख दीखता है, जन्म-मरण दीखता है, उससे छूटने की इच्छा। तीसरा साधन है साधन-सम्पत्ति। अब इसका विचार करें।

'शान्तो दान्तउपरस्ततितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।'

यह श्रुति कहती है। साधन-सम्पत्ति छः मानी गई हैं। इनमें से—

१. शान्त-इसका अर्थ है अपने मन को शान्त करो। अर्थात् मन में काम, क्रोध लोभादि की जो वृत्तियाँ हैं उनको दूर करो। क्योंकि मन में काम, क्रोधादि का आवेग होगा तो मन अशान्त रहेगा और तत्त्व का विवेक नहीं हो सकेगा।

२. दान्त-इसका अर्थ है कि इन्द्रियों को वश में करो। मन को शान्त रखना ही पर्याप्त नहीं है, इन्द्रियों को भी नियन्त्रण में रखो। शास्त्र-मर्यादा के प्रतिकूल भोग तो निषिद्ध हैं, उनकी चर्चा ही व्यर्थ है; किन्तु शास्त्र-विहित भोग में भी संयम रखो। अपने न्यायार्जित धन, अपनी पत्नी का भी उपभोग कम करो। इन्द्रियों को वश में करो।

३. उपरत अर्थात् बहुत प्रवृत्ति से उपराम होना चाहिये। मन शान्त है, इन्द्रियों से भोग भी कम करते हैं; किन्तु प्रवृत्ति बहुत है—कर्म बहुत करते हैं तो भी कहाँ अवकाश है तत्त्वविवेक के लिये। अतएव बहुत प्रवृत्ति भी छोड़नी चाहिये।

४. तितिक्षु—शरीर पर आये क्लेश सहन करने की शक्ति होनी चाहिये। क्योंकि सर्दी गर्मी आती ही रहेगी। अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलेगी ही। सदा अपने अनुकूल ही परिस्थिति रहे, यह हो नहीं सकता। प्रतिकूलता से व्याकुल हो जाओगे तो विचार नहीं रहेगा। अतएव प्रतिकूलता सह लेने की शक्ति चाहिये।

५. समाहित—मन में एकाग्रता हो। बहुत मनोराज्य न होता हो अन्यथा विवेक होगा ही नहीं। अतः चित्तवृत्ति शान्त रखो। सिद्धि-चमत्कार आदि की भी इच्छा मत करो।

६. श्रद्धा—परमार्थ के मार्ग में श्रद्धा पाथेय है। इस के बिना प्रगति नहीं हो सकती। शास्त्र एवं गुरु के वचनों में श्रद्धा होनी चाहिये। शान्त होने—काम क्रोध आदि की निवृत्ति के लिये, दान्त होने—इन्द्रिय संयम के लिये, उपरत होने के लिये, प्रवृत्ति को कम करने के लिये, तितिक्षु होने और समाहित होने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा अभिमान को निवृत्त करती है। श्रुति कहती है—

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'

अर्थात् गुरु पर श्रद्धा करने वाला ही समझ सकता है। अप्राप्त अथवा अनुत्पन्न वस्तु की प्राप्ति या उत्पत्ति के लिये तो क्रिया एवं श्रम करना पड़ता है; किन्तु जो वस्तु नित्य-प्राप्त है, हमारे पास है, और हम उसे पहचानते नहीं हैं, उसको तो कोई बताने वाला ही चाहिये। उसकी प्राप्ति में न क्रिया आवश्यक है, न श्रम, न अभ्यास। वह तो किसी के बताने से मिलेगी। अतः 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' श्रुति ने कहा। इस मार्ग में तो गुरु पर श्रद्धा अवश्य ही होनी चाहिये।

ये षट्-सम्पत्ति हैं। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षा ये साधन-चतुष्टय वेदान्त ने माने हैं। भक्ति मार्ग में श्रीरामानुजाचार्यजी साधन-सप्तक कहते हैं १-विवेक २-विमोक ३-अभ्यास ४-कल्याण ५-क्रिया ६-अनवसाद और अनुद्धर्ष। इनमें से यहाँ विवेक का अर्थ तत्त्व-विचार नहीं है। विवेक का अर्थ भोजन का विवेक अर्थात् भोजन में स्वरूप-दोष, संसर्ग-दोषादि न हों, यह विचार रखना। विमोक-अनुचित वस्तुओं-असाधन का त्याग। अभ्यास-अपने ध्यान-मानसिक पूजनादिको करना। कल्याण-भगवान् के द्वारा ही अपना कल्याण मानना-भगवत्प्राप्ति में ही कल्याण समझना। क्रिया-पूजनादि की क्रियाओं को करते रहना। अनवसाद-अधिक दुःखी न होना। अनुद्धर्ष-सांसारिक भोगों को पाकर बहुत प्रसन्न न होना।

इस प्रकार 'मत्वा धीरो न शोचति' में 'धीर' पद का अर्थ है साधन-चतुष्टय सम्पन्न पुरुष। वह ओङ्कार का मनन करके, उसके सर्वव्यापी रूप को जानकर शोक से पार हो जाता है।

यहाँ ओङ्कार उपलक्षण है। प्रत्येक उपासक अपने इष्ट के नाम को इसी प्रकार आराध्य से अभिन्न मानले, यही तात्पर्य है। वैसे 'सोऽहं' में 'सः' परोक्ष का निर्देश करके 'अहं' के द्वारा उस परोक्ष से एकता सूचित करता है। वह बात प्रणव में नहीं है। प्रणव तो 'जाग्रत्-द्रष्टा, स्वप्न-द्रष्टा, सुषुप्ति-द्रष्टा तीनों मैं और मुझसे भिन्न कुछ नहीं; मैं ही तुरीयतत्त्व अमात्र परब्रह्म हूँ', इस प्रकार साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान कराता है।

साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर उपनिषद् का श्रवण करो। श्रवण करने पर भी-मुक्ति होती भी है या नहीं? ज्ञान से होती है या अन्य साधन से? मुक्ति होने पर हम जीव रहते हैं या ब्रह्म? आदि प्रकार का संशय रह जाय तो मनन करो। मनन करने पर भी मैं कर्ता-भोक्ता-संसारी हूँ, जीव हूँ, यह विपर्यय न मिटे तो निदिध्यासन करो। यदि श्रवण करने से ही संशय-विपर्यय मिट गये हों तो तुम श्रवण मात्र से कृतार्थ हो गये। अब तुम शोक से पार हो गये।

ये राग और द्वेष दोनों त्याज्य हैं।

एक बात और, वेदान्त विचार के समय कहीं ऐसा न हो कि आप कुछ शब्दों के जाल में ही उलझ जायं। विवेक, वैराग्य, अध्यास, प्रतीति आदि शब्दों को समझें और उनके अर्थ को अपनी बुद्धि में बैठाकर तत्त्व का विचार करें।

साधन चतुष्टय के दो साधन हो गये विवेक और वैराग्य। मुमुक्षा का अर्थ आप जानते ही हैं कि संसार में जो दुःख दीखता है, जन्म-मरण दीखता है, उससे छूटने की इच्छा। तीसरा साधन है साधन-सम्पत्ति। अब इसका विचार करें।

'शान्तो दान्तउपरस्ततितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।'

यह श्रुति कहती है। साधन-सम्पत्ति छः मानी गई हैं। इनमें से—

१. शान्त-इसका अर्थ है अपने मन को शान्त करो। अर्थात् मन में काम, क्रोध लोभादि की जो वृत्तियाँ है उनको दूर करो। क्योंकि मन में काम, क्रोधादि का आवेग होगा तो मन अशान्त रहेगा और तत्त्व का विवेक नहीं हो सकेगा।

२. दान्त-इसका अर्थ है कि इन्द्रियों को वश में करो। मन को शान्त रखना ही पर्याप्त नहीं है, इन्द्रियों को भी नियन्त्रण में रखो। शास्त्र-मर्यादा के प्रतिकूल भोग तो निषिद्ध हैं, उनकी चर्चा ही व्यर्थ है; किन्तु शास्त्र-विहित भोग में भी संयम रखो। अपने न्यायार्जित धन, अपनी पत्नी का भी उपभोग कम करो। इन्द्रियों को वश में करो।

३. उपरत अर्थात् बहुत प्रवृत्ति से उपराम होना चाहिये। मन शान्त है, इन्द्रियों से भोग भी कम करते हैं; किन्तु प्रवृत्ति बहुत है—कर्म बहुत करते हैं तो भी कहाँ अवकाश है तत्त्वविवेक के लिये। अतएव बहुत प्रवृत्ति भी छोड़नी चाहिये।

४. तितिक्षु—शरीर पर आये क्लेश सहन करने की शक्ति होनी चाहिये। क्योंकि सर्दी गर्मी आती ही रहेगी। अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलेगी ही। सदा अपने अनुकूल ही परिस्थिति रहे, यह हो नहीं सकता। प्रतिकूलता से व्याकुल हो जाओगे तो विचार नहीं रहेगा। अतएव प्रतिकूलता सह लेने की शक्ति चाहिये।

५. समाहित—मन में एकाग्रता हो। बहुत मनोराज्य न होता हो अन्यथा विवेक होगा ही नहीं। अतः चित्तवृत्ति शान्त रखो। सिद्धि-चमत्कार आदि की भी इच्छा मत करो।

६. श्रद्धा—परमार्थ के मार्ग में श्रद्धा पाथेय है। इस के बिना प्रगति नहीं हो सकती। शास्त्र एवं गुरु के वचनों में श्रद्धा होनी चाहिये। शान्त होने-काम क्रोध आदि की निवृत्ति के लिये, दान्त होने—इन्द्रिय संयम के लिये, उपरत होने के लिये, प्रवृत्ति को कम करने के लिये, तितिक्षु होने और समाहित होने के लिये श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा अभिमान को निवृत्त करती है। श्रुति कहती है—

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'

अर्थात् गुरु पर श्रद्धा करने वाला ही समझ सकता है। अप्राप्त अथवा अनुत्पन्न वस्तु की प्राप्ति या उत्पत्ति के लिये तो क्रिया एवं श्रम करना पड़ता है; किन्तु जो वस्तु नित्य-प्राप्त है, हमारे पास है, और हम उसे पहचानते नहीं हैं, उसको तो कोई बताने वाला ही चाहिये। उसकी प्राप्ति में न क्रिया आवश्यक है, न श्रम, न अभ्यास। वह तो किसी के बताने से मिलेगी। अतः 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' श्रुति ने कहा। इस मार्ग में तो गुरु पर श्रद्धा अवश्य ही होनी चाहिये।

ये षट्-सम्पत्ति हैं। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षा ये साधन-चतुष्टय वेदान्त ने माने हैं। भक्ति मार्ग में श्रीरामानुजाचार्यजी साधन-सप्तक कहते हैं १-विवेक २-विमोक ३-अभ्यास ४-कल्याण ५-क्रिया ६-अनवसाद और अनुद्धर्ष। इनमें से यहाँ विवेक का अर्थ तत्त्व-विचार नहीं है। विवेक का अर्थ भोजन का विवेक अर्थात् भोजन में स्वप्न-दोष, संसर्ग-दोषादि न हों, यह विचार रखना। विमोक-अनुचित वस्तुओं-असाधन का त्याग। अभ्यास-अपने ध्यान-मानसिक पूजनादि को करना। कल्याण-भगवान् के द्वारा ही अपना कल्याण मानना-भगवत्प्राप्ति में ही कल्याण समझना। क्रिया-पूजनादि की क्रियाओं को करते रहना। अनवसाद-अधिक दुःखी न होना। अनुद्धर्ष-सांसारिक भोगों को पाकर बहुत प्रसन्न न होना।

इस प्रकार 'मत्वा धीरो न शोचति' में 'धीर' पद का अर्थ है साधन-चतुष्टय सम्पन्न पुरुष। वह ओङ्कार का मनन करके, उसके सर्वव्यापी रूप को जानकर शोक से पार हो जाता है।

यहाँ ओङ्कार उपलक्षण है। प्रत्येक उपासक अपने इष्ट के नाम को इसी प्रकार आराध्य से अभिन्न मानले, यही तात्पर्य है। वैसे 'सोऽहं' में 'सः' परोक्ष का निर्देश करके 'अहं' के द्वारा उस परोक्ष से एकता सूचित करता है। वह बात प्रणव में नहीं है। प्रणव तो 'जाग्रत्-द्रष्टा, स्वप्न-द्रष्टा, सुषुप्ति-द्रष्टा तीनों मैं और मुझसे भिन्न कुछ नहीं; मैं ही तुरीयतत्त्व अमात्र परब्रह्म हूँ', इस प्रकार साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान कराता है।

साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर उपनिषद् का श्रवण करो। श्रवण करने पर भी-मुक्ति होती भी है या नहीं? ज्ञान से होती है या अन्य साधन से? मुक्ति होने पर हम जीव रहते हैं या ब्रह्म? आदि प्रकार का संशय रह जाय तो मनन करो। मनन करने पर भी मैं कर्ता-भोक्ता-संसारी हूँ, जीव हूँ, यह विपर्यय न मिटे तो निदिध्यासन करो। यदि श्रवण करने से ही संशय-विपर्यय मिट गये हों तो तुम श्रवण मात्र से कृतार्थ हो गये। अब तुम शोक से पार हो गये।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ २९ ॥

अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः । मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः । नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः । ओङ्कारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः । नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अमात्र तुरीय ओङ्कार है । जिससे माप किया जाय उसे मात्रा अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं; वह मात्रा जिसकी अनन्त हो वह 'अनन्तमात्र' कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि उसकी इयत्ता का परिच्छेद नहीं किया जा सकता । सम्पूर्ण द्वैत का उपशम स्थान होने के कारण वह शिव है । इस प्रकार व्याख्या जिसकी की गयी उस ओङ्कार को जिसने जाना, वही परमार्थ-तत्त्व का मनन करने के कारण मुनि है, दूसरा पुरुष नहीं—इसका तात्पर्य यह कि शास्त्रज्ञ होने पर भी दूसरे (मुनि) नहीं हैं ॥ २९ ॥

यहाँ तक के प्रतिपादित तत्त्व के ज्ञान की महिमा का वर्णन किया गया है । ओङ्कार को जानना अर्थात् अपने को सम्पूर्ण विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तुरीय वस्तु के रूप में जानना । कार्य-कारण-भाव को प्राप्त तीन पाद माया हैं और अपना वास्तविक रूप तुरीय कार्य-कारण-भाव से सर्वथा रहित है । कार्य-कारण-भाव स्फुरणा मात्र है, कल्पित है, अपने स्वरूप से भिन्न नहीं है, यह जानना ओङ्कार को जानना है । ऐसा जिसने जान लिया, उसकी महिमा इस कारिका में बताई गई है । ओङ्कार को जानना अर्थात् ओङ्कार से अभिन्न हो जाना, क्योंकि किसी वस्तु को तत्त्व से समझने-अनुभव करने का अर्थ ही उससे अभिन्न [illegible] है । अन्तःकरण [illegible] ता-
[illegible]वच्छिन्न-चैतन्य है, यह जब प्रमाता-[illegible] होकर प्रमेयाद[illegible] से
एक होता है, तब इस प्रमेय को जान[illegible] किसी से पृथक् [illegible] और

ज्ञान में देश, काल, वस्तु का भेद नहीं है। सत्–असत्, सुख–दुःख, ज्ञान–अज्ञान, सबका प्रकाशक ज्ञान है, अतः ज्ञान में इन सबका कोई भेद नहीं है। अतः आपको यह जो 'घट' का ज्ञान है–यही ज्ञान ब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ अनन्त। अपने ज्ञान में से घट, पट आदि विषयों को हटाकर देखो। यही ज्ञान जिससे संसार प्रतीत हो रहा है, जिसको प्रतीत हो रहा है, वही ब्रह्म है। ज्ञान में परोक्ष–अपरोक्ष का भेद नहीं है। वह तो साक्षात् अपरोक्ष है। भेद जितना भी है प्रकाश्यनिष्ठ है। प्रकाशकनिष्ठ भेद नहीं है। समाधि और विक्षेप का भेद जो जानता है, उस ज्ञान में भेद नहीं है। वस्तु–भेद से, द्रव्य–भेद से, विषय–भेद से, कर्ता–भेद से, काल–भेद से, देश–भेद से, इन्द्रिय–भेद से जो भेद होते हैं वे दृश्य में ही होते हैं। ज्ञान तो एकरस अखण्ड है। पदार्थ का पदार्थ से, जीव का जगत् से, जीव का जीव से और जीव का ईश्वर से जो भेद प्रतीत होता है, वह भेदमात्र ज्ञान से प्रतीत होता है। अतः ज्ञान में नहीं है। अतः ओङ्कार को जानने का अर्थ आत्मा–अनात्मा के भेद को जानना नहीं है। ज्ञान में आत्मा–अनात्मा का भेद नहीं है। ओङ्कार को जानने का अर्थ है ज्ञानस्वरूप में स्थिति। ओङ्कार को जानने का अर्थ है अविद्या की निवृत्ति। ओङ्कार का जानने का अर्थ है जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति, विश्व–तैजस–प्राज्ञ, ब्रह्मा–विष्णु–महेश, ज्ञाता ज्ञान–ज्ञेय आदि समस्त त्रिपुटियों को मायामात्र–स्फुरणमात्र समझ लेना और ज्ञानस्वरूप तुरीय अधिष्ठान जो अपना स्वरूप है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं, इसे समझ लेना। ओङ्कार को जानने का अर्थ है अमात्र तुरीय को जानना।

वह अमात्र तुरीय तत्त्व अनन्तमात्र है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का परिच्छेद नहीं किया जा सकता। जो द्वैत की उपशान्ति है–अद्वैत है। अद्वैत होने से वह शिव है–कल्याणस्वरूप ही है। अमंगल–अशिव–अकल्याण की गन्ध भी उसमें नहीं। इस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म को जिसने जाना उसने ओङ्कार को जाना। इस प्रकार ओङ्कार को जानने वाला मुनि है। जैसे वसिष्ठ, व्यास, शुकदेव आदि मुनि हैं। वह स्वयं–प्रकाश ब्रह्मस्वरूप है, वही परमकाम्य जगत् है। शब्द के द्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह वाच्य ब्रह्म ज्ञानी है और वाचक भी ब्रह्मज्ञानी है। परमात्मा में स्थित हुए, अपने आपको परमात्मा के रूप में जानने वाले ब्रह्मज्ञानी के अतिरिक्त और कुछ दूसरी वस्तु नहीं है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी स्वयं परमेश्वर है—ब्रह्म ही है।

चौंकने जैसी कोई बात नहीं है। भक्ति सिद्धान्त में भी यही बात मानते हैं, कि भक्त भगवान् का स्वरूप ही होता है—

"तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्।"—नारद भक्ति सूत्र।

"भगति भगत भगवंत गुरु चतुनाम वपु एक।"

दूसरे लोगों ने भले ही सारे वेद शास्त्र कंठस्थ कर लिये हों, किन्तु जब तक उन्होंने अपने प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप को ब्रह्म से अभिन्न नहीं जाना, तब तक वे मुनि नहीं हैं। तब तक वे परमानन्दस्वरूपता को प्राप्त कर कृतकृत्य नहीं हो सकते।

यह माण्डूक्योपनिषद् का आगम प्रकरण है। माण्डूक्य उपनिषद् में कुल १२ मन्त्र हैं और उन पर आगम प्रकरण में ये २९ कारिकायें हैं। बहुत से आचार्यों ने इन २९ कारिकाओं को श्रुति ही माना है। शाङ्कर सम्प्रदाय के मानते हैं कि उपनिषद् के १२ मन्त्र हैं और उन पर ये २९ तथा आगे की भी सब कारिकायें श्रीगौड़पादाचार्य की हैं; किन्तु दूसरे सम्प्रदायों के अनेक आचार्य गण मानते हैं कि आगे की कारिकायें श्रीगौड़पादाचार्य की हैं, किन्तु ये २९ कारिकायें श्रुति हैं। यह पद्य भाग भी वस्तुतः उपनिषद् ही है। उपनिषद् का गद्य भाग स्मरण नहीं रह सकता, इसीलिये गद्य भाग ही इस पद्य भाग के रूप में रखा गया है।

माण्डूक्योपनिषद् के १२ मन्त्र और उन पर २९ कारिकाओं के रूप में आगम प्रकरण सम्पूर्ण हो गया। इसमें ओङ्कार के विवेचन के द्वारा तत्त्व का रूप से विवेचन किया गया है। संसार-सागर से जो पार होना चाहते हैं, उनके लिये यह माण्डूक्योपनिषद् पर्याप्त है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

यह माण्डूक्योपनिषद् का आगम प्रकरण है। माण्डूक्य उपनिषद् में कुल मन्त्र हैं और उन पर आगम प्रकरण में ये २६ कारिकायें हैं। बहुत से आचा इन २६ कारिकाओं को श्रुति ही माना है। शांकर सम्प्रदाय मे मानते हैं कि उपनिष १२ मन्त्र हैं और उन पर ये २६ तथा आगे की भी सब कारिकायें श्रीगौड़पादाचार्य हैं; किन्तु दूसरे सम्प्रदायों के अनेक आचार्य गण मानते हैं कि आगे की कारिका श्रीगौड़पादाचार्य की हैं; किन्तु ये २६ कारिकायें श्रुति हैं। यह पद्य भाग भी उपनिषद् ही है। उपनिषद् का गद्य भाग स्मरण नहीं रह सकता, इसीलिये गद्य भा ही इस पद्य भाग के रूप में रखा गया है।

माण्डूक्योपनिषद् के १२ मन्त्र और उन पर २६ कारिकाओं के रूप आगम प्रकरण सम्पूर्ण हो गया। इसमें ओङ्कार के विवेचन के द्वारा तत्त्व रूप से विवेचन किया गया है। संसार-सागर से जो पार होना चाहते हैं, उनके यह माण्डूक्योपनिषद् पर्याप्त है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!